Hindi ke Ritikalin-Alankar-Grantho per Sanskrit ka Prabhav

हिन्दी के
रीतिकालीन - अलंकार - ग्रन्थों पर
संस्कृत का प्रभाव

[आगरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध]

Kundan Lal Jain

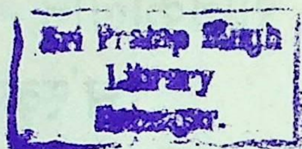
डॉ० कुन्दनलाल जैन

बरेली कालेज, बरेली

१९६४

साहित्य - निकेतन

बरेली



प्रकाशक : साहित्य निकेतन, बरेली

मुद्रक : भारत प्रेस, काशीपुर

प्रथम संस्करण : १९६४

मूल्य : सोलह रुपया

समर्पण

जिनकी प्रेरणा से ही

प्रस्तुत ग्रन्थ

इस रूप में बन सका

उन्हीं

पूज्य स्वर्गीय श्री श्रीधर जी पन्त

के

कर-कमलों

में

सादर समर्पित

सम्मति

डा० कुन्दनलाल जैन का पी० एच० डी० का शोध-प्रबन्ध "हिन्दी के रीतिकालीन अलंकार ग्रन्थों पर संस्कृत का प्रभाव" पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रहा है, यह देख कर प्रसन्नता हुई। मैं उनके शोध-प्रबन्ध का एक परीक्षक था। उस समय मुझे उसे आद्यन्त पढ़ने का अवसर मिला था। प्रस्तुत पुस्तक में विवेचन की शैली बहुत कुछ आधुनिक है। इसकी विवेचित वस्तु साहित्यिक अध्ययन के लिये आवश्यक और महत्वपूर्ण है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक पाठक-समाज द्वारा समादृत होगी।

१७-४-६४

नन्ददुलारे वाजपेयी

अपनी ओर से

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का श्रेय स्वर्गीय श्रीधर पन्त जी को ही है जिनकी प्रेरणा से ही मैं इस ग्रन्थ की सर्जना करने में समर्थ हो सका। उन्होंने इस ग्रन्थ को पुस्तक रूप में लाने के लिए जिस लगन और श्रम से मेरा मार्ग-दर्शन किया है, उसका मूल्यांकन करना मेरी सामर्थ्य से परे है। इसके लिए मैं पंडित जी का चिरऋणी हूँ। उनकी श्रेयस् भावना को मैं कभी भी विस्मरण नहीं कर सकता।

ग्रन्थ के शोधन, परिवर्धन और परिवर्तन करने में हमारे डॉ० गुणानन्द जी जुयाल, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, तथा प्रो० भोलानाथ शर्मा, अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली का भी बड़ा हाथ रहा है। समय समय पर अपना सत्परामर्श देकर उन्होंने जो मेरी सहायता की है, उसके लिए मैं उक्त दोनों वयोवृद्ध सज्जनों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

ग्रन्थ को पूर्ण करने में मुझे नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी, साहित्य-संग्रहालय, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, श्री मिश्र जी सिधौली (सीतापुर) तथा डा० ब्रजकिशोर लखनऊ विश्वविद्यालय से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ जिनके विवेचन के आधार पर ही यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका है, वहीं से प्राप्त हो सके हैं। अतएव उक्त संस्थाओं एवं साहित्य-प्रेमी सज्जनों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकता।

उन ग्रन्थ-कर्ताओं को भी मैं विस्मरण नहीं कर सकता जिनके ग्रन्थों से मैंने बहुत कुछ सहायता ली है, और अनेक उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

अन्त में ग्रन्थ के लिखित तथा टाइप किए रूप का संशोधन करने में मेरे बच्चों ने जो सहयोग दिया है और परिश्रम किया है, उसके लिए मैं उनकी सराहना करना भी आवश्यक समझता हूँ।

जं। भवन.
रामपुर बाग रेली
२७-५-६४

—लेखक

विषयानुक्रमणिका

विषय—विश्लेषण

निष्कर्ष

● ● ●

भूमिका

असाधारण एवं गूढ़ गहन भावों की अभिव्यक्ति के लिए जब भाषा असमर्थ हो जाती है, तब कवि प्रतीकों अथवा उपमानों का आश्रय लेता है। किन्तु श्रेष्ठ कवि की कविता में ये प्रतीक या उपमान अनायास ही, बिना किसी प्रयत्न के, प्रयुक्त हो जाते हैं। उनके प्रयोग में श्रेष्ठ कवि को परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही कारण है कि उसकी कविता में स्वभाविकता बनी रहती है, अस्वाभाविकता नहीं आने पाती। परिश्रम पूर्वक खोज-खोज कर उपमान आदि का प्रयोग करने से तो कविता की नैसर्गिकता को बड़ा व्याघात पहुंचता है और उसमें एक प्रकार की कृत्रिमता आजाने से कविता का प्रभाव एवं आकर्षण ही समाप्त हो जाता है। इन उपमानों के सहज प्रयोग से कविता की भाषा एवं भावों में शोभा-वृद्धि होती है जिससे सहृदय पाठकों के हृदय पर कविता अपना अमिट प्रभाव डाले बिना नहीं रहती। ऐसे ही उपमान आदि उपकरणों को काव्य शास्त्र में अलंकार की संज्ञा दी जाती है।

ये अलंकार कविता के लिए यद्यपि अनिवार्य नहीं हैं, कविता के स्वयं साध्य नहीं हैं, केवल उसका उत्कर्ष करने वाले साधनमात्र हैं, तथापि अलंकारों की उपेक्षा भी किसी प्रकार संभव नहीं है। क्योंकि वे किसी न किसी रूप में कविता में अपना स्थान बना ही लेते हैं। यह ठीक है कि अलंकारों के अभाव में भी रसमय कविता की सृष्टि हो सकती है, तथापि कविता में रसवन्ता के अतिरिक्त यदि सहज स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग अनायास रूप में होता है उससे 'सोने में सुगन्ध' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। इसी कारण कविता में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक अवश्य है।

इन अलंकारों का प्रयोग वैदिक काल से ही देखने में आता है। मध्यकाल में तो इनका प्रयोग अत्यधिक मात्रा में दिखाई पड़ता है। हिन्दी की रीतिकालीन कविता अलंकार-चमत्कार से ही भरी हुई है। परन्तु वहाँ अलंकारों के प्रयोग की अति हो गई है जिससे उस युग की कविता में पाठक को अवाक् बना देने की क्षमता तो है पर उसके हृदय को आनन्दमग्न अथवा तन्मय करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। यही कारण है कि आज का आलोचक कविता में अलंकारों को विशेष महत्व नहीं देता। फिर भी काव्य के अलंकरण की यह प्रवृत्ति आज भी किसी न किसी रूप में बनी हुई है। अतः मनीषी आलोचकों ने साहित्य का गहन अध्ययन करने के पश्चात् उन अलंकारों के विषय में ही एक पृथक साहित्य का सृजन कर डाला जो अलंकार-शास्त्र

के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार के साहित्य का विशाल भंडार विद्यमान है। अलंकारों को लेकर हमारे प्राचीन आचार्यों में बड़ा मत-वैभिन्न्य रहा है। फलस्वरूप 'अलंकार-सम्प्रदाय' (School of अलंकार) सत्ता में आ गया था, जो अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत तत्व मानने लगा था। परन्तु बड़े वाद-विवाद, शास्त्रार्थ एवं ऊहापोह के पश्चात् साहित्य मर्मज्ञ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये अलंकार कविता के साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। आज कविता के क्षेत्र में अलंकार-विषयक यही मत सर्वमान्य है। इससे यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि अब अलंकारों का प्रयोग समाप्त हो गया है। किसी न किसी रूप में, अनिवार्य रूप में अथवा साध्य रूप में न सही, काव्य में उन्हें स्थान मिलता रहा है और आज भी वर्तमान में उनकी स्थिति देखी जा सकती है। अतः अलंकार विषयक ज्ञान किए बिना साहित्य का अध्ययन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। साहित्य के मर्म को समझने, हृदयंगम करने के लिए अलंकारों का अध्ययन भी उतना ही आवश्यक है, जितना साहित्य के प्राणभूत तत्व रस का।

अलंकार पर संस्कृत में पर्याप्त विवेचन किया गया है। आचार्य भामह से लेकर जयदेव तक अनेक आचार्यों ने अनेक अलंकार-ग्रन्थों का सृजन किया, जिनका अध्ययन अलंकार-प्रेमी साहित्य-जिज्ञासुओं के लिए परमावश्यक है। हिन्दी में भी भक्तिकाल में काव्य का पर्याप्त सृजन हो जाने पर हिन्दी शास्त्रियों ने अलंकारों के अध्ययन को सुलभ बनाने के लिए तत्सम्बन्धी साहित्य की सृष्टि की जिस के फलस्वरूप संस्कृत की भांति हिन्दी में भी अलंकार-ग्रन्थों की भरमार पाई जाती है। रीतिकाल में तो अलंकार-ग्रन्थ-सृजन की परम्परा बन गई थी। अलंकार-ग्रन्थ लिखे बिना तो उस युग में अच्छे से अच्छे कवि को भी समाज में प्रतिष्ठा ही प्राप्त नहीं होती थी। यही कारण है कि वीर-रस के प्रसिद्ध कवि भूषण जैसे कवियों को भी प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा पाने के लिए रीतिग्रन्थ की रचना करनी पड़ी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस युग में तत्कालीन परिस्थतियों के कारण अलंकार-ग्रन्थों का सृजन पर्याप्त मात्रा में हुआ, जिनमें से अनेकों ग्रन्थ तो आज भी अमुद्रित अवस्था में, पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़े हुए हैं।

परन्तु हिन्दी का काव्यशास्त्र प्रायः संस्कृत का उपजीवी रहा है। क्योंकि हिन्दी में रचना करने वाले आचार्य प्रायः संस्कृतज्ञ थे और उन पर संस्कृत साहित्य की अमिट छाप विद्यमान थी। फलतः उन्होंने संस्कृत के अनुकरण में ही हिन्दी काव्य-शास्त्रों का निर्माण किया। हिन्दी आचार्यों में ऐसी मौलिक प्रतिभा नहीं थी जिससे वे संस्कृत से भिन्न मौलिक अलकार शास्त्रों की रचना करते। यथार्थतः तो यही है कि हमारे हिन्दी अलंकारियों में उस आचार्यत्व शक्ति का अभाव रहा जिसकी सहायता से ऐसे मौलिक ग्रन्थों की रचना संभव होती है जिनमें नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन, अथवा प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन शास्त्रीय पद्धति पर होता है।

अतः हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थ भी अन्य काव्यशास्त्रों की भांति संस्कृत से प्रभावित रहे हैं। यह एक ऐसा तथ्य है जिसके विषय में दो मत नहीं हो सकते।

अतः एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता बनी हुई थी जिसके द्वारा हिन्दी और संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों का सम्पूर्ण रूप में तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता, यद्यपि एक दो फुटकल ग्रन्थ इस विषय पर लिखे जा चुके थे। डा० जैन ने अपने सत्प्रयत्न से प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध द्वारा इस कमी को पूरा कर दिया है, जिसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं। विद्वान लेखक ने इस प्रबन्ध में अनेक नवीन अप्रकाशित ग्रन्थों की विवेचना करके उन्हें प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। ग्रन्थ में विषय का विवेचन वैज्ञानिक पद्धति पर किया गया है, जिससे ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को चार भागों में विभाजित किया गया है प्रथम भाग में अलंकार के स्वरूप, भेद-प्रभेद, संख्या काव्य में अलंकार का महत्व आदि विषयों की चर्चा भूमिका के रूप में की गई है। द्वितीय भाग में साहित्य के प्रसिद्ध पांच सिद्धान्तों एवं साहित्य सृजन में उनका योग और प्रभाव दिखाया गया है। तृतीय खण्ड में विषय का प्रतिपादन तुलनात्मक रूप में हुआ है। जिसमें हिन्दी के अनेक अलंकार-ग्रन्थों की आलोचना, विवेचना की गई है। अन्त में उपसंहार रूप में प्रबन्ध का संक्षिप्त सार देकर निष्कर्ष निकाले गए हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में शास्त्रीय पद्धति पर वैज्ञानिक ढंग से विषय का प्रतिपादन किया गया है। अधिक अध्ययन करने के पश्चात् मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि साहित्यशास्त्र के जिज्ञासुओं को अलंकार सम्बन्धी और भी गवेषणा करने में यह प्रबन्ध अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा।

गुणानन्द जुयाल

अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
बरेली कालिज,
बरेली

संकेत-विवरण

अ० चं०	अलंकार-चन्द्रोदय
अ० द०	अलंकार दर्पण
अ० म० मं०	अलंकार मणि मंजरी
अ० मा०/अलं०मा०	अलंकार माला
अ० र०	अलंकार रत्नाकर
अ० शे०	अलंकार शेखर
अ० स०	अलंकार सर्वस्व
औ० वि० च०	औचित्य विचार चर्चा
क० कु० कं०	कवि कुल कण्ठाभरण
क० कु० क०	कवि कुल कल्पतरु
क० प्रि०	कवि प्रिया
कर्णा०	कर्णाभरण
क० र० वि०	कविता रस विनोद
का० अ०	काव्यालंकार
का० आ०	काव्यादर्श
का० नि०	काव्यनिर्णय
का० प्र०	काव्य प्रकाश
का०/का० भ०	काव्याभरण
का० मी०	काव्य-मीमांसा
का० स०	काव्य सरोज
का०अ०सू०	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
कुवल०	कुवलयानन्द
चं०	चन्द्रालोक
चे० चं०	चेत-चन्द्रिका

दी० प्र०	दीपप्रकाश
ध्व० आ०	ध्वन्यालोक
प्र० रु० य० भू०	प्रतापरुद्रयशोभूषण
भा० भ०	भाषाभरण
भार० भू०	भारती भूषण
भा० भू०	भाषाभूषण
भा० वि०	भावविलास
भू० दा०	भूषणदास
र० अ०	रघुनाथ अलंकार
र० ज०	रघुवीर जसायन
र० पी० नि०	रस-पीयूष-निधि
र० मो०	रसिक मोहन
र० र०	रस रहस्य
र० रसा०	रसिक रसाल
रू० वि०	रूप विलास
ल० ल०	ललित ललाम
व० जी०	वक्रोक्ति जीवितम्
श० र०	शब्दरसायन
शि० भू०	शिवराज भूषण
शृं० च०	शृंगार चरित्र
स० कं० भ०	सरस्वती कण्ठाभरण
सा० सु० नि०	साहित्य-सुधा-निधि
सा० द०	साहित्य दर्पण

प्रस्तुत प्रयत्न :

अलंकार काव्य का उत्कर्ष करने वाले साधनों में एक हैं। अतः अलंकार काव्य के लिए अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक अवश्य हैं। यद्यपि आज के युग में अलंकार को उतनी महत्ता नहीं दी जाती है जितनी हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में दी जाती थी। तथापि आज भी कविता में अलंकारों का प्रयोग होता हुआ देखा जाता है, भले ही यह प्रयोग अनायास रूप में होता हो। अतः अलंकारों का अध्ययन हमारे लिए परम आवश्यक हो जाता है। उनके अध्ययन के बिना साहित्य का ज्ञान पूर्ण नहीं कहा जा सकता। कोई भी व्यक्ति अलंकारों का ज्ञान किए बिना सम्पूर्ण साहित्यिक नहीं हो सकता।

हिन्दी साहित्य में अलंकार विषयक ग्रन्थों का अभाव नहीं है। रीतिकाल में तो ऐसे ग्रन्थों की एक परम्परा ही बन गई थी और उस परम्परा के अनेकों ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित ही पड़े हैं। इस कारण उन ग्रन्थों की पूर्ण जानकारी सर्व-सुलभ नहीं है। साहित्य - सम्बन्धी इतिहासों में भी उनके विषय में पूर्ण विवरण नहीं मिलता है। और जो विवरण उपलब्ध भी है, वह किसी साहित्यिक जिज्ञासु की जिज्ञासा को शान्त करने के लिये पर्याप्त नहीं है।

साथ ही आज के युग में साहित्यिक मनीषी और मीमांसक किसी वस्तु के बाह्य ज्ञान मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता है। वह तो उस विषय के अन्तस् तक पहुँच कर उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी चाहता है। इसके लिए वह तद्विषयक आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन भी करना चाहता है। यही बात अलंकार के विषय में भी कही जा सकती है।

अलंकारों के विषय में अभी तक हिन्दी में कोई आलोचनात्मक ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इस दिशा में डा० रामशंकर शुक्ल रसाल और डा० ओम् प्रकाश के प्रयत्न अवश्य सराहनीय हैं, और उन्होंने इस विषय का आलोड़न विलोड़न भी किया है, परन्तु फिर भी बहुत कुछ कहने को शेष रह ही जाता है। यह कहते हुए तो अनेकों विद्वानों को सुना जाता है कि हिन्दी का अलंकार साहित्य संस्कृत से प्रभावित है, परन्तु यह बताने का किसी ने भी विस्तृत प्रयास नहीं किया कि वह किस रूप में और कहाँ तक प्रभावित है, इसी अभाव की पूर्ति के लिए मैंने यह स्वल्प प्रयत्न किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में अलंकार सम्बन्धी विस्तृत जानकारी देने के अतिरिक्त

उपलब्ध अलंकार - ग्रंथों का समालोचनात्मक विश्लेषण किया गया है, और साथ ही संस्कृत ग्रंथों से उनकी तुलना करके उनका प्रभाव कहाँ तक है यह भी दिखाने का भरसक प्रयास किया गया है जिससे स्पष्ट हो सके कि हिन्दी - अलंकार - ग्रन्थ हिन्दी आचार्यों की मौलिक देन नहीं है।

इस प्रबन्ध में कुछ नवीन ग्रन्थों का भी, जो हस्तलिखित ग्रन्थों के रूप में ही उपलब्ध हैं और जिनके विषय में अन्यत्र भी कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है, विश्लेषण किया गया है। बूंदी नरेश रघुवीर सिंह के आश्रित जगन्नाथ कवि का 'रघुवीर जसायन', खण्डन काइस्थ का 'भूषणदाम', जनराज का 'कविता-रस-विनोद', लीलाधर कवि का 'काव्योदय', तथा सरदार कवि का 'साहित्य-सुधा-निधि' आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। सूरति मिश्र की जिस 'अलंकार-माला' पुस्तक का विवरण हमें इतिहास में मिलता है, उससे भिन्न 'अलंकार-माला' की विवेचना यहाँ की गई है। यह भी सूरति कवि की ही रचना है। सम्भव है यह सूरति कवि सूरति मिश्र से भिन्न कोई दूसरे कवि रहे हों। इस पुस्तक में रचनाकाल न दिए जाने के कारण किसी ठोस निर्णय पर पहुँचना सम्भव नहीं है। दुर्भाग्य से इस 'अलंकार-माला' की जो प्रति मुझे देखने को मिल सकी वह अपूर्ण ही है। अतः मैं इन दोनों ग्रन्थों के विषय में पूर्ण निश्चय पर पहुंचने में समर्थ न हो सका।

प्रस्तुत प्रबन्ध को वि० सं० १७०० से १९०० तक ही सीमित रक्खा गया है, अन्यथा प्रबन्ध के बहुत अधिक विस्तृत हो जाने की संभावना थी। इन दो सौ वर्षों के भीतर ही इतने अधिक अलंकार-ग्रन्थों की रचना हुई कि प्रत्येक का विवरण देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है और सभी ग्रन्थ उपलब्ध भी तो नहीं हैं। अतः जो ग्रंथ उपलब्ध हो सके उन्हीं की आलोचना यहां सम्भव हो सकी; फिर इनमें कई ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें केवल परम्परा का पालन भर किया गया है और जिनका साहित्यिक दृष्टि से अथवा आचार्यत्व की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है, ऐसे ग्रन्थों के विषय में संक्षेप में ही विवेचना प्रस्तुत की गई है; पर जो ग्रन्थ महत्वपूर्ण प्रतीत हुए उनकी विस्तार के साथ मीमांसा की गई है। हां, संस्कृत का प्रभाव सभी ग्रन्थों के विवेचन में दिखाने का प्रयास किया गया है। अन्त में ग्रंथों के विश्लेषण का निष्कर्ष दिखाते हुए उन अलंकार ग्रन्थों और ग्रंथकारों की विशेषताओं को भी व्यक्त किया गया है जिनसे हिन्दी अलंकार-ग्रंथों का स्वरूप सामने आ जाता है।

इस प्रकार इन अलंकार ग्रंथों के अध्ययन द्वारा उनकी पूर्ण जानकारी प्राप्त करने और संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों के साथ उनके तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध उपयोगी सिद्ध हो सकेगा – इसी आशा के साथ शोध-प्रबन्ध के रूप में मैंने यह सीमित प्रयास किया है।

—लेखक

अलंकार शब्द का अर्थ

व्यापक अर्थ :—

प्राचीन काल में अलंकार शब्द अपने व्यापक अर्थ में प्रचलित था। अलंकार शब्द के अर्थ की इस व्यापकता के कारण ही हमारा काव्य-शास्त्र पहले अलंकार-शास्त्र के नाम से अभिहित होता था। अलंकार के आदि आचार्य भामह से लेकर उद्‌भट, वामन तथा रुद्रट आदि आचार्यों तक के ग्रन्थों के नामकरण से इस बात का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। यद्यपि इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में अलंकार के अतिरिक्त रीति, गुण और दोष आदि का भी विवेचन किया है, पर उनके नाम अलंकार पर ही रक्खे गये हैं। जैसे भामह के ग्रन्थ का नाम है-'काव्यालंकार'। उद्‌भट का-'काव्यालंकार-सार-संग्रह,' इसी प्रकार वामन और रुद्रट के ग्रन्थों के नाम भी 'काव्यालंकार' ही हैं। यद्यपि दण्डी का ग्रन्थ 'काव्यादर्श' अलंकार पर आश्रित नहीं है तथापि उन्होंने अलंकार को काव्य का आवश्यक उपकरण माना है। इस युग में अलंकार को काव्य की आत्मा माना जाता था। इस कारण काव्य-शास्त्र के इतिहास में अलंकार-युग अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्वपूर्ण रहा है। इसी से 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' की उत्पत्ति हुई और साथ ही दीपक, पर्यायोक्ति, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के द्वारा ध्वनि का सिद्धान्त भी उद्‌भूत हुआ। वक्रोक्ति-सिद्धान्त के अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अलंकार पर ही अपने ग्रन्थ का नाम 'वक्रोक्ति जीवितम्' रक्खा।

इस युग में अलंकार शब्द का अर्थ शब्द और अर्थ के चमत्कार-विधायक अर्थ में ही प्रयुक्त न होकर काव्य के सभी शोभा-विधायक धर्मों के अर्थ में प्रचलित था। आचार्य दण्डी ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार लिखी है :—
"काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"। अर्थात् काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

वामन ने अलंकार शब्द के अभिप्राय को और भी अधिक महत्व प्रदान किया। अलंकार उनकी दृष्टि में काव्य का मूलभूत तत्व है। उनके लिए तो वह सौन्दर्य का ही प्रतीक है। अपने काव्यालंकार में उन्होंने 'सौन्दर्यमलंकारः' कह कर स्पष्ट ही लिख दिया है। काव्य के सौन्दर्य विधायक जितने भी तत्व हैं — दोषों का अभाव और गुणों का सद्‌भाव आदि — जिनके द्वारा अन्य प्रकार के शब्दार्थों से काव्य की विशिष्टता सिद्ध होती है—उन सबको अलंकार की ही संज्ञा दी गई है। वस्तुतः वामन ने इस अलंकार शब्द को अत्यधिक महत्व देकर उसे अत्यन्त व्यापक बनाया और इस प्रकार वह सौन्दर्य-शास्त्र का प्रतिनिधि ही माना जाने लगा।

अधिक संगत प्रतीत होता है। इस अर्थ के अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधन मात्र है। वह शब्द अर्थ के सौन्दर्य में अभिवृद्धि करते हुए भी उनका अस्थिर धर्म है, वह काव्य का सहज एवं अनिवार्य गुण नहीं है क्योंकि अलंकार के बिना भी उत्तम काव्य की रचना हो सकती है।

अलंकारों का श्रेणी-विभाग और उसका आधार

अलंकारों को तीन श्रेणियों में बांटा जाता है– १–शब्दालंकार २–अर्थालंकार और ३–उभयालंकार। जिनके द्वारा शब्दों में चमत्कार उत्पन्न होता है उन्हें शब्दालंकार, जो अर्थ की सुन्दरता बढ़ाते हैं उन्हें अर्थालंकार और जिनसे शब्द एवं अर्थ दोनों की शोभावृद्धि होती है उन्हें उभयालंकार कहते हैं।

इस श्रेणी-विभाजन का आधार 'अन्वय-व्यतिरेक' का सिद्धान्त है। जिसके रहने पर जो रहे उसे अन्वय और जिसके न होने पर जो न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं। जो अलंकार शब्द, अर्थ अथवा शब्दार्थ में जिस किसी के अन्वय और व्यतिरेक (सद्भाव एवं अभाव) का अनुसरण करता है, उसे उसी शब्द, अर्थ या शब्दार्थ का अलंकार मानना चाहिये।

मम्मट के अनुसार तो 'अन्वय व्यतिरेक' के अतिरिक्त अन्य कोई सिद्धान्त इस श्रेणी-विभाजन में कार्यकर ही नहीं हो सकता। यथा हि :—

"काव्ये दोषगुणालंकाराणां शब्दार्थोभयगतत्वेन व्यवस्थाया—मन्वयव्यतिरेकावेव प्रभवतः निमित्तान्तरस्याभावात्। ततश्च योऽलंकारो यदीयान्वय-व्यतिरेकावनुविधत्ते स तदलंकारो व्यवस्थाप्यते इति।"[1]

काव्य में दोषगुण और अलंकारों की व्यवस्था में उनके शब्दगत, अर्थगत या उभयगत होने से अन्य कारणों के अभाव में 'अन्वय व्यतिरेक' का सिद्धान्त ही कार्य करता है और जो अलंकार शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ में जिस किसी के अन्वयव्यतिरेक का अनुसरण करता है वह उसी शब्द आदि का अलंकार होता है।

अतः मम्मट के अनुसार अनुप्रासादि शब्दालंकार, उपमा आदि अर्थालंकार और पुनरुक्तवदाभास, परम्परित रूपक आदि उभयालंकार हैं। पुनरुक्तवदाभास आदि उभयालंकार शब्द और अर्थ दोनों के अन्वय और व्यतिरेक का अनुसरण करते हैं इस कारण वे शब्दार्थोभयनिष्ठ हैं। देखिए :—

"तनुवपुरजघन्यो सो करिकुन्जररुधिररक्तखरनखरः" ॥३६१ का० प्र०

अर्थात् यह हरिः (सिंह) तनुवपु (कृशकाय) होते हुए भी अजघन्य (अमित बलशाली) है। हाथियों के रुधिर से लाल-लाल तेज नाखूनों वाला है। यहाँ तनु, कुंजर और रक्त शब्दों में परिवर्तन कर देने से अलंकार का चमत्कार

१—काव्य प्रकाश—शशिकला हिन्दी व्याख्या सहित—वृत्ति भाग पृ० ४५२

समाप्त हो जायेगा, अतः यह शब्दनिष्ठ है, परन्तु यदि वपु, करि और रुधिर शब्दों के स्थान पर उनके पर्यायवाची शब्द रख भी दिए जायें तो भी यहाँ अलंकार-सौन्दर्य नष्ट नहीं होगा, अतः यहां यह अलंकार अर्थनिष्ठ हैं। इसी दृष्टि से पुनरुक्तवदाभास को उभयगत माना गया है।

उद्भट ने भी इस अलंकार को अपने 'काव्यालंकार सार संग्रह' में स्थान दिया है। परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट उल्लेख नहीं किया कि वह शब्दगत अलंकार है या उभयगत।

इस प्रकार उभयगत होते हुए भी 'पुनरुक्तवदाभास' को शब्दालंकार की श्रेणी में ही स्थान दिया गया है क्योंकि यहाँ अर्थचमत्कार की अपेक्षा शब्द-चमत्कार अधिक है। परम्परित रूपक और अर्थान्तिरन्यास आदि भी यद्यपि अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दार्थोभयनिष्ठ ही हैं, पर उनमें अर्थवैचित्र्य की प्रतीति विशेष रूप से चमत्कारोत्पादक है, अतः उन्हें अर्थालंकारों में स्थान दिया गया है। प्रयोजन यह कि अन्वयव्यतिरेक के आधार पर अलंकारों का विभाजन करने पर भी मम्मट चमत्कार को प्रधानता देते हैं।

रुय्यक ने इस विभाजन का आधार 'आश्रयाश्रयिभाव' बताया है। "लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ नु सत्कार्यत्वे प्रयोजकौ। न तदलंकारत्वे। तदलंकार प्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकार-त्वप्रसंगात्। तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरन्तनमतानुसृतिरिति"।[१]

अर्थात् जो अलंकार शब्द, अर्थ या शब्दार्थ में से जिस पर आश्रित होगा उसे उसी का (शब्द आदि का) अलंकार मानना चाहिए।

अन्वय व्यतिरेक को अलंकार का प्रयोजक मान लेने पर श्रौती उपमा शब्दालंकारान्तर्गत ही मानी जायगी (पर उसे अर्थालंकार माना गया है)। अतः आश्रयाश्रयिभाव ही से अलंकारों का विभाग संभव है। अन्वय व्यतिरेक इस विभाजन का आधार नहीं हो सकता।

भोजराज ने भी अलंकार-विभाजन में 'आश्रयाश्रयिभाव' के सिद्धान्त को ही मान्यता दी है। इसी आधार पर उन्होंने उपमा आदि २४ अलंकारों को उभयालंकार बताया है।

परन्तु मम्मट ने इस 'आश्रयाश्रयिभाव' का खण्डन करते हुए लिखा है "योऽलंकारो यदाश्रितः स तदलंकार इत्यपि कल्पनायां अन्वयव्यतिरेकावेव समा-श्रयितव्यौ। तदाश्रयान्तरेण विशिष्टाश्रयाश्रयिभावस्याभावादित्यलंकाराणां यथोक्त-निमित्त एव परस्पर व्यतिरेको ज्यायान्"।[२]

१—रुय्यक कृत अलंकारसर्वस्व काव्यमाला पृ: २५७

२—काव्य प्रकाश शशिकला व्याख्या समेत—पृ० ४५३—४५४

अर्थात् आश्रयाश्रयिभाव की कल्पना में भी अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उपस्थित रहता है। अन्वयव्यतिरेक की मान्यता के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव कोई ऐसी विशेष निर्णायक व्यवस्था नहीं बन सकती जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि इतने अलंकार शब्दगत हैं, ये अलंकार अर्थगत हैं, और अमुक उभयगत हैं। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव को विभाजन का मूलाधार मान लेने से उत्प्रेक्षा को जहाँ संभावना का आश्रय शब्द या अर्थ कोई न होकर कवि का मन ही होता है, अर्थालंकार कैसे माना जा सकेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक ही अलंकार-विभाजन का निर्णायक हो सकता है, आश्रयाश्रयिभाव नहीं। इसी के आधार पर शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेद भली भांति समझा जा सकता है।

रुय्यक ने जो अन्वयव्यतिरेक के आधार पर श्रौती उपमा को शब्दालंकार ठहराया था यह उचित नहीं। श्रौती उपमा में 'इव' शब्द का होना आवश्यक होता है अतः 'इव' के हटा देने पर अलंकार-चमत्कार समाप्त हो जायगा। फलतः यह शब्दालंकार ही है अर्थालंकार नहीं—परन्तु यह उचित नहीं। क्योंकि यहां अलंकार-चमत्कार 'इव' शब्द के तात्पर्य के कारण है, इव शब्द की उपस्थिति से नहीं। क्योंकि 'इव' के स्थान पर उसका पर्यायवाची समानतासूचक अन्य शब्द रखने पर भी चमत्कार रहेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वह अर्थालंकार ही है, शब्दालंकार नहीं।

इसी प्रकार भोज के उभयालंकारों की भी मीमांसा हो सकती है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वे भी प्रायः सभी अर्थालंकार ही सिद्ध होते हैं।

सारांश यह कि अलंकार-विभाजन में अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उचित है। हां, इस सिद्धान्त में भी चमत्काराधिक्य प्रधान है। इसी कारण यमक, वक्रोक्ति आदि में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर उनके शब्दार्थोभयनिष्ठ होने पर भी शब्दगत चमत्काराधिक्य होने के कारण ही उन्हें शब्दालंकारों की श्रेणी में स्थान दिया जाता है, उभयगत अलंकारों की श्रेणी में नहीं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्षिक महत्व

शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में किनका महत्व अधिक है और किनका कम-इस विषय में संस्कृत के आचार्य एक मत नहीं हैं। कोई शब्दालंकारों को अधिक महत्व देते हैं, तो कोई अर्थालंकारों को। शब्दालंकारों की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले आचार्य रूपकादि अलंकारों को वाह्य कहकर उन्हें शब्दालंकार के समान महत्व प्रदान नहीं करते। इस बात को भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :—

रुपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पतिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ॥ १–१४
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥ १–१५

इसी की व्याख्या श्री टी० डी० मेघनाथ शास्त्री ने अपने काव्यालंकार के अंग्रेजी अनुवाद में इस प्रकार की है :—

This is the antogonistic view. This school argues as follows :—

The beauty of a poem lies primarily in the disposition of the words. Again it is the language (consisting of the words) that first attracts one and then the meaning arises. The word 'Kavyam' itself means 'Kavikarma' and consists in the selection of proper words and in properly stinging them together. In common parlance also we say ',Poetry is read". Poetry is heard etc., which cannot apply to meanings. In fact we also say "Poetry is understood". Thereby sharply contrasting "meaning" with "Poetry" which necessarily means the collection of words. This being so, what enhances the beauty of the words must be the real ornaments. So Sabdalankar is superior to Arthalankar. In fact it is after the words have functioned and produced a meaning, arthalankaras can comein, So these ornaments are very much on the outside.

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम शब्द ही अपना कार्य करके अर्थ प्रकट करते हैं। इसके पश्चात् ही अर्थालंकार अपना चमत्कार दिखाते हैं। अतः शब्दों का महत्व अधिक होने से उनसे सम्बन्धित शब्दालंकारों की महत्ता भी अर्थालंकारों की अपेक्षा अधिक है।

परन्तु अर्थालंकार के महत्व को आंकने वाले इस उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि काव्य का सौन्दर्य रस में निहित होता है जो विभावादि पर आश्रित होता है। ये विभावादि शब्दार्थ से परिणमित होते हैं। अर्थ उत्पन्न हो जाने पर शब्द तो निष्क्रिय हो जाता है। अतः अर्थ से सम्बन्धित अलंकार रस-सौंदर्य का उत्कर्ष करते हैं, शब्दालंकार नहीं। इसी कारण रूपकादि अलंकारों को अधिक महत्व दिया जाता है।[1]

१—रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। का० अ० १—१३

अर्थात् आश्रयाश्रयिभाव की कल्पना में भी अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उपस्थित रहता है। अन्वयव्यतिरेक की मान्यता के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव कोई ऐसी विशेष निर्णायक व्यवस्था नहीं बन सकती जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि इतने अलंकार शब्दगत हैं, ये अलंकार अर्थगत हैं, और अमुक उभयगत हैं। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव को विभाजन का मूलाधार मान लेने से उत्प्रेक्षा को जहाँ संभावना का आश्रय शब्द या अर्थ कोई न होकर कवि का मन ही होता है, अर्थालंकार कैसे माना जा सकेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक ही अलंकार-विभाजन का निर्णायक हो सकता है, आश्रयाश्रयिभाव नहीं। इसी के आधार पर शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेद भली भांति समझा जा सकता है।

रुय्यक ने जो अन्वयव्यतिरेक के आधार पर श्रौती उपमा को शब्दालंकार ठहराया था यह उचित नहीं। श्रौती उपमा में 'इव' शब्द का होना आवश्यक होता है अतः 'इव' के हटा देने पर अलंकार-चमत्कार समाप्त हो जायगा। फलतः यह शब्दालंकार ही है अर्थालंकार नहीं—परन्तु यह उचित नहीं। क्योंकि यहां अलंकार-चमत्कार 'इव' शब्द के तात्पर्य के कारण है, इव शब्द की उपस्थिति से नहीं। क्योंकि 'इव' के स्थान पर उसका पर्यायवाची समानतासूचक अन्य शब्द रखने पर भी चमत्कार रहेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वह अर्थालंकार ही है, शब्दालंकार नहीं।

इसी प्रकार भोज के उभयालंकारों की भी मीमांसा हो सकती है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वे भी प्रायः सभी अर्थालंकार ही सिद्ध होते हैं।

सारांश यह कि अलंकार-विभाजन में अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उचित है। हां, इस सिद्धान्त में भी चमत्काराधिक्य प्रधान है। इसी कारण यमक, वक्रोक्ति आदि में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर उनके शब्दार्थोभयनिष्ठ होने पर भी शब्दगत चमत्काराधिक्य होने के कारण ही उन्हें शब्दालंकारों की श्रेणी में स्थान दिया जाता है, उभयगत अलंकारों की श्रेणी में नहीं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्षिक महत्व

शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में किनका महत्व अधिक है और किनका कम-इस विषय में संस्कृत के आचार्य एक मत नहीं हैं। कोई शब्दालंकारों को अधिक महत्व देते हैं, तो कोई अर्थालंकारों को। शब्दालंकारों की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले आचार्य रूपकादि अलंकारों को वाह्य कहकर उन्हें शब्दालंकार के समान महत्व प्रदान नहीं करते। इस बात को भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :—

रूपकादिमलंकारं वाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ॥ १–१४
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥ १–१५

इसी की व्याख्या श्री टी० डी० मेघनाथ शास्त्री ने अपने काव्यालंकार के अंग्रेजी अनुवाद में इस प्रकार की है :—

This is the antogonistic view. This school argues as follows :—

The beauty of a poem lies primarily in the disposition of the words. Again it is the language (consisting of the words) that first attracts one and then the meaning arises. The word 'Kavyam' itself means 'Kavikarma' and consists in the selection of proper words and in properly stinging them together. In common parlance also we say ',Poetry is read". Poetry is heard etc., which cannot apply to meanings. In fact we also say "Poetry is understood". Thereby sharply contrasting "meaning" with "Poetry" which necessarily means the collection of words. This being so, what enhances the beauty of the words must be the real ornaments. So Sabdalankar is superior to Arthalankar. In fact it is after the words have functioned and produced a meaning, arthalankaras can comein, So these ornaments are very much on the outside.

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम शब्द ही अपना कार्य करके अर्थ प्रकट करते हैं। इसके पश्चात् ही अर्थालंकार अपना चमत्कार दिखाते हैं। अतः शब्दों का महत्व अधिक होने से उनसे सम्बन्धित शब्दालंकारों की महत्ता भी अर्थालंकारों की अपेक्षा अधिक है।

परन्तु अर्थालंकार के महत्व को आंकने वाले इस उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि काव्य का सौन्दर्य रस में निहित होता है जो विभावादि पर आश्रित होता है। ये विभावादि शब्दार्थ से परिणमित होते हैं। अर्थ उत्पन्न हो जाने पर शब्द तो निष्क्रिय हो जाता है। अतः अर्थ से सम्बन्धित अलंकार रस-सौन्दर्य का उत्कर्ष करते हैं, शब्दालंकार नहीं। इसी कारण रूपकादि अलंकारों को अधिक महत्व दिया जाता है।[1]

१—रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। का० अ० १—१३

अर्थात् आश्रयाश्रयिभाव की कल्पना में भी अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उपस्थित रहता है। अन्वयव्यतिरेक की मान्यता के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव कोई ऐसी विशेष निर्णायक व्यवस्था नहीं बन सकती जिसके आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सके कि इतने अलंकार शब्दगत हैं, ये अलंकार अर्थगत हैं, और अमुक उभयगत हैं। क्योंकि अन्वयव्यतिरेक के अभाव में आश्रयाश्रयिभाव को विभाजन का मूलाधार मान लेने से उत्प्रेक्षा को जहाँ संभावना का आश्रय शब्द या अर्थ कोई न होकर कवि का मन ही होता है, अर्थालंकार कैसे माना जा सकेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक ही अलंकार-विभाजन का निर्णायक हो सकता है, आश्रयाश्रयिभाव नहीं। इसी के आधार पर शब्दालंकार और अर्थालंकार का भेद भली भांति समझा जा सकता है।

रुय्यक ने जो अन्वयव्यतिरेक के आधार पर श्रौती उपमा को शब्दालंकार ठहराया था यह उचित नहीं। श्रौती उपमा में 'इव' शब्द का होना आवश्यक होता है अतः 'इव' के हटा देने पर अलंकार-चमत्कार समाप्त हो जायगा। फलतः यह शब्दालंकार ही है अर्थालंकार नहीं—परन्तु यह उचित नहीं। क्योंकि यहां अलंकार-चमत्कार 'इव' शब्द के तात्पर्य के कारण है, इव शब्द की उपस्थिति से नहीं। क्योंकि 'इव' के स्थान पर उसका पर्यायवाची समानतासूचक अन्य शब्द रखने पर भी चमत्कार रहेगा। अतः अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वह अर्थालंकार ही है, शब्दालंकार नहीं।

इसी प्रकार भोज के उभयालंकारों की भी मीमांसा हो सकती है। अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वे भी प्रायः सभी अर्थालंकार ही सिद्ध होते हैं।

सारांश यह कि अलंकार-विभाजन में अन्वयव्यतिरेक का ही सिद्धान्त उचित है। हां, इस सिद्धान्त में भी चमत्काराधिक्य प्रधान है। इसी कारण यमक, वक्रोक्ति आदि में अन्वयव्यतिरेक के आधार पर उनके शब्दार्थोभयनिष्ठ होने पर भी शब्दगत चमत्काराधिक्य होने के कारण ही उन्हें शब्दालंकारों की श्रेणी में स्थान दिया जाता है, उभयगत अलंकारों की श्रेणी में नहीं।

शब्दालंकार और अर्थालंकार का सापेक्षिक महत्व

शब्दालंकारों और अर्थालंकारों में किनका महत्व अधिक है और किनका कम-इस विषय में संस्कृत के आचार्य एक मत नहीं हैं। कोई शब्दालंकारों को अधिक महत्व देते हैं, तो कोई अर्थालंकारों को। शब्दालंकारों की महत्ता को प्रतिपादित करने वाले आचार्य रूपकादि अलंकारों को वाह्य कहकर उन्हें शब्दालंकार के समान महत्व प्रदान नहीं करते। इस बात को भामह ने अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है :—

रुपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे ।
सुपां तिङां च व्युत्पत्ति वाचां वांछन्त्यलंकृतिम् ॥ १-१४
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ॥ १-१५

इसी की व्याख्या श्री टी० डी० मेघनाथ शास्त्री ने अपने काव्यालंकार के अंग्रेजी अनुवाद में इस प्रकार की है :—

This is the antogonistic view. This school argues as follows :—

The beauty of a poem lies primarily in the disposition of the words. Again it is the language (consisting of the words) that first attracts one and then the meaning arises. The word 'Kavyam' itself means 'Kavikarma' and consists in the selection of proper words and in properly stinging them together. In common parlance also we say ',Poetry is read". Poetry is heard etc., which cannot apply to meanings. In fact we also say "Poetry is understood". Thereby sharply contrasting "meaning" with "Poetry" which necessarily means the collection of words. This being so, what enhances the beauty of the words must be the real ornaments. So Sabdalankar is superior to Arthalankar. In fact it is after the words have functioned and produced a meaning, arthalankaras can comein, So these ornaments are very much on the outside.

संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम शब्द ही अपना कार्य करके अर्थ प्रकट करते हैं। इसके पश्चात् ही अर्थालंकार अपना चमत्कार दिखाते हैं। अतः शब्दों का महत्व अधिक होने से उनसे सम्बन्धित शब्दालंकारों की महत्ता भी अर्थालंकारों की अपेक्षा अधिक है।

परन्तु अर्थालंकार के महत्व को आंकने वाले इस उपर्युक्त कथन को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि काव्य का सौन्दर्य रस में निहित होता है जो विभावादि पर आश्रित होता है। ये विभावादि शब्दार्थ से परिणमित होते हैं। अर्थ उत्पन्न हो जाने पर शब्द तो निष्क्रिय हो जाता है। अतः अर्थ से सम्बन्धित अलंकार रस-सौंदर्य का उत्कर्ष करते हैं, शब्दालंकार नहीं। इसी कारण रूपकादि अलंकारों को अधिक महत्व दिया जाता है।[1]

१—रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः। का० अ० १—१३

दण्डी ने अर्थालंकारों का वर्णन तो विस्तार के साथ किया ही है, शब्दालंकारों में यमक और अनुप्रास की भी विवेचना की है। परन्तु इनका विस्तृत वर्णन नहीं किया और न उनको कोई विशेष महत्व ही दिया। उनके अनुसार अनुप्रास का अर्थ है शैथिल्य, यह श्लेष गुण के अभाव का ही दूसरा नाम है। गौड़ी मार्ग का अवलम्बन करने वाले ही इसे अपनाते हैं।[2] यमक के प्रयोग को भी वे मधुरताजनक नहीं समझते। यदि अकेला यमक का प्रयोग होता है तो उससे मधुरता नहीं आ सकती।[3]

ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्य भी यमकादि शब्दालंकारों को अपेक्षाकृत हीन ही मानते हैं। उनका कथन है :—

ध्वन्यात्मभूतशृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः॥ २-१६ ध्वन्यालोक॥

अर्थात् ध्वन्यात्मक शृंगार में और विशेषतः वियोगशृंगार में यमक आदि का निबन्धन प्रमाद का सूचक है। अतः वियोग शृंगार में सौकुमार्यातिशय के कारण यमकादि के निबन्धन का उन्होंने निषेध किया है। क्योंकि यमक में कवि को शब्द-विशेष का अन्वेषण करना पड़ता है जिससे अलंकार का प्रयोग अस्वाभाविक हो जाता है :—

"यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तर परिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः।" (वृत्ति—ध्वन्यालोक पृ० ८६)

और अलंकारों का प्रयोग अयत्नज होना चाहिए। अयत्नज अलंकार को ही ध्वनि में अलंकार कहा गया है :—

रसाक्षिप्रतया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः॥ २—१७ ध्वन्यालोक॥

यमक अलंकार सरस रचना में रस को अंग बना देता है और स्वयं अंगी बन जाता है:—

"यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता यमकादीनां त्वङ्गितैव।" (वृत्ति—ध्वन्यालोक पृ० ८७)

२—अ—श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।
शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा॥ काव्यादर्श १-४३

ब—अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्। का० आ० १—४४

३—तत्तु नैकान्तमधुरम्.................................काव्यादर्श १—६१

इसी प्रकार ध्वन्यालोक के अनुसार अनुप्रास भी एक प्रकार की अनुबन्धिता से शृंगार के सभी भेदों में एक सा व्यंजक नहीं होता है।[1]

इस प्रकार ध्वन्यालोककार ने यमकादि शब्दालंकारों की हीनता ही प्रदर्शित की है।

कुन्तक ने भी यमक को शोभाशून्य अलंकार बताया है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्दालंकारों का उतना महत्व नहीं है जितना अर्थालंकारों का। परन्तु यथार्थतः दोनों प्रकार के अलंकारों का अपना-अपना स्थान है। जिस प्रकार काव्य में शब्द और अर्थ दोनों की अपनी अपनी विशेषता है, उसी प्रकार काव्य को सुशोभित करने वाले तत्सम्बन्धी अलंकारों का भी महत्व समझना चाहिए। नरेन्द्रप्रभु सूरि ने अपने 'अलंकारमहोदधि' में इसीलिए कहा है कि सरस्वती का एक कुण्डल शब्दालंकार है तो दूसरा अर्थालंकार। अतः किसी को हीन और किसी को अधिक कहना उचित प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों अलंकार्य है, अतः दोनों को अलंकृत करने वाले अलंकार अपने अपने स्थान पर समुचित हैं। इसी कारण भामह को भी दोनों प्रकार के अलंकार इष्ट हैं :—

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तुनः। १—१५ काव्यालंकार।

अर्थालंकारों का वर्गीकरण

यद्यपि प्रत्येक अलंकार में उक्ति-वैचित्र्य की विभिन्नता अवश्य रहती है तथापि उनका कोई न कोई मूलाधार ऐसा अवश्य है जिसके आधार पर इन अलंकारों को भिन्न भिन्न वर्गों में विभक्त किया जाना संभव हो सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमा आदि अनेक अलंकारों का मूलाधार सादृश्य है अतः ऐसे सादृश्यमूलक अलंकारों का एक वर्ग बन सकता है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के मूलतत्व की खोज करके उनके भिन्न भिन्न वर्ग निर्धारित किए जा सकते हैं। इस दिशा में हमारे आचार्यों ने प्रयत्न किया भी है, परन्तु अभी तक जितने वर्गीकरण किए गये हैं उन्हें सफल एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता।

भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' सर्व प्रथम उपलब्ध काव्यशास्त्र है परन्तु वहाँ केवल चार अलंकारों का ही वर्णन मिलता है। अतः अलंकारों के वर्गीकरण का वहां कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। पर ज्यों ज्यों अलंकारों की संख्या बढ़ती गई,

---

१—शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धनात्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः॥ २—१५ ध्वन्यालोक

२—स तु शोभान्तराभावादिह नाति प्रतन्यते। २—७ वक्रोक्तिजीवितम्

त्यों त्यों उनके आधारों की खोज करके आचार्यों ने उनका वर्गीकरण करने की दिशा में प्रयत्न किया भी।

सर्व प्रथम इस दिशा में हमें अलंकार युग के प्रवर्तक भामह का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने समग्र वाङ्मय को दो वर्गों में बाँटा है— स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इनमें भी वक्रोक्ति उनकी दृष्टि में, काव्य-चमत्कार का मूलबीज है। वक्रोक्ति के बिना तो कोई अलंकार सम्भव ही नहीं।[1] इसी कारण उन्होंने कवियों को इसी के लिए यत्न करने का उपदेश तक दे डाला। स्वभावोक्ति तो प्रकारान्तर से वार्तमात्र ही है।[2]

परन्तु स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह उपेक्षा दण्डी को रुचिकर न हुई। उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इन दो वर्गों में विभक्त करते हुए स्वभावोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण बताया है। उसे अलंकारों का मूलाधार तक कह दिया।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने एक स्थान पर "श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु त्रयम्" कह कर श्लेष की प्रधानता की ओर भी संकेत किया है। किन्तु दण्डी के इस कथन का आगे चलकर विशेष समादर नहीं हुआ।

आगे चलकर वक्रोतिजीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करके अपने 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की। इसके अन्तर्गत उन्होंने रस एवं ध्वनि की भी स्थिति घोषित करते हुए वक्रोक्ति को अपरिमित महत्व प्रदान किया। स्वभावोक्ति को तो वे अलंकार ही नहीं मानते। उनके अनुसार स्वभावोक्ति का अर्थ है—स्वरूप (स्वभाव) का कथन (उक्ति)। बिना स्वरूप के वस्तु का कथन उचित नहीं क्योंकि स्वभाव (स्वरूप) रहित वस्तु तो निरुपाख्य (अस्तित्वहीन) होती है। अतः स्वभाव की उक्ति (स्वभावोक्ति) को अलंकार मानना अनुचित है। अलंकार तो कथन में चमत्कार उत्पन्न करने वाले साधन होते हैं, स्वयं कथन नहीं होते। अतएव कथन को ही अलंकार कहना न्यायोचित नहीं है। वास्तव में स्वभावोक्ति तो शरीर है, इसे जब अलंकृत करने के लिए

१—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरन्यार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। काव्यालंकार-भामह

२—इत्यादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते। ३—८६,८७ का० अ० —भामह

३—अ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्गमयम्। काव्यादर्श २-३६३
ब अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श

अन्य अलंकारों की अपेक्षा होती है तब वह स्वयं ही कैसे अलंकार बन सकता है।[१]

अभिनवगुप्त ने भी 'वक्रोक्तिशब्दशून्येन सर्वालंकाराभावश्च" (अर्थात् वक्रोक्ति-शब्द से शून्य होने पर सभी अलंकारों का अभाव समझना चाहिए) कह कर वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार बताया। आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ ने भी 'नैव वचनं वक्रोतिशून्यं च यत्' अर्थात् वक्रोति के बिना कोई कथन नहीं होता, कह कर इसी उक्त बात का समर्थन किया है। आगे चलकर दण्डी के उपर्युक्त वर्गीकरण का किसी भी परवर्ती आचार्य ने कोई उल्लेख नहीं किया।

दण्डी के पश्चात् उद्भट ने अपने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में वर्णित ४१ अलंकारों को निम्नलिखित ६ वर्गों में विभक्त किया है :—

१—प्रथम वर्ग — ८ अलंकार :—

पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥

२—द्वितीय वर्ग—६ अलंकार :—

आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती चेत्यलंकारान्परे विदुः॥

३ – तृतीय वर्ग—३ अलंकार :

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्ति तथैव च।

४—चतुर्थ वर्ग—७ अलंकार :—

प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान्परे विदुः॥

५—पंचम वर्ग—११ अलंकार :—

अपन्हुति विशेषोक्ति विरोधं तुल्ययोगिताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसा च व्याजस्तुतिनिदर्शने॥
उपमेयोपमां चैव सहोक्ति संकरं तथा।
परिवृत्तिं च जगदुरलंकारान्परे गिराम्॥

१— स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते
वस्तुतद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नाऽऽत्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति॥ ११-२-१३
वक्रोक्तिजीवितम्।

त्यों त्यों उनके आधारों की खोज करके आचार्यों ने उनका वर्गीकरण करने की दिशा में प्रयत्न किया भी।

सर्व प्रथम इस दिशा में हमें अलंकार युग के प्रवर्तक भामह का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने समग्र वाङ्मय को दो वर्गों में बाँटा है— स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। इनमें भी वक्रोक्ति उनकी दृष्टि में, काव्य-चमत्कार का मूलबीज है। वक्रोक्ति के बिना तो कोई अलंकार सम्भव ही नहीं।[1] इसी कारण उन्होंने कवियों को इसी के लिए यत्न करने का उपदेश तक दे डाला। स्वभावोक्ति तो प्रकारान्तर से वार्तमात्र ही है।[2]

परन्तु स्वभावोक्ति के प्रति भामह की यह उपेक्षा दण्डी को रुचिकर न हुई। उन्होंने सम्पूर्ण वाङ्मय को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति इन दो वर्गों में विभक्त करते हुए स्वभावोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण बताया है। उसे अलंकारों का मूलाधार तक कह दिया।[3] इसके अतिरिक्त उन्होंने एक स्थान पर "श्लेष सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु त्रयम्" कह कर श्लेष की प्रधानता की ओर भी संकेत किया है। किन्तु दण्डी के इस कथन का आगे चलकर विशेष समादर नहीं हुआ।

आगे चलकर वक्रोतिजीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करके अपने 'वक्रोक्ति सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा की। इसके अन्तर्गत उन्होंने रस एवं ध्वनि की भी स्थिति घोषित करते हुए वक्रोक्ति को अपरिमित महत्व प्रदान किया। स्वभावोक्ति को तो वे अलंकार ही नहीं मानते। उनके अनुसार स्वभावोक्ति का अर्थ है—स्वरूप (स्वभाव) का कथन (उक्ति)। बिना स्वरूप के वस्तु का कथन उचित नहीं क्योंकि स्वभाव (स्वरूप) रहित वस्तु तो निरुपाख्य (अस्तित्वहीन) होती है। अतः स्वभाव की उक्ति (स्वभावोक्ति) को अलंकार मानना अनुचित है। अलंकार तो कथन में चमत्कार उत्पन्न करने वाले साधन होते हैं, स्वयं कथन नहीं होते। अतएव कथन को ही अलंकार कहना न्यायोचित नहीं है। वास्तव में स्वभावोक्ति तो शरीर है, इसे जब अलंकृत करने के लिए

१—सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरन्यार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना। काव्यालंकार-भामह

२—इत्यादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते। ३—८६,८७ का० अ० —भामह

३—अ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्गमयम्। काव्यादर्श २-३६३

ब अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श

अन्य अलंकारों की अपेक्षा होती है तब वह स्वयं ही कैसे अलंकार बन सकता है।[1]

अभिनवगुप्त ने भी 'वक्रोक्तिशब्दशून्येन सर्वालंकाराभावश्च" (अर्थात् वक्रोक्ति-शब्द से शून्य होने पर सभी अलंकारों का अभाव समझना चाहिए) कह कर वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार बताया। आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ ने भी 'नैव वचनं वक्रोतिशून्यं च यत्' अर्थात् वक्रोति के बिना कोई कथन नहीं होता, कह कर इसी उक्त बात का समर्थन किया है। आगे चलकर दण्डी के उपर्युक्त वर्गीकरण का किसी भी परवर्ती आचार्य ने कोई उल्लेख नहीं किया।

दण्डी के पश्चात् उद्भट ने अपने 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में वर्णित ४१ अलंकारों को निम्नलिखित ६ वर्गों में विभक्त किया है :—

१—प्रथम वर्ग – ८ अलंकार :—

पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥

२—द्वितीय वर्ग—६ अलंकार :—

आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना।
समासातिशयोक्ती चेत्यलंकारान्परे विदुः॥

३ – तृतीय वर्ग—३ अलंकार :

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षां स्वभावोक्ति तथैव च।

४—चतुर्थ वर्ग—७ अलंकार :—

प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलंकारान्परे विदुः॥

५—पंचम वर्ग—११ अलंकार :—

अपन्हुति विशेषोक्ति विरोधं तुल्ययोगिताम्।
अप्रस्तुतप्रशंसा च व्याजस्तुतिनिदर्शने॥
उपमेयोपमां चैव सहोक्ति संकरं तथा।
परिवृत्तिं च जगदुरलंकारान्परे गिराम्॥

१— स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते
वस्तुतद्रहितं यस्मान्निरूपाख्यं प्रसज्यते।
शरीरं चेदलंकारः किमलंकुरुते परम्।
आत्मैव नाऽऽत्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति॥ ११-२-१३
वक्रोक्तिजीवितम्।

६—षष्ठ वर्ग—६ अलंकार :—

अनन्वयं ससन्देहं संसृष्टिं भाविकं तथा ।
काव्यदृष्टान्तहेतू चेत्यलंकारान्परे विदुः ।।

परन्तु उद्‌भट के इस वर्गीकरण का कोई आधार प्रतीत नहीं होता। क्योंकि किसी वर्ग के अलंकारों में पारस्परिक साम्य नहीं है। चतुर्थ वर्ग के प्रेय, रसवत् आदि अलंकारों को विषय-साम्य के आधार पर एक साथ रखने में कोई औचित्य हो भी सकता है, परन्तु उनके साथ श्लेष को स्थान देने में कोई संगति नहीं जान पड़ती। इस वर्गीकरण को देखकर ऐसा विदित होता है कि उद्‌भट के समय तक जिन अलंकारों का निरूपण हो चुका था उन्हीं को पृथक्-पृथक् एक एक वर्ग में रख कर निरूपित अलंकारों को छह वर्गों में विभक्त कर दिया गया है।

तदुपरान्त रुद्रट ने मूलतत्वों का विचार करते हुये अपने वर्णित अर्थालंकारों को चार वर्गों में बांटा। यथा :--

अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः ।
एषामेव विशेषो अन्ये तु भवन्ति निःशषाः ।। ७-९ काव्यलंकार ।।

अर्थात् वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष ये अलंकारों के चार वर्ग हैं। इनमें वस्तुस्वरूप कथन को वास्तव कहते हैं। इस वर्ग में सहोक्ति, समुच्चय आदि २३ अलंकार हैं।[1] औपम्य का अर्थ सादृश्य है—जहाँ एक वस्तु उसके सदृश्य है—इस प्रकार का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिये उसी के समान अन्य वस्तु का कथन होता है वहाँ औपम्य होता है।[2] इसके अन्तर्गत उपमा, उत्प्रेक्षा आदि २१ अलंकार रक्खे गये हैं।[3] अतिशय वहाँ होता है जहाँ अर्थ और धर्म के नियमों में प्रसिद्धि की बाधा से विपर्यय होता है अथवा जहाँ अतिलोकता होती है। इसमें पूर्व

१—अ—वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुरूपकथनं यत् । ७-१०

आ—तस्य सहोक्तिसमुच्चयजातियथासंख्यभावपर्यायाः ।
विषमानुमानदीपकपरिकरपरिवृत्ति परिसंख्याः ।। ७-११
हेतुः कारणमाला व्यतिरेको ऽ न्योन्यमुत्तरसारम् ।
सूक्ष्मं लेशोऽवसरो मीलितमेकावली भेदाः ।। ७-१२ का० अ०-रुद्रट

२— सम्यक् प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति ।
वस्त्वन्तरमभिदध्याद्वक्ता यस्मिंस्तदौपम्यम् ।। ८-१ का०अ०

३— उपमोत्प्रेक्षारूपकमपन्हुतिः संशयः समासोक्तिः ।
मतमुत्तरमन्योक्तिः प्रतीपमर्थान्तरन्यासः ।। ८-२
उभयन्यासभ्रान्तिमदाक्षेप प्रत्यनीक दृष्टान्ताः ।
पूर्व सहोक्ति समुच्चय साम्यस्मरणानि तद्भेदाः ।। ८-३ का०अ०रुद्रट

विशेष आदि १२ अलंकार है[1]। चतुर्थ वर्ग श्लेष का है। अनेकार्थकता के चमत्कार के आधार पर यहाँ दस अलंकारों की गणना की गई है।[2]

इस प्रकार का तत्वों पर आधारित यह सर्वप्रथम वर्गीकरण हैं। इस दृष्टि से इसने इस दिशा में पथप्रदर्शन का मार्ग अवश्य प्रशस्त किया, परन्तु वैज्ञानिक होते हुए भी उसे महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अलंकारों के मूलतत्वों का विभाजन यथार्थ नहीं है। अनुमान, हेतु आदि अलंकारों का वास्तविक आधार तर्क न्याय है, व्यतिरेक वस्तुतः औपम्य के अन्तर्गत है। यथा संख्य एवं कारणमाला आदि शृंखलामूलक अलंकार हैं--परन्तु रुद्रट ने इन सबको वास्तव वर्ग में रक्खा है।

कुछ अलंकार तो दो दो वर्गों में भी आ गये हैं। सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर वास्तवगत भी हैं और औपम्यगत भी। विषम और हेतु की गणना वास्तव में है और अतिशय में भी। पूर्व और उत्प्रेक्षा औपम्य के भी अन्तर्गत रक्खे गये और अतिशय के अन्तर्गत भी। इसी प्रकार विरोध और अधिक जहाँ अतिशय वर्ग में हैं, वहाँ श्लेष वर्ग में भी उनकी गणना की गई है। परन्तु लक्षणों और उदाहरणों द्वारा इन अलंकारों की पृथकता स्पष्ट कर दी गई है।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक और उसके शिष्य मंखक का वर्गीकरण आता है उन्होंने १ औपम्य २ विरोध ३ शृंखला ४ न्याय ५ गूढ़ार्थप्रतीति और ६ संकर ये छह वर्ग निश्चित किए थे। तत्पश्चात् विद्याधर ने रुय्यक के अनुकरण पर ही अपना वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया था। मल्लिनाथ ने 'एकावली' के अष्टम उल्लास में अपनी 'तरल टीका' में इन दोनों आचार्यों के वर्गीकरण का निम्न प्रकार से स्पष्टीकरण किया है।

१—सादृश्यमूलक अलंकार वर्ग :—

क भेदाभेद प्रधान : - उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण।

१—अ—यत्रार्थधर्मनियमः प्रसिद्धिबाधाद्विपर्ययं याति।
कश्चित्क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ ९-१॥

आ—पूर्वविशेषोत्प्रेक्षा विभावना तद्गुणाधिकविरोधाः।
विषमासंगतिपिहितव्याघाता हेतवो भेदाः॥ ९-२ का० अ० रुद्रट॥

२—अ—यत्रैकमनेकार्थैर्वाक्यं रचितं पदैरनेकस्मिन्।
अर्थे कुरुते निश्चयमर्थश्लेषः स विज्ञेयः॥ १०-१॥

आ—अविशेष विरोधाधिक वक्रव्य जोक्त्यसंभवावयवाः।
तत्वविरोधाभासमिति भेदास्तस्य शुद्धस्य॥ १०-२ का० अ० रुद्रट॥

ख—अभेद-प्रधान :—

अ—आरोपमूला:—रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख एवं अपन्हुति।

ब—अध्यवसायमूला:----उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति।

२—औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग :—

क—पदार्थगत:—तुल्ययोगिता और दीपक।

ख—वाक्यार्थगत:—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना।

ग—भेद प्रधान :—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति।

घ—विशेषण विच्छित्ति :—समासोक्ति और परिकर।

ङ—विशेष्य विच्छित्ति :—परिकराङ्कुर।

च—विशेषण विशेष्य विच्छित्ति :—श्लेष।

छ—अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याज स्तुति और आक्षेप।

३—विरोधगर्भ अलंकार वर्ग :—

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति, असंगति, और विषम।

४—शृंखलाबद्ध अलंकार वर्ग :—

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार।

५—न्यायमूलक अलंकार वर्ग :—

क—तर्क न्यायमूलक :—काव्यलिंग और अनुमान।

ख—वाक्य न्यायमूलक :—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, विकल्प, परिसंख्या समुच्चय और समाधि।

ग—लोक न्यायमूलक :—प्रत्यनीक, प्रतीप मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण और उत्तर।

६—गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार वर्ग :—

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

इस प्रकार ६५ अलंकारों को ६ वर्गों और १२ उपवर्गों में विभाजित करके यह वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। पैंसठ के अतिरिक्त स्वभावोक्ति, भाविक उदात्त; संकर और संसृष्टि अलंकारों का वर्णन भी एकावली में किया गया है, पर उन्हें किसी विशेष वर्ग में नहीं रक्खा गया।

इस वर्गीकरण में २९ अलंकार सादृश्य और औपम्य मूलक बताए गए हैं

क्योंकि इन अलंकारों का मूलतत्व साधर्म्य या उपमेय उपमान भाव है। यह साधर्म्य कहीं तो शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है और कहीं गम्यमान रहता है। तुल्ययोगिता आदि अलंकारों में यह साधर्म्य गम्यमान रहता है, अतः उन्हें सादृश्यमूलक से भिन्न औपम्यगर्भ वर्ग में रक्खा गया है। सादृश्य मूलक अलंकारों में वह उपमेय उपमान भाव शब्द द्वारा स्पष्ट होता है अतः व्यक्त और अव्यक्त सादृश्य के आधार पर सादृश्यमूलक और औपम्यगर्भ दो भिन्न भिन्न वर्ग किए गए हैं। औपम्यगर्भ अलंकार वर्ग में अप्रस्तुत प्रशंसा का समासोक्ति के विपरीत होने के कारण, अर्थान्तरन्यास का अप्रस्तुत प्रशंसा का सजातीय होने के कारण तथा पर्यायोक्त, व्याजस्तुति एवं आक्षेप का गम्यमान के प्रस्ताव प्रसंग के कारण समावेश किया गया है।

विरोध गर्भ वर्ग में १२ अलंकार रक्खे गए हैं जिनका मूल कारण विरोधात्मक वर्णन है। सम अलंकार यद्यपि विरोध मूलक नहीं है तथापि विषम का विरोधी होने का कारण ही इसी वर्ग के अन्तर्गत रक्खा गया है।

अन्य वर्गों के अलंकारों का मूलाधार वही है जिन वर्गों में उनका समावेश किया गया है। कारणमाला आदि में शृंखला का आधार होने से उन्हें न्यायमूलक वर्ग में और सूक्ष्मादि में गूढ़ अर्थ की प्रतीति होने से उन्हें गूढ़ार्थ प्रतीति मूलक वर्ग में रक्खा गया है।

तत्पश्चात् विद्यानाथ का वर्गीकरण आता है। उन्होंने रुद्रट, रुय्यक और विद्याधर से सहायता लेकर इसे कुछ विकसित करने का प्रयास किया है। उन्होंने मुख्य चार वर्ग किए हैं और फिर उनके ९ उपवर्ग बनाए हैं।

मुख्य वर्ग :—

१—प्रतीयमानवस्तुगत २—प्रतीयमानौपम्य ३—प्रतीयमान रसभावादि और ४—अस्फुट प्रतीयमान

उपवर्ग :—

१—साधर्म्यमूल (भेद प्रधान, अभेद प्रधान, भेदाभेद प्रधान) २—अध्यवसायमूल ३—विरोधमूल ४—वाक्य न्यायमूल ५—लोक-व्यवहार न्यायमूल ६—तर्क न्यायमूल ७—शृंखलावैचित्र्यमूल ८—अपन्हवमूल ९—विशेषण वैचित्र्यमूल।

इस उपर्युक्त वर्गीकरण में औपम्यमूल को ही सादृश्यमूल कहा गया है। हाँ, अध्यवसायमूल और विशेषण वैचित्र्य अवश्य ये दोनों नवीन वर्ग कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार संस्कृत-काव्य-शास्त्रों में अलङ्कारों के जो जो वर्गीकरण प्राप्त हैं, वे सभी अपने में एकांतरूप होने से पूर्ण एवं युक्तियुक्त नहीं कहे जा सकते। डा० डे ने भी इनके सम्बन्ध में अपना यही मत व्यक्त किया है।

हिन्दी अलङ्कार शास्त्र तो संस्कृत ग्रन्थों पर ही आधारित है, अतः वहाँ

इस दिशा में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं दिखाई पड़ती। सर्व प्रथम आचार्य केशवदास ने इस वर्गीकरण का कुछ संकेत दिया है। उन्होंने पहले सामान्य और विशेष दो भेद अलङ्कारों के किए और फिर विशेष अलङ्कारों को आठ वर्गों में विभक्त किया है। प्रत्येक वर्ग का यहाँ कोई विशेष नामकरण नहीं है। केशवदास के इस वर्गीकरण का कोई आधार नहीं जान पड़ता है क्योंकि प्रत्येक वर्ग के अलंकारों में कोई पारस्परिक साम्य अथवा सामीप्य नहीं है।

कविप्रिया के बारहवें प्रभाव में वक्रोक्ति, अन्योक्ति आदि पाँच अलंकारों को एक साथ स्थान दिया गया है। किन्तु इनको एक साथ रखने का कोई आन्तरिक आधार नहीं है। केवल उक्ति शब्द को आधार मानकर उन्हें एक श्रेणी का मान लेना अनुचित है। 'उक्ति' शब्द को आधार मान लेने पर स्वभावोक्ति को भी इसके अन्तर्गत आना चाहिये था। पर ऐसा नहीं हुआ। शायद उसकी अपनी पृथक् महत्ता है इसी कारण उसे यहाँ स्थान नहीं मिला। यदि इस वर्ग में "उक्त्यन्त" वाले ही अलंकार होते तो भी एक बात थी, किन्तु उनके साथ साथ इसी वर्ग में व्याजस्तुति, व्याजनिन्दा, अमित और युक्त को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस कारण इस वर्ग की असम्बद्धता और भी अधिक बढ़ गई।

आक्षेप, उपमा, यमक और चित्र अलंकारों का पृथक् पृथक् पूरे एक एक प्रभाव में वर्णन किया गया है। यदि इन्हीं के साथ अन्य सम्बद्ध अलंकारों को भी वहां स्थान मिल जाता तो उचित होता, पर ऐसा हुआ नहीं। अतः केशव के वर्गीकरण को हम वैज्ञानिक आधार के अभाव में सफल वर्गीकरण नहीं कह सकते। यहाँ तो केशव की निरंकुशता ही परिलक्षित होती है।

आगे भिखारी दास का वर्गीकरण आता है। उन्होंने ९६ अलंकारों को निम्नलिखित ग्यारह वर्गों में विभक्त किया है :—

१ उपमा वर्ग—पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अनन्वय आदि
२ उत्प्रेक्षा वर्ग—उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह
३ व्यतिरेक वर्ग—व्यतिरेक, रूपक, उल्लेख
४ अतिशयोक्ति—अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प, विशेष
५ अन्योक्ति वर्ग—अप्रस्तुत प्रशंसा, प्रस्तुतांकुर आदि
६ विरुद्ध वर्ग—विरुद्ध, विभावना आदि
७ उल्लास वर्ग—उल्लास, अवज्ञा आदि
८ सम वर्ग—सम, समाधि आदि
९ सूक्ष्म वर्ग—सूक्ष्म, पिहित आदि
१० स्वभावोक्ति वर्ग—स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण आदि
११ (क) यथा संख्य वर्ग—यथासंख्य, एकावली आदि।
(ख) दीपक वर्ग - दीपक

इनमें अन्तिम आठ अलंकार वाक्यगत हैं। संसृष्टि, संकर और परिणाम अलंकारों को किसी भी वर्ग में स्थान नहीं मिला। इन वर्गों का नामकरण तत्तत वर्ग में वर्णित प्रथम अलंकार के नाम पर किया गया है। प्रत्येक वर्ग का अपना कोई न कोई आधार अवश्य है, किन्तु फिर भी कुछ दोष इस वर्गीकरण में रह ही गये। समवर्ग और स्वभावोक्ति वर्ग को छोड़कर शेष वर्गों के प्रायः सभी अलंकारों का एक ही आधार है। केवल उल्लेख, विशेष, आक्षेप, पर्यायोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर और दीपक अलंकारों को उचित वर्गों में स्थान नहीं मिल पाया। दास के इस वर्गीकरण में मौलिकता अवश्य है, तथापि कतिपय दोषों के आ जाने से हम इसे सफल वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं मान सकते।

दास जी के पश्चात् हिन्दी साहित्य में इसके लिए कोई नवीन प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता। आधुनिक युग में अवश्य विद्वानों ने इस ओर कुछ अपनी रुचि प्रदर्शित की है। सुब्रह्मण्यं शर्मा और ब्रज रत्न जी ने ऐसा प्रयत्न किया है जिसका उल्लेख डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रीति काव्य की भूमिका' के पृष्ठ ८५ पर टिप्पणी में किया है जो अविकल रूप से यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

सुब्रह्मण्यं शर्मा ने अलंकारों को आठ भागों में विभक्त किया है—
१—औपम्यमूलक २—विरोधमूलक ३—कार्य-कारण-सिद्धान्त-मूलक ५—अपन्हवमूलक ६—शृंखलावैचित्र्यमूलक ७—विशेष वैचित्र्यमूलक ८—कवि-समय-मूलक। (यहाँ चौथे वर्ग का नामोल्लेख नहीं है, सम्भवतः भूल में रह गया हो)—यह वास्तव में रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर मात्र है—परन्तु इसको उससे अधिक संगत नहीं माना जा सकता, क्योंकि अपन्हवमूलक, विशेषण-वैचित्र्य-मूलक, और कवि-समय-मूलक वर्ग किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं है। बाह्य और स्थूल सामान्यता पर ही आश्रित हैं। दूसरा ब्रजरत्न जी का वर्गीकरण है। उन्होंने रुय्यक के औपम्य, विरोध, शृंखला, और न्याय को ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, परन्तु गूढ़ार्थप्रतिपत्ति को स्वतंत्र नहीं माना। उसके स्थान पर एक नवीन वर्ग वस्तुमूलक अलंकारों का मान लिया है जिसके अन्तर्गत उन सभी अलंकारों को जो कि उपर्युक्त चार वर्गों में नहीं आते, रख दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीनता किसी भी प्रकार अपनी उद्भावना को सार्थक नहीं करती।

अंग्रेजी साहित्य में भी इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। वहाँ उसके सात आधार प्रस्तुत किए गए हैं—
१—साधर्म्य २—सम्बन्ध ३—अन्तर ४—कल्पना ५—वक्रता
६—ध्वनि या नाद ७—रचना या विधायकता।

साधर्म्य के आश्रित उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि को माना गया है। अन्तर के आश्रित सार को, वक्रता के आश्रित विरोधाभास को, सम्बन्ध के आश्रित दृष्टान्त को, कल्पना के आश्रित अतिशयोक्ति, मानवीकरण और भ्रान्ति आदि को,

तथा यमक, अनुप्रास आदि को ध्वनि के आश्रित माना गया है। पर यह वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणों की भाँति अपूर्ण ही है। क्योंकि अतिशयोक्ति को ही कल्पना के आश्रित मानना उचित नहीं है जबकि सभी अलंकार कल्पना पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि या नाद पर आश्रित नहीं हैं।

वास्तव में तो अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं हुआ है। उसका आधार वस्तु तक ही सीमित न होकर न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक विस्तृत है। अतः अभी तक किए गए वर्गीकरणों में उचित आधार का आश्रय न होने के कारण वे अपूर्ण या एकान्तिक ही रह गए। इसी कारण उन्हें वैज्ञानिक वर्गीकरण कहने में संकोच होता है।

अलंकारों की संख्या

संस्कृत साहित्य में भरतमुनि ही पहले आचार्य थे जिन्होंने सर्वप्रथम काव्य-शास्त्र की दृष्टि से अलंकारों का विवेचन किया था। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का ही विवेचन किया था, पर आगे चल कर ज्यों-ज्यों अलंकारों का विकास एवं वर्णन होता गया त्यों-त्यों उनकी संख्या भी बढ़ती गई। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने कहीं कहीं पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकारों को स्वीकार नहीं किया तथापि नए-नए अलंकारों का समावेश समय समय पर होता गया, जिसके फलस्वरूप अलंकारों की संख्या में वृद्धि ही होती रही।

भरतमुनि ने केवल चार ही अलंकार माने थे। भामह ने इनकी संख्या ३८ कर दी। पर दण्डी ने पुनः यह संख्या ३५ तक सीमित कर दी। उन्होंने भामह के उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों की गणना नहीं की। तत्पश्चात् उद्भट ने भामह के अलंकारों में दृष्टान्त, पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिंग को मिला कर यह संख्या ४१ तक पहुँचा दी। परन्तु पुनः वामन ने इस संख्या को ३२ तक सीमित कर दिया। उन्होंने सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमारूपक और उत्प्रेक्षा अवयव को छोड़ कर अन्य २५ अर्थालंकारों को उपमा का ही प्रपंचमात्र माना है।[1]

आगे चल कर यह संख्या रुद्रट ने ५२, भोजराज ने ७२, मम्मट ने ७० (६+६४) रुय्यक ने ८१, जयदेव ने १०० तक पहुँचा दी। अन्त में जयदेव के व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने इसे १२३ तक पहुँचा दिया।

अलंकारों की संख्या में इस प्रकार वृद्धि होने का यह परिणाम हुआ कि वस्तुगत वर्णन भी अलंकार कहलाने लगे। वस्तुतः इन अलंकारों का रसादि अलंकार्य को अलंकृत करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अप्पय दीक्षित ने प्रमाण के-प्रत्यक्ष,

---

१—प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः। ४-३-१ काव्यालंकारसूत्र वामनकृत

अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य-भेदों को लेकर प्रत्येक को प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार दण्डपूपिका न्याय पर आधारित काव्यार्थापत्ति, क्रियाओं पर आधारित सूक्ष्म और पिहित, ध्वनि पर आधारित काकुवक्रोक्ति, और काल पर आधारित भाविक अलंकार की कोटि में रक्खे गये। स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, विषाद आदि हृदय की वृत्तियां हैं, पर इन्हें भी अलंकार मान लिया गया। परन्तु इन वृत्तियों को अलंकार मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

यदि "अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः" इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बोधित करण रूप अलंकार का प्रयोजन है तो सूक्ष्म, पिहित और प्रमाण आदि की गणना अलंकारों में सम्भव नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर ही शायद समय समय पर अलंकारों की संख्या को कम करने का प्रयास होता रहा है। वामन ने प्रतिवस्तु आदि पच्चीस अलंकारों को उपमा का प्रपंचमात्र कह कर वस्तुतः ८ अलंकार ही मुख्य माने थे। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी इसी प्रकार का स्तुत्य प्रयास करके केवल १३ अलंकार ही बताए थे। वैसे उन्होंने दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह और अपन्हुति—ये २० अलंकार माने हैं। इनमें भी कुन्तक ने प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना, परिवृत्ति और सहोक्ति का उपमा में,[1] और समासोक्ति का श्लेष में,[2] अन्तर्भाव करके १३ मुख्य अलंकार स्वीकार किये हैं।[3] उनके अनुसार अन्यत्र जिन अन्य अलंकारों का वर्णन हुआ है वे या तो शोभाशून्य हैं अथवा इन्हीं उपर्युक्त अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अतः उन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिए। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्त और समाहित के अलंकारत्व का तो उन्होंने स्पष्ट खण्डन किया ही है।

कुन्तक के पश्चात् जयदेव ने भी शुद्धि, संसृष्टि और संकर आदि को अलं... षय नहीं माना है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ चन्द्रालोक के पांचवें मयूख में इसक... क हैं। उल्लेख किया है। ... बनकर

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ। ... प्रयोग के
एतेषामेव विन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी ॥ ५-११...

१—वक्रोक्तिजीवितम्–आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या। ध्वन्यालोक

२—वही—पृ० ४५६ पृ०–

३—भूषणान्तर भावेन शोभाशून्यतया तथा। ...म्।
अलंकारास्तु ये केचन्नालंकारतया मनाक्॥ ३ ...तः ॥२–६॥ ध्वन्यालोक

तथा यमक, अनुप्रास आदि को ध्वनि के आश्रित माना गया है। पर यह वर्गीकरण भी अन्य वर्गीकरणों की भाँति अपूर्ण ही है। क्योंकि अतिशयोक्ति को ही कल्पना के आश्रित मानना उचित नहीं है जबकि सभी अलंकार कल्पना पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि या नाद पर आश्रित नहीं हैं।

वास्तव में तो अलंकारों का स्वरूप-निर्धारण किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं हुआ है। उसका आधार वस्तु तक ही सीमित न होकर न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक विस्तृत है। अतः अभी तक किए गए वर्गीकरणों में उचित आधार का आश्रय न होने के कारण वे अपूर्ण या एकान्तिक ही रह गए। इसी कारण उन्हें वैज्ञानिक वर्गीकरण कहने में संकोच होता है।

अलंकारों की संख्या

संस्कृत साहित्य में भरतमुनि ही पहले आचार्य थे जिन्होंने सर्वप्रथम काव्य-शास्त्र की दृष्टि से अलंकारों का विवेचन किया था। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का ही विवेचन किया था, पर आगे चल कर ज्यों-ज्यों अलंकारों का विकास एवं वर्णन होता गया त्यों-त्यों उनकी संख्या भी बढ़ती गई। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने कहीं कहीं पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकारों को स्वीकार नहीं किया तथापि नए-नए अलंकारों का समावेश समय समय पर होता गया, जिसके फलस्वरूप अलंकारों की संख्या में वृद्धि ही होती रही।

भरतमुनि ने केवल चार ही अलंकार माने थे। भामह ने इनकी संख्या ३८ कर दी। पर दण्डी ने पुनः यह संख्या ३५ तक सीमित कर दी। उन्होंने भामह के उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों की गणना नहीं की। तत्पश्चात् उद्भट ने भामह के अलंकारों में दृष्टान्त, पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिंग को मिला कर यह संख्या ४१ तक पहुँचा दी। परन्तु पुनः वामन ने इस संख्या को ३२ तक सीमित कर दिया। उन्होंने सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि, उपमारूपक और उत्प्रेक्षा अवयव को छोड़ कर अन्य २५ अर्थालंकारों को उपमा का ही प्रपंचमात्र माना है।[1]

आगे चल कर यह संख्या रुद्रट ने ५२, भोजराज ने ७२, मम्मट ने ७० (६+६४) रुय्यक ने ८१, जयदेव ने १०० तक पहुँचा दी। अन्त में जयदेव के व्याख्याकार अप्पय दीक्षित ने इसे १२३ तक पहुँचा दिया।

अलंकारों की संख्या में इस प्रकार वृद्धि होने का यह परिणाम हुआ कि वस्तुगत वर्णन भी अलंकार कहलाने लगे। वस्तुतः इन अलंकारों का रसादि अलंकार्य को अलंकृत करने से कोई सम्बन्ध नहीं है। अप्पय दीक्षित ने प्रमाण के-प्रत्यक्ष,

१—प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः। ४-३-१ काव्यालंकारसूत्र वामनकृत

अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य-भेदों को लेकर प्रत्येक को प्रमाणालंकार नाम दे दिया। इसी प्रकार दण्डपूपिका न्याय पर आधारित काव्यार्थापत्ति, क्रियाओं पर आधारित सूक्ष्म और पिहित, ध्वनि पर आधारित काकुवक्रोक्ति, और काल पर आधारित भाविक अलंकार की कोटि में रक्खे गये। स्मरण, भ्रम, सन्देह, प्रहर्षण, विषाद आदि हृदय की वृत्तियां हैं, पर इन्हें भी अलंकार मान लिया गया। परन्तु इन वृत्तियों को अलंकार मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता।

यदि "अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः" इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बोधित करण रूप अलंकार का प्रयोजन है तो सूक्ष्म, पिहित और प्रमाण आदि की गणना अलंकारों में सम्भव नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखकर ही शायद समय समय पर अलंकारों की संख्या को कम करने का प्रयास होता रहा है। वामन ने प्रतिवस्तु आदि पच्चीस अलंकारों को उपमा का प्रपंचमात्र कह कर वस्तुतः ८ अलंकार ही मुख्य माने थे। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी इसी प्रकार का स्तुत्य प्रयास करके केवल १३ अलंकार ही बताए थे। वैसे उन्होंने दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, सन्देह और अपन्हुति—ये २० अलंकार माने हैं। इनमें भी कुन्तक ने प्रतिवस्तूपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, निदर्शना, परिवृत्ति और सहोक्ति का उपमा में,[1] और समासोक्ति का श्लेष में,[2] अन्तर्भाव करके १३ मुख्य अलंकार स्वीकार किये हैं।[3] उनके अनुसार अन्यत्र जिन अन्य अलंकारों का वर्णन हुआ है वे या तो शोभाशून्य हैं अथवा इन्हीं उपर्युक्त अलंकारों में उनका अन्तर्भाव हो सकता है। अतः उन्हें अलंकार नहीं मानना चाहिए। रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, उदात्त और समाहित के अलंकारत्व का तो उन्होंने स्पष्ट खण्डन किया ही है।

कुन्तक के पश्चात् जयदेव ने भी शुद्धि, संसृष्टि और संकर आदि को अलंकार नहीं माना है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ चन्द्रालोक के पांचवें मयूख में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।

शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी ॥ ५-११६ ॥

१—वक्रोक्तिजीवितम्–आचार्य विश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या सहित-तृ० उन्मेष पृ०—४३९-४४९-४६०

२—वही—पृ० ४५६

३—भूषणान्तर भावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचन्नालंकारतया मनाक् ॥३-४४॥ वक्रोक्ति जीवितम्

अर्थात् शुद्धि, एक प्रधानत्व, संसृष्टि तथा संकर को प्रसिद्ध अलंकारों का ही उनमें विन्यास होने के कारण अलंकारान्तर नहीं माना जा सकता। इन्हें भिन्न अलंकारों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार मालोपमा और रसनोपमा को भी वे पृथक् अलंकार नहीं मानते :—

माला परम्परा चैषां भूयसामनुकूलके।
मनुष्ये भवतः क्वापि ह्यलंकारांगतां गते ॥ ५-१२१ ॥

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार अलंकारों (भूषणों) की माला और परम्परा मनुष्य के शरीर की शोभा बढ़ाते हैं उसी प्रकार काव्य में भी वे शोभावर्धक होते हैं। परन्तु मालोपमा, रसनोपमा एवं मालारूपक को भिन्न अलंकार नहीं कहा जा सकता—क्योंकि उनमें पाए जाने वाले अलंकारों का बोध समाप्त नहीं होता और न उनमें उनसे भिन्न अलंकार का ही ज्ञान हो पाता है।

इस प्रकार अलंकारों की संख्या को कम करने के प्रयत्न होने पर भी उनके भेदोपभेद बनते ही गए और अप्पय दीक्षित तक पहुँचते पहुँचते उनकी संख्या १२३ तक पहुँच गई।

हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में इस दिशा में कोई नवीन बात कथन योग्य नहीं प्रतीत होती। क्योंकि हिन्दी आचार्यों ने किसी न किसी संस्कृत ग्रन्थ को आधार बनाकर ही अपनी रचनाएँ की हैं। हाँ, केशव और भूषण ने अवश्य कुछ नवीन अलंकारों की उद्भावना की थी, पर वस्तुतः उन अलंकारों का संस्कृत ग्रन्थों में वर्णित किसी न किसी अलंकार में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अलंकारों की संख्या हिन्दी-ग्रन्थों में न्यूनाधिक रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुई।

अलंकारों के प्रयोग में औचित्य

अलंकारों के प्रयोग में औचित्य का ध्यान रखा जाना अति आवश्यक है। उचित स्थान पर प्रयोग करने से ही अलंकार का अलंकारत्व रह सकता है।[1] अन्यथा उनके प्रयोग से काव्य का कोई उपकार नहीं होगा, अपितु अपकार ही होगा।

आभूषणों की शोभा सुन्दर शरीर में ही संभव है। सुन्दर शरीर ही आभूषणों के समुचित प्रयोग से और भी अधिक सुन्दर दिखाई पड़ने लगता है। अतः इस दृष्टि से अचेतन शव, किसी यति का शरीर अथवा यौवनविहीन किसी नारी का शरीर अलंकारों से अलंकृत होने का अधिकारी नहीं है।[2] क्योंकि शव में अलंकृत

१—उचित विन्यासादलंकृतिरलंकृतिः। औचित्य विचार चर्चा पृ० ६

२—तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यति शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्।

होने की योग्यता नहीं है, और यति अथवा वृद्धा सभी के शरीर अलंकारों से हास्यास्पद ही प्रतीत होंगे। पर स्वस्थ और सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग करते समय औचित्य का ध्यान रखने की आवश्यकता है। अंजन की रेखा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है, मुक्ताहार की शोभा उन्नत कुचों पर ही होती है :—

दीर्घापांगं नयनयुगलं भूषयत्यंजनश्री—
स्तुंगाभोगौ प्रभवति कुचावर्चितुं हारयष्टिः।
मध्ये क्षामे वपुषि लभते स्थानकूर्पास लक्ष्मीः।
श्रोणीविम्बे गुरुणि रशनादाम शोभां बिभर्ति ॥१-१६०॥ स०कं०भ०

इसी प्रकार अलंकारों की शोभा भी सरस काव्य में ही हो सकती है। सरस काव्य ही अलंकारों के आदर्श प्रयोग से और भी अधिक सरस एवं मनोमोहक बन सकता है। नीरस काव्य में अलंकारों के प्रयोग से सरसता नहीं आ सकती। वहाँ तो अलंकारों का प्रयोग उक्तिवैचित्र्यमात्र ही जान पड़ेगा। मम्मट ने इसी बात को अपने काव्य प्रकाश में भी कहा है :—

'यत्र तु नास्ति रसः तत्र (अलंकाराः) उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः।[1]

अतः अलंकारों द्वारा काव्य-सौन्दर्य का उत्कर्ष, करने के लिए उसमें सरसता का होना आवश्यक है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि अलंकारों का प्रयोग सरस काव्य में ही होना चाहिए। परन्तु जिस प्रकार स्वस्थ सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों के प्रयोग में औचित्य की अपेक्षा होती है, (क्योंकि कण्ठ में मेखला, हाथ में नूपुर शोभा नहीं दे सकते) उसी प्रकार सरस काव्य में भी अलंकारों के उचित प्रयोग की आवश्यकता है। क्योंकि अनुचित अलंकारों के प्रयोग से सरस काव्य का भी कोई उपकार न होगा। मम्मट भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहते हैं:—"क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।" ध्वन्यालोककार ने भी इसी कारण, वियोग शृंगार में यमक आदि का प्रयोग वांछनीय नहीं बताया।[2]

शब्दालंकारों के प्रयोग के विषय में कतिपय संस्कृत आचार्य आशंकित रहे हैं और उन्होंने उनका तीव्रविरोध तक किया है परन्तु अर्थालंकारों के प्रयोग के विषय में उन्हें कोई भय नहीं है। हाँ, उनके स्वस्थ प्रयोग के अवश्य ही वे इच्छुक हैं। अलंकारों का स्वस्थ प्रयोग तभी हो सकता है जब वे रस भाव आदि के अंग बनकर अथवा साधन बनकर आते हैं, अंगी या साध्य बनकर नहीं। उनके स्वस्थ प्रयोग के विषय में ध्वन्यालोककार का कथन है।

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम्।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥ २-६ ॥ ध्वन्यालोक

१—काव्य प्रकाश—आठवां उल्लास पृष्ठ २८५

२— ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥२-६॥ ध्वन्यालोक

अलंकारों के प्रयोग के लिए यत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। यत्नपूर्वक अलंकारों को लाने से तो उद्देश्य की हानि होती है। अलंकारों का सौन्दर्य काव्य को किसी प्रकार की हानि पहुँचाए बिना तभी प्रकट होता है जब कि वे स्वतः ही स्वाभाविक रूप में काव्य के भीतर उपस्थित होते हैं। अनायास रूप में आए हुए अलंकार ही ध्वनि के उपकारक होते हैं। प्रतिभावान् कवि को इसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसकी सरस रचना में वे स्वतः ही चले आते हैं :—

"अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि प्रतिभावतः कवेरहंपूर्विकया परापतंति।" (ध्वन्यालोक—वृत्ति भाग पृष्ठ ८७)

अतः अपृथग्यत्न रूप में अलंकारों के प्रयोग से जहाँ रसानुकूलता की प्राप्ति होती है, वहीं अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग समझना चाहिए। रसानुकूलता की प्राप्ति ही अलंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है।

ध्वन्यालोककार ने इसके लिए कुछ साधन सुझाए हैं :—

विवक्षातत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथंचन।
काले च ग्रहणत्यागौ, नातिनिर्वहणैषिता॥ २-१९
निर्व्यूढावपि चांङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलंकारवर्गस्यांङ्गत्वसाधनम्॥ २-२० ध्वन्यालोक

अर्थात्,

१—रूकादि अर्थालंकारों की अंगरूप से विवक्षाकरना

२—अंगी रूप में विवक्षा न करना

३—समय पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना

४—अन्त तक निर्वाह करने का प्रयत्न न करना

५—यदि आद्यन्त निर्वाह हो भी जाय तो अंग रूप में ही उनको बनाने का प्रयत्न करना।

इन सभी का तात्पर्य यही है कि अलंकारों का प्रयोग रस के अंग रूप में ही होना चाहिए। अर्थात् इस प्रकार से उनका प्रयोग किया जाय कि वे साधन बनकर ही रहें, साध्य न बन जायें। इसके लिए कवि को अपनी समीक्षा बुद्धि से काम लेने की आवश्यकता है, तभी रूपकादि अलंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे :—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशतः।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम्॥ २-१८ ध्वन्यालोक

इसी प्रकार यदि शब्दालंकार भी बिना यत्न के ही रसोपयोगी बन सकते तो, संस्कृत आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी महत्व दिया होता और उनके प्रयोग में फिर उन्हें आशंकित होने का कोई अवसर न होता। पर शब्दालंकारों में प्रयत्न की आवश्यकता पड़ जाती है और इस प्रयत्न के कारण शब्दालंकारों में रसोपयोगिता की अपेक्षा चमत्कार ही अधिक रहता है। फलतः उन्हें अर्थालंकारों के समान कतिपय आचार्यों ने महत्व प्रदान नहीं किया।

अलंकार का ऐतिहासिक विकास

अलंकार आज की वस्तु न होकर बहुत ही प्राचीन है। जब से साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ है तभी से अलंकार की सत्ता विद्यमान है। यद्यपि वैदिक साहित्य में अलंकार शास्त्र का निर्देश नहीं है और न वेदों के षडंगों में ही कहीं उसकी गणना की गई है तथापि उस शास्त्र के मूल अलंकार के उदाहरण वेदों और उपनिषदों में मिल जाते हैं। उपमालंकार तो सबसे अधिक प्राचीन है। कविता के आदि काल से ही इसका सम्बन्ध जान पड़ता है। ऋग्वेद वैदिक साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उस ऋग्वेद की ऋचाओं में कई अलंकारों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उपमा का उदाहरण उषा सम्बन्धी ऋचा में देखिए :—

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव न रिणीते अप्सः॥ ऋ० १-१२४।

यहाँ एक तो क्या चार चार उपमाएँ एक साथ निर्दिष्ट की गई हैं।

अतिशयोक्ति का उदाहरण :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ ऋ० १-१६४=२०

साथ रहने वाले परम मित्र दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक फलों का आस्वादन करता है, और न खाने वाला दूसरा प्रकाशित होता है।

कठोपनिषद् के निम्नलिखित मंत्र में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग देखिए :—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥ कठ० १-३-३

आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी तथा मन को लगाम समझो। यहाँ आत्मा और रथी, शरीर एवं रथ, बुद्धि एवं सारथी तथा मन एवं लगाम में अभेद विवक्षा होने से रूपकालंकार है।

इन उदाहरणों से ज्ञात हो जाता है कि वैदिक साहित्य में अलंकारों का प्रयोग होता था। परन्तु उस युग में अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन नहीं होता था।

वैदिक साहित्य के पश्चात् निरुक्तों में अलंकारों का वर्णन मिलता है। उनमें उपमा के लक्षण, भेद आदि का भी निरूपण मिलता है। इस निरूपण को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि उपमा जैसे अलंकारों का अब शास्त्रीय विवेचन होने लगा था। निघण्टु और निरुक्त में उपमा के वर्णन और उसके वर्गीकरण का विवेचन हुआ है। भाषा के विवेचन के पश्चात् उसे अलंकृत करने वाले अलंकारों की ओर शास्त्रियों की दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है। निरुक्त में अलंकार का पारिभाषिक

अर्थ नहीं मिलता, पर निघण्टु में वैदिक उपमा के परिचायक बारह अव्ययों का उल्लेख किया गया है। निरुक्तकार गार्ग्य ने उपमा का लक्षण लिखा है। यथा, "उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति।" अर्थात् जहाँ एक वस्तु दूसरी से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। गार्ग्य के इस लक्षण को देखकर आचार्य मम्मट के 'साधर्म्यं उपमा' वाला लक्षण याद आ जाता है। दुर्गाचार्य ने भी लगभग यही लक्षण उपमा का लिखा है।

आगे चलकर प्रसिद्ध निरुक्तकार यास्क ने उपमा के पाँच भेद किए हैं। इव, यथा, न, चित्, नु और आ उपमा के द्योतक निपातों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। यास्क के वर्गीकरण के अनुसार १—कर्मोपमा २—भूतोपमा ३—सिद्धोपमा ४—अर्थोपमा और ५—लुप्तोपमा ये पाँच उपमा के भेद हैं। इस प्रकार ईसा से ५०० वर्ष पूर्व पाणिनि के समय तक उपमा की शास्त्रीय विवेचना होने लगी थी।

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में उपमा, उपमान, उपमित और सामान्य जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है।[1] उन्होंने अपने व्याकरण ग्रन्थ में उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक एवं साधारण धर्म-उपमा के इन चारों अंगों का निर्देश किया है। साथ ही कृत्, तद्धित, समासान्त, प्रत्ययों, समास-विधान एवं स्वर के ऊपर जो सादृश्य का प्रभाव पड़ता है उसका भी पाणिनि के सूत्रों में उल्लेख मिलता है। इस विषय में वार्तिककार कात्यायन मुनि भी पाणिनि के अनुयायी हैं। पातंजलि ने भी अपने महाभाष्य में उपमान शब्द की व्याख्या की है। उन्होंने 'गौरिव गवयः' का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह उदाहरण काव्यशास्त्र में उपमालंकार के उदाहरण के रूप में सौन्दर्य के अभाव में स्वीकृत नहीं किया गया है, तथापि अलंकारों के इतिहास की दृष्टि से इसका बड़ा महत्व है।

उपमा का जो श्रौती और आर्थी नाम से वर्गीकरण किया जाता है उसका आधार पाणिनि के ही सूत्र हैं। आर्थी उपमा वहाँ होती है जहाँ साधर्म्य की प्रतीति तुल्य, समान आदि पदों के द्वारा होती है।[2] 'तत्र तस्येव' पाणिनि-सूत्र के अनुसार जब इव के अर्थ को प्रकट करने के लिए वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है, तब श्रौती उपमा होती है। जैसे—"मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादः" यहाँ 'मथुरावत्' में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से लेकर जोड़ा गया है। इसका अर्थ होता है 'मथुरायामिव'।

१—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्याम् तृतीयान्यतरस्याम्। २-३-७२
उपमानानि सामान्य वचनैः। २-१-५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्यप्रयोगे। २-१-५६

२—श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥१०-१६॥ सा० द०

अर्थात् पाटलिपुत्र में मथुरा के महलों के समान महल हैं। 'ब्राह्मणवत् अधीते क्षत्रियः' इस वाक्य में आर्थी उपमा है। यह 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' सूत्र के अनुसरण पर है। इसी प्रकार कर्म और आधार में 'क्यप्' और 'क्यङ्' प्रत्ययों के विधान करने पर अनेक प्रकार की लुप्तोपमाएँ बनती हैं। इस प्रकार उपमा का यह विभाजन पाणिनि-सूत्रों के आधार पर किया गया है। सर्वप्रथम उपमा के इस विभाजन को आचार्य उद्भट ने किया था। यह सब कथन करने का प्रयोजन यही दिखाना है कि किस प्रकार व्याकरण शास्त्रियों ने अलंकार के विकास में अपना योग दिया।

इसके पश्चात् सर्वप्रथम भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' में ही हमें अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन मिलता है। परन्तु उन्होंने अपने शास्त्र में केवल चार अलंकारों उपमा, रूपक, दीपक और यमक का ही निरूपण किया है और वह भी नाटक के सम्बन्ध में। यह वर्णन हमें नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में मिलता है। भरतमुनि ने इन अलंकारों को वाचिक अभिनय का एक अंग माना था।

परन्तु अलंकारों का क्रम-बद्ध वैज्ञानिक विवेचन करने वाला सर्वप्रथम ग्रन्थ आचार्य भामह का काव्यालंकार ही है। भरतमुनि ने जिस प्रकार केवल दृश्य काव्य का विवेचन करके रस को प्रधानता दी थी, उसी प्रकार भामह ने भी केवल श्रव्य काव्य के अंगों का वर्णन करके अलंकारों को प्रमुखता दी। भामह का वर्णन इतना सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक है कि सहसा उसे अंलकार-शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ मान लेना उचित प्रतीत होता है। सम्भवतः रस परम्परा की भांति अलंकारों की भी कोई एक परम्परा रही थी और उसी के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप भामह ऐसा वैज्ञानिक ग्रन्थ लिखने में समर्थ हो सके। भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती आचार्य मेधाविन् आदि का उल्लेख बड़े आदर के साथ किया है। ऐसा जान पड़ता है कि इस अलंकार-परम्परा का विकास भाषा की सूक्ष्म-परीक्षा के साथ साथ होने लगा था।

मेधाविन् के किसी भी ग्रन्थ का अभी तक तो पता चला नहीं है। अतः यह कहना कठिन है कि उन्होंने कितने अलंकारों का वर्णन किया था। सबसे पहले नाट्य-शास्त्र में ही प्रसंगवशात् उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का उल्लेख मिलता है। भटिट् काव्य में ३८ अलंकारों का उल्लेख पाया जाता है। भामह ने भी ३८ अलंकार माने हैं और वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण बताया है। वे वक्रोक्ति के बिना किसी अलंकार की कल्पना भी नहीं कर सकते, वे स्पष्ट लिखते हैं :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ।

भामह ने अलंकार को काव्य का प्रधान अंग मानकर रस और भाव का भी उसी में अन्तर्भाव कर लिया है। वक्रोक्ति को अलंकारों का जीवन-विधायक-तत्व मानने के कारण उन्होंने सूक्ष्म, हेतु और लेश को अलंकार स्वीकार नहीं किया।

भामह के बाद दण्डी ने अलंकार के विवेचन को और भी समृद्ध बनाया। । उन्होंने 'काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते' कहकर अलंकार को काव्य का शोभा विधायक धर्म माना । जिसका यह तात्पर्य है कि काव्य की शोभा सर्वथा अलंकार के आश्रित है, अतः वह काव्य का सहज और शाश्वत गुण है । दण्डी ने ३५ अलंकार माने हैं । उन्होंने भामह के उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा आदि को छोड़ दिया है । पर वक्रोक्ति के अभाव में भामह द्वारा परित्यक्त सूक्ष्म, हेतु और लेश को दण्डी ने अलंकार के रुप में स्वीकार किया । उन्होंने यमक, प्रहेलिका और चित्रबन्ध आदि का विस्तृत विवेचन करके शब्दालंकार को अधिक विस्तृत बनाया । दण्डी ने वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशयोक्ति को अलंकार का प्राण माना । यथा :—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ।।

परन्तु भामह और दण्डी दोनों के आशय में केवल शब्द भेद है । वस्तुतः दोनों का भाव है लोकोत्तर चमत्कार । इसी बात को परवर्ती आचार्यों ने भी 'एवं चातिश्योक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यः" कहकर स्पष्ट कर दिया है फिर भी दण्डी की दृष्टि भामह की अपेक्षा अधिक उदार है ।

दण्डी के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलंकार-सम्प्रदाय की अधिक वृद्धि की । उन्होंने 'भामह विवरण' नाम से भामह के सिद्धान्तों की व्याख्या की है, पर उनका विवरण भामह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और समृद्ध है । उन्होंने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास नये अलंकारों को जन्म दिया । और अलंकारों की संख्या ३८ से ४१ तक पहुँचा दी । अनुप्रास के भेदों की संख्या में भी उन्होंने वृद्धि की । श्लेष के उन्होंने शब्द श्लेष और अर्थ श्लेष दो भेद करके उन्हें अर्थालंकार माना । तथा व्याकरण के आधार पर उपमा के अनेक भेद प्रभेद किए । 'अलंकार-सार-संग्रह' में उन्होंने अलंकारों का वर्णन किया है । इन अलंकारों को उन्होंने छह भागों में विभक्त किया है ।

उद्भट के पश्चात् आलंकारिकों में वामन का नाम बड़े आदर से लिया जाता है । यद्यपि वे रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं, तथापि अलंकारों के विवेचन में भी उन्होंने अपनी मौलिकता का प्रदर्शन किया है । उन्होंने उपमा को मुख्य अलंकार मानते हुए अन्य अलंकारों को उपमा का प्रपंच ही माना है । वक्रोक्ति के विषय में उनकी कल्पना नितान्त मौलिक है । उन्होंने इसे अर्थालंकार माना है । उनके अनुसार "सादृश्यात् लक्षणावक्रोक्तिः" सादृश्य से उत्पन्न होने वाली लक्षणा ही वक्रोक्ति है । 'आक्षेप' अलंकार के उन्होंने दो भेद किए । पर इनमें से एक को मम्मट ने 'प्रतीप' अलंकार माना है । और दूसरे को 'समासोक्ति' ।

तदुपरान्त रुद्रट ने निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर अलंकारों का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया । अपने 'काव्यालंकार' ग्रन्थ में उन्होंने अलंकारों का विवेचन किया

है। रुद्रट को वस्तुतः अपने वैज्ञानिक विवेचन के कारण अलंकार सम्प्रदाय का सर्व प्रथम आचार्य माना जाना चाहिए। यद्यपि वे रस पूर्ण काव्य की महत्ता को स्वीकार करते हुए रस-विधान का निरूपण अपने ग्रन्थ में अवश्य करते हैं, पर उनका आग्रह 'अलंकार-सिद्धान्त' पर विशेष है। उन्होंने अलंकारों के सूक्ष्म भेद प्रभेदों का स्पष्टीकरण करके उनकी संख्या ५० से ऊपर पहुँचा दी। वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष नामक चार तत्वों के आधार पर रुद्रट ने अर्थालंकारों का विभाजन किया। यद्यपि यह विभाजन सर्वमान्य नहीं हुआ तथापि इससे उनकी मौलिक प्रतिभा का परिचय अवश्य मिल जाता है।

रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से चली आ रही थी, उसका उन्होंने सर्व प्रथम परिमार्जन करके रसवत् आदि अलंकारों को अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने अनेक नवीन अलंकारों की कल्पना भी की। 'भाव' नामक अलंकार बिल्कुल नवीन है, पर आगे चलकर मम्मट और आनन्द वर्धन ने उसे अलंकार न मानकर 'गुणीभूत व्यंग्य' का एक प्रकार माना है। मत, साम्य एवं पिहित उनके और नवीन अलंकार हैं। कुछ प्राचीन अलंकारों को नवीन नाम भी उन्होंने दिए। जैसे भामह के 'व्याजस्तुति' को उन्होंने 'व्याजश्लेष' नाम दिया है। इनका 'अवसर' अलंकार मम्मट के 'उदात्त' का दूसरा प्रकार, इनकी 'जाति' मम्मट की 'स्वभावोक्ति' और 'पूर्व' अलंकार 'अतिशयोक्ति' का चौथा प्रकार है।

अलंकार के क्रमिक-विकास का अध्ययन करते समय कुन्तक का नाम विस्मरण नहीं किया जा सकता। यद्यपि अलंकारों के विकास में उन्होंने कोई विशेष योग नहीं दिया तथापि वक्रोक्ति को अलंकारों का प्राण सिद्ध करते हुए आलंकारिकों में उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। उन्होंने रस और ध्वनि को पृथक् स्थान न देकर वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत माना। परवर्ती आलंकारिकों पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा।

रुद्रट के उपरान्त आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वनि-सिद्धान्त' की उद्भावना की, जिसके अनुसार ध्वनि काव्य की आत्मा अंगीकार की गई और अलंकारों को काव्य में निम्नतर स्थान दिया गया। यहीं से रस और ध्वनि को काव्य में प्रमुख स्थान दिया जाने लगा और अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म माने जाने लगे।

आचार्य मम्मट ने 'ध्वनि-सिद्धान्त' की पुष्टि की। उन्होंने अलंकारों को उचित गौरव अवश्य दिया, पर उन्हें काव्य के लिए अनिवार्य नहीं माना। अपने एक मात्र ग्रन्थ 'काव्य प्रकाश' के नवें और दसवें उल्लास में उन्होंने क्रमशः शब्दालंकार और अर्थालंकार का निरूपण किया है। यहाँ मम्मट ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों-भामह दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि-के मतों की परीक्षा करते हुए अनेक संशोधन और परि-

वर्तन किए हैं। अब अलंकारों की संख्या ७० हो गई। ६ शब्दालंकार और चौंसठ अर्थालंकार। इनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम - ये पाँच नवीन अलंकार हैं।

मम्मट के पहले भोजराज ने ७२ प्रकार के अलंकारों का विवेचन अपने 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ के दूसरे, तीसरे और चौथे परिच्छेदों में किया है। उन्होंने २४ शब्दालंकार, २४ अर्थालंकार और २४ उभयालंकार माने हैं।

अलंकारों का विवेचन करते समय 'अग्निपुराण' का उल्लेख आवश्यक है। इसके साहित्यखण्ड के रचना-काल के विषय में अभी तक विवाद है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके लेखक ने इसे उपयोगी बनाने के लिए प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों का संग्रह मात्र कर दिया है, किसी मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना उसने नहीं की।

मम्मट के पश्चात् रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' की रचना की। उन्होंने 'विकल्प' और 'विचित्र' नामक दो नये अलंकारों की कल्पना की। साथ ही उन्होंने रुद्रट के अलंकार सम्बन्धी वर्गीकरण को अपर्याप्त मान कर नए वर्गीकरण की उद्भावना की। उनका वर्गीकरण इस प्रकार है:— सादृश्य गर्भ, विरोध गर्भ, श्रृंखलाबद्ध, न्याय-मूल, गूढ़ार्थप्रतीति-मूल और संकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग में न रख कर स्वतंत्र माना।

हेमचन्द्राचार्य ने अपने 'काव्यानुशासन' में छः प्रकार के शब्दालंकारों और २९ प्रकार के अर्थालंकारों का विवेचन किया। उन्होंने 'संसृष्टि' को 'संकर अलंकार के भीतर ही माना है और 'तुल्ययोगिता' को 'दीपक' के भीतर। उन्होंने 'परावृत्ति' नामक नवीन अलंकार की कल्पना भी की, जिसके भीतर मम्मट का 'पर्याप्त' एवं 'परिवृत्ति' अलंकार आ जाता है। 'निदर्शना' के अन्तर्गत उन्होंने प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना अलंकारों का सन्निवेश किया।

इनके पश्चात् वाग्भट, अमरचन्द्र, देवेश्वर, विश्वनाथ, केशवमित्र, कवि कर्णपूर, आशाधर भट्ट, विश्वेश्वर, आदि पंडितों ने भी अलंकारों पर अनेक ग्रन्थ लिखे, पर इस क्षेत्र में उनकी अपनी कोई मौलिक देन नहीं है। जयदेव, विद्याधर और अप्पय दीक्षित आदि पंडितों ने पुनः एक बार अपने सत्प्रयत्नों से अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करना चाहा, पर वे सफल न हो सके।

इसके उपरान्त यह अलंकार-परम्परा हिन्दी-साहित्य में रीति-ग्रन्थकारों ने अपनाई। इन हिन्दी रीतिकारों ने संस्कृत-काव्य-शास्त्रों को ही अपने ग्रन्थों का आधार बनाया। उन्होंने अपनी कोई नवीन मौलिक उद्भावनाएँ नहीं कीं। क्योंकि इन लोगों ने संस्कृत-साहित्य की परम्परागत शास्त्रीय एवं काव्यात्मक सम्पत्ति का अपने को उत्तराधिकारी समझा। फलतः उन्होंने देववाणी में लिखित विचारों, सिद्धान्तों एवं नियमों का विरोध करना उचित नहीं समझा और न हिन्दी-काव्य

के आधार पर नये सिद्धान्तों एवं नियमों की खोज ही की। उस समय संस्कृत का ज्ञान रखने वाले कविगण हिन्दी में काव्य-रचना करना भी हेय समझते थे। क्योंकि संस्कृत काव्य का विद्वान लोग समादर करते थे और हिन्दी काव्य को पढ़ने सुनने वाले या तो कुछ वर्ग के लोग होते थे या वे लोग होते थे जिन्हें संस्कृत का ज्ञान नहीं होता था। अतः संस्कृत के प्रकाण्ड आचार्यों के सामने हिन्दी काव्य के लिए नए नियमों या सिद्धान्तों का बनाना और संस्कृत काव्य-शास्त्रों के सिद्धान्तों को न अपनाना उनके लिए हास्यास्पद ही होता। फल यह हुआ कि हिन्दी रीतिग्रन्थकारों ने संस्कृत-ग्रन्थों को आधार बनाकर ही अपने ग्रन्थों की रचना की, नये सिद्धान्तों की कल्पना उन्होंने नहीं की।

भामह के समय में अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। रस, रीति, अलंकार आदि सभी के लिए अलंकार शब्द का व्यवहार होता था। केशवदास की कवि-प्रिया में भी हम यही बात देखते हैं। उसमें अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके सामान्य के अन्तर्गत वास्तविक अलंकार रक्खे गए हैं। परन्तु हिन्दी में रीतिग्रन्थों की परम्परा केशव के तुरन्त बाद न चल कर उनके ५०, ६० वर्षों पश्चात् प्रारम्भ हुई। यह परम्परा उद्भट आदि के परवर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट हो चुका था। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में काव्य-प्रकाश और साहित्य दर्पण का भी आधार पाया जाता है।[1] इस विषय पर आगे विस्तृत प्रकाश डाला जायगा।

कुछ लोगों के अनुसार भूषण का भाविक छवि नया अलंकार है, परन्तु वह वास्तव में संस्कृत के भाविक का ही दूसरा परिवर्तित रूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि भाविक का सम्बन्ध कालगत दूरी से होता है और भूषण के भाविक छवि का सम्बन्ध देशगत दूरी से होता है। दास जी ने अतिशयोक्ति के जो पांच नए भेद किए हैं उनमें से चार तो भेदों के भिन्न भिन्न योग हैं। अन्तिम 'सम्बन्धातिशयोक्ति' ही है।

केशवदास ने रुपक के जो अद्भुत, विरुद्ध और रूपक-रूपक ये तीन भेद किये हैं वे वस्तुतः दण्डी से लिए गए हैं। उनके जो लक्षण किये गए हैं और उदाहरण दिए गए हैं वे बहुत गड़बड़ हो गए हैं। इसी प्रकार भ्रम, सन्देह और स्मरण अलंकारों के लक्षणों में हिन्दी आलंकारिकों ने सादृश्य की बात बिलकुल छोड़ दी। फलस्वरूप इनके लिये जो उदाहरण दिए गए हैं वे अधिकतर स्थानों में अलंकार के उदाहरण न होकर भाव के उदाहरण बन गये हैं। इस प्रकार हिन्दी-ग्रन्थों में अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में एक-

---

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल

रूपता नहीं मिलती। परन्तु एक बात अवश्य ही प्रशंसनीय है। वह यह कि हिन्दी कवियों ने अलंकारों के लिए जो उदाहरण दिए हैं, वे अन्य किसी कवि के न होकर उनके स्वयं के बनाए हुए हैं, जिनमें उनकी कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। अतः वे आलंकारिक या रीति-ग्रन्थकार होने के साथ साथ कवि भी थे। संस्कृत काव्य शास्त्र में हमें यह बात देखने को नहीं मिलती। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने लक्षण तो अवश्य अपने दिये हैं, पर उदाहरण अन्य कवियों के काव्यों से उद्धृत किए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थों में नवीनता, मौलिकता का सर्वथा अभाव है। साथ ही अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में भी अधिकतर स्थलों पर संगति और एकरूपता नहीं हैं। कई कवियों ने तो उनमें बड़ी शिथिलता और गड़बड़ी भी कर दी है।

हिन्दी-साहित्य में जो अलंकार-ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जिनके विषय में दूसरे ग्रन्थों से पता चलता है, पर उपलब्ध नहीं हैं, उनको यहाँ एक सूची में प्रस्तुत किया जा रहा है। यह सूची डा० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ के आधार पर है।

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१—गोपा	अलंकार चन्द्रिका	
२—करनेस	कर्णाभरण, श्रुतिभूषण, भूप भूषण	सं० १६३७ के लगभग
३—छेमराज	फतेह प्रकाश	सं० १६८५
४—जसवन्तसिंह	भाषा-भूषण	सं० १६९५
५—मतिराम	ललित ललाम	सं० १७१६-१७४५ के बीच
६—भूषण	शिवराज भूषण	सं० १७३० के लगभग
७—गोपाल राय	भूषण विलास	सं० १७३६ के लगभग
८—बलवीर	उपमालंकार	सं० १७४१ के लगभग
९—सूरति मिश्र	अलंकार माला	सं० १७६६ वि०
१०—श्रीपति	अलंकार गंगा	सं० १७७० के लगभग
११—गोप	रामचन्द्राभरण, रामचन्द्र भूषण	सं० १७७३ वि०
१२—रसिक सुमति	अलंकार चन्द्रोदय	सं० १७८६ वि०
१३—भूपति गुरुभक्तसिंह	कंठा भूषण	सं० १७९१ के लगभग
१४—वंशीधर	अलंकार रत्नाकर	सं० १७९२ वि०
१५—रघुनाथ	रसिक मोहन	सं० १७९६ वि०
१६—गोविन्द कवि	कर्णाभरण	सं० १७९७ वि०
१७—दूलह	कविकुल कंठाभरण	सं० १८०० के लगभग

लेखक	ग्रन्थ	रचनाकाल
१८—शम्भुनाथ मिश्र	अलंकार दीपक	सं० १८०६ के लगभग
१९—गुमान मिश्र	अलंकार दर्पण	सं० १८१८ वि०
२०—बैरीसाल	भाषा भरण	सं० १८२५ वि०
२१—नाथ (हरिनाथ)	अलंकार दर्पण	सं० १८२६ वि०
२२—रत्नेश या रतन कवि	अलंकार दर्पण	सं० १८२७ वि०
२३—दत्त	लालित्यलता	सं० १८३० के लगभग
२४ महाराज रामसिंह	अलंकार दर्पण	सं० १८३० के लगभग
२५—ऋषिनाथ	अलंकार मणि मंजरी	सं० १८३१ वि०
२६—सेवादास	रघुनाथ अलंकार	सं० १८४० वि०
२७—चंदन	काव्याभरण	सं० १८४५ वि०
२८—भान कवि	नरेन्द्र भूषण	सं० १८५६ वि०
२९—ब्रह्मदत्त	दीप प्रकाश	सं० १८६५ वि०
३०—संग्रामसिंह	काव्यार्णव	सं० १८६६ के लगभग
३१—पद्माकर	पद्माभरण	सं० १८६७ के लगभग
३२—बलवानसिंह	चित्र-चन्द्रिका	सं० १८८९ वि०
३३—प्रतापसिंह	अलंकार चिन्तामणि	सं० १८९४ वि०
३४—चतुर्भुज	अलंकार आभा	सं० १८९६ वि०
३५—लेखराज	लघु भूषण	सं० १९०० के लगभग
३६—ग्वाल	अलंकार भ्रमभंजन	—
३७ शालिग्राम शाकद्वीपी	भाषाभूषण की समालोचना	सं० १९२० के लगभग
३८—कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकार प्रकाश	सं० १९५३ के लगभग
३९—भगवान दीन	अलंकार मंजूषा	सं० १९७३ वि०
४०—कन्हैयालाल पोद्दार	अलंकार मंजरी	सं० १९९३ वि०
४१—जगन्नाथ प्रसाद भानु	अलंकार दर्पण	—
४२—रामशंकर शुक्ल रसाल	अलंकार पीयूष	सं० १९८६ वि०
४३—अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण	सं० १९८७ वि०

ये वे अलंकार ग्रन्थ हैं जिनमें केवल अलंकारों का ही विवेचन है, पर इनके अतिरिक्त दूसरे प्रकार के ग्रन्थ भी हिन्दी में उपलब्ध हैं जिनमें अलंकारों के साथ साथ काव्य के अन्य अंगों-रस, भाव, गुण, दोष आदि का भी निरूपण हुआ है। ऐसे ग्रन्थों को हम मिश्रित अलंकार ग्रन्थ अथवा काव्य शास्त्र की संज्ञा दे सकते हैं। भाषा भूषण, कविकुलकल्पतरु, रसपीयूषनिधि, रस-रहस्य, साहित्य सुधानिधि आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों की पूर्ण जानकारी रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी

साहित्य का इतिहास' तथा डा० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थों से की जा सकती है ।

अलंकार और अलंकार्य

जो अन्तर लक्षण और लक्ष्य में, आधेय और आधार तथा आश्रय आश्रयी में है, वही अन्तर अलंकार और अलंकार्य में है । अलंकार वस्तुतः अलंकृत करने के साधन हैं । 'अलंक्रियतेऽनेनेति अलंकारः' यह अलंकार शब्द की व्युत्पत्ति उक्त कथन को प्रमाणित करती है और 'अलंकर्तुं योग्यः अलंकार्यः' अर्थात् जिसे अलंकृत किया जाता है उसे अलंकार्य कहते हैं । जिस प्रकार लक्ष्य के बिना लक्षण अथवा आधार के बिना आधेय की कोई स्थिति सम्भव नहीं उसी प्रकार अलंकार्य के बिना अलंकार का भी कोई महत्व नहीं । अतः अलंकार साधन और अलंकार्य साध्य है ।

अलंकार और अलंकार्य का यह भेद संस्कृत-काव्य-शास्त्र के अलंकार युग में स्पष्ट नहीं था । भामह और उद्भट के समय में रस, रीति और अलंकार आदि सब के लिए अलंकार शब्द का ही व्यवहार होता था ।[1] अलंकारवादियों की सम्मति में रसादिक अलंकारों से गौण हैं तथा प्रसाद, ओज एवं माधुर्य आदि गुण भी अलंकार ही हैं ।[2] इस प्रकार अलंकार और अलंकार्य का यह भेद स्पष्ट न होने के कारण ही उन्होंने रसों को भी अलंकारों में सम्मिलित करके रसवत्, भावोदय प्रेयस् आदि अलंकारों की कल्पना कर डाली थी । क्योंकि इनमें भी काव्य का शोभाविधायक धर्म मान लिया गया था । दण्डी ने अपने काव्यादर्श में स्पष्ट कहा है :—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवत् रसपेशलम् ।
ऊर्जस्विरूढ़ाहंकारं युक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम् ।। २-२७५

अर्थात् प्रियतर कथन को प्रेयस्, रति इत्यादि स्थायीभावरूप रस से सहृदयानन्दोत्पादक आख्यान को रसवत् तथा अहंकार या गर्व प्रकट करने वाले कथन को ऊर्जस्वित् अलंकार कहते हैं । अलंकारव्यपदेशोपयुक्त उत्कर्ष या वाच्यशोभा इनमें विद्यमान हैं, अतः इन तीनों को अलंकार कहना उचित है ।

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास-संस्करण वि० सं० २० २, पृ० २-३
रामचन्द्र शुक्ल

२—हिन्दी भाषा और साहित्य-संस्करण वि० सं० १९९४, पृ० ३४५
डा० श्यामसुन्दरदास

'अलंकार सर्वस्व' कार ने तो भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता को भी अलंकार ही प्रतिपादित किया है।[१] परन्तु ध्वनि-दर्शन में रस, भाव, को चाहे वह किसी अवस्था में हो अलंकार की कोटि में रखना काव्य की अनभिज्ञता बताया गया है। मम्मट ने भी ध्वनिकार से सहमत होते हुये रसवदादि को अलंकार न मानकर 'गुणीभूत व्यंग्य' काव्य के एक भेद 'अपराङ्ग व्यंग्य' नामक काव्य में उसका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है।[२] वे उन्हें अलंकार नहीं अपितु गुणीभूत व्यंग्य मानना ही उचित समझते हैं।

इसी प्रकार उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिक गुण और अलंकार में साधर्म्य मानते रहे हैं। अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने भी इन आलंकारिकों को गुणालंकार साम्यवादी कहा है।[३] परन्तु वामनाचार्य ने सर्वप्रथम गुण और अलंकार में वैधर्म्य स्थापित करके आलंकारिकों के उक्त मत का खण्डन करते हुए बताया कि गुण और अलंकार भिन्न भिन्न हैं। उन्होंने काव्य शोभा करने वाले धर्म को गुण[४] और काव्य शोभा की वृद्धि के हेतु को अलंकार कहा।[५] मम्मट ने भी ध्वनिवादियों का अनुसरण करते हुए गुणों को अलंकारों से सर्वथा भिन्न बताया। उनके मतानुसार गुण रस के धर्म हैं, वे रस के साथ अपृथक सिद्ध अथवा नियमतः अवस्थित रहते हुए रसतत्व की उसी प्रकार श्रीवृद्धि किया करते हैं जिस प्रकार आत्मा के शौर्य आदि धर्म शरीर में अवस्थित रहते हुए आत्मा की शोभा बढ़ाते रहते हैं।[६] तथा अलंकार वे होते हैं, जो कविता के वाचक और वाच्य—शब्द और अर्थ की सौन्दर्यवृद्धि उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार हार आदि आभूषण किसी सुन्दरी के कण्ठादि अंगों की।[७] परन्तु अलंकारों से शब्दार्थ की सौन्दर्यवृद्धि

१—रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत् प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि भावोदयो भावसन्धिभावशबलता च पृथगलंकारः।
अलंकार सर्वस्व-पृ० २३२-२३८

२—काव्य प्रकाश-डा० सत्यव्रतसिंह कृत शशिकला हिन्दी व्याख्या सहित पृ० १४२-१४५।

३—उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेनचेष्टेः। अलंकार सर्वस्व पृ०—३

४—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः—३-१-१ काव्यालंकार सूत्र

५—तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः—३-१-२ काव्यालंकार सूत्र।

६—ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः। ८-६६ काव्य प्रकाश

७—उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ ८-६७॥ काव्य प्रकाश

तभी सम्भव है जबकि रसरूप कविता का आत्मतत्व सुन्दर हो अन्यथा नीरस कविता के अनुप्रासादि अलंकार पाठकों को केवल उक्तिवैचित्र्य से प्रतीत होते हैं। कभी कभी तो ये अलंकार रसमयी कविता में भी किसी शोभा का आधान नहीं किया करते।[1] इससे स्पष्ट है कि कविता में गुण का जो महत्व है वह अलंकार का नहीं।

आनन्दवर्धन ने भी अलंकारों को रसरूप काव्यात्मतत्व पर नहीं अपितु वाच्यवाचक रूप अंग पर अवलम्बित सिद्ध किया है। उनका कथन है:—

"अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत्

वाच्यवाचक लक्षणान्यङ्गानि ये पुनः अवलम्बन्ते तदाश्रितास्ते ऽलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्"। ध्वन्यालोकलोचन २-६।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रास और उपमा आदि शब्द एवं अर्थ के अलंकार साक्षात् अंगों के अलंकार हैं—वाचक और वाच्य रूप काव्यांगों के शोभावर्धक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार कटक कुण्डल आदि आभूषण कामिनी के शरीर के होते हैं।

लोचनकार ने ध्वनिकार की उपर्युक्त धारणा का विश्लेषण करते हुए लिखा है :—

"अलंकार्यव्यतिरिक्तिश्चालंकारो भ्युपगन्तव्यः, लोके तथासिद्धत्वात् यथा गुणिव्यतिरिक्तो गुणः। गुणालंकारव्यवहारश्च गुणिन्यलंकार्ये च सति युक्तः स चास्मत्पक्ष एवोपयन्न'। ध्वन्यालोकलोचन २-६।

अर्थात् जिस प्रकार गुण गुणी से भिन्न होता है उसी प्रकार अलंकार भी अलंकार्य से भिन्न समझना चाहिए क्योंकि लोक में यही देखा जाता है। अतः गुणी और अलंकार्य होने पर ही गुण और अलंकार का व्यवहार उचित हो सकता है।

निष्कर्ष यह है कि प्राचीन अलंकार शास्त्र में गुण और अलंकार की चर्चा तो थी, परन्तु इस चर्चा का कोई आधार नहीं था। क्योंकि प्राचीन आलंकारिक न तो रस रूप गुणी से परिचित थे जिसकी दृष्टि से माधुर्य आदि गुण वास्तविक गुण जाने जाते और न वे रसरूप अलंकार से ही परिचित थे जिसके दृष्टिकोण से अनुप्रास आदि अलंकार अलंकाररूप में दिखाई पड़ते। गुणी या अलंकार्य के ज्ञान के विना गुण और अलंकार का कोई अभिप्राय नहीं। गुण तो गुणी से सदा अपृथक् रहेगा। परन्तु अलंकार का अलंकार्य से सदैव सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं। अतः

१—यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। ८-६७ वृत्ति-काव्य प्रकाश।

अलंकार रसरूप काव्यात्मतत्व के अंगभूत वाच्यवाचक को अलंकृत ही कर सकेगा। अंग के अलंकार यदि अंगी को अलंकृत दिखावें तो वास्तव में वे अलंकार होंगे। किन्तु ऐसा सदैव होता नहीं है।

अतः गुण और रस में धर्मधर्मी भाव सम्बन्ध और रस एवं अलंकार में भूष्य-भूषक भाव सम्बन्ध अनिवार्य है। धर्म और धर्मी तो सदैव नियम से एक साथ रहेंगे। वे एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते, परन्तु भूष्य (अलंकार्य) और भूषक (अलंकार) परम्परा से ही सम्बद्ध होंगे। इससे गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट हो जाता है। गुण जहां रस के धर्म हैं और रस से अभिन्न अपृथक् सिद्ध रहते हैं, वहाँ अलंकार न तो रस के धर्म हैं और न रस से अभिन्न ही या अपृथक् सिद्ध ही होते हैं। दूसरे शब्दों में, गुण रस का नियत धर्म है जबकि अलंकार शब्द और अर्थ के अनित्य धर्म हैं। अतः गुण और अलंकार एक न होकर काव्य के भिन्न-भिन्न धर्म हैं। गुण अलंकार्य हैं और अलंकार उनकी शोभावृद्धि के साधन।

इस प्रकार ध्वनिकार के अनुयायी संस्कृत आचार्यों ने रस, वस्तु और अलंकार की पृथक्-पृथक् स्थिति मानकर अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट किया। अलंकार रस या भाव को तीव्रतर करता है और वस्तु के चित्रण में आकर्षण उत्पन्न करता है। अतः रस और वस्तु अलंकार्य हैं, और अलंकार उनको अलंकृत करने वाले साधन।

हिन्दी में केशवदास संस्कृत के अलंकारवादियों से इतना अधिक प्रभावित थे कि वे भी अपनी 'कविप्रिया' में अलंकार और अलंकार्य का यह भेद स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने भी इन दोनों को एक मान कर अलंकारों का वर्णन किया। साधारण और विशेष। अलंकारों के ये दो भेद मानकर उन्होंने वर्ण्य विषय को साधारण के और वास्तविक अलंकारों को विशेष के अन्तर्गत रक्खा। परन्तु परवर्ती हिन्दी आचार्यों में इस प्रकार की धारणा नहीं पाई जाती है। उन्होंने तो मम्मट आदि नव्याचार्यों के अनुकरण पर ही अलंकार और अलंकार्य के भेद को ध्यान में रखते हुए लक्षण ग्रन्थों की रचना की।

पश्चिम के प्राचीन अलंकार शास्त्री भी इस भेद को स्वीकार करते हैं परन्तु कलावादी और अभिव्यंजनावाद के समर्थक इससे सहमत नहीं हैं। क्रोशे ने इस भेद को निराधार बताया है। उसके अनुसार उक्ति और अलंकार में भेद नहीं किया जा सकता। क्रोशे के इस कथन की समीक्षा करते हुए डा० नगेन्द्र ने अपने ग्रन्थ 'रीति काव्य की भूमिका' के पृष्ठ ८४ पर स्पष्ट लिखा है :—

वास्तव में इस सिद्धान्त (गिरा और अर्थ की अभिन्नता) का मूल सम्बन्ध अद्वैत दर्शन से है।............क्रोशे भी मूलतः एक दार्शनिक ही है। उसने सौन्दर्य शास्त्र का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु

इतना होते हुए भी भारतीय दार्शनिक व्यवहार में प्रकृति और पुरुष में पार्थक्य स्वीकार करता है। इसी से प्रभावित होकर भारतीय आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहार गत भिन्नता मानते हैं। परन्तु क्रोशे किसी भी रुप में उसे स्वीकार नहीं करता।

इन दोनों की सापेक्षिक सत्यता पर विचार करने से भारतीय मत ही अधिक विश्वस्त जान पड़ता है। क्योंकि वाणी और अर्थ में व्यवहारात्मक भेद न मानने पर सम्पूर्ण साहित्य शास्त्र ही समाप्त हो जायगा। साथ ही भाव और विचार शास्त्र का भी लोप हो जायगा। इस तत्व दृष्टि से पूर्व के और पश्चिम के भी साहित्यशास्त्री अलंकार और अलंकार्य में अभेद मानते हुए भी व्यवहारिक दृष्टि से उनमें भेद स्वीकार करते हैं।

रस, ध्वनि, गुण और अलंकार

भरत मुनि ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था परन्तु रस और अलंकार के सापेक्षिक महत्व पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला था। फलतः आगे चलकर अलंकार युग में जब कि अलंकारों को काव्यात्मा कहकर उनकी महत्ता प्रतिपादित की गई, रस का महत्व कम हो गया और वह अलंकार का अंगमात्र बनकर रह गया तथा 'रसवत्' जैसे अलंकारों की कल्पना कर ली गई। इतना ही नहीं, उद्‌भट जैसे विद्वानों ने रस से सम्बन्धित भावों के आधार पर भावोदय, भावसन्धि और भावशवलता जैसे अलंकारों की घोषणा करके उनकी संख्या में श्री वृद्धि भी कर दी।

वास्तव में इस सब का कारण था उस युग में अलंकार और अलंकार्य के भेद का स्पष्ट न होना। इस भेद का स्पष्टीकरण आगे चलकर ध्वनिवादी आचार्यों ने किया। उन्हीं के प्रयत्न से रस और अलंकार को अपना उचित स्थान और महत्व मिल पाया। 'ध्वनि-सिद्धान्त' के प्रकाश में आने पर ही यह निश्चित हो सका कि रस अलंकार्य हैं और अलंकार उनका उत्कर्ष बढ़ाने वाले साधन। रस काव्य की आत्मा है और अलंकार उसके बाह्य कलेवर को शोभा प्रदान करने वाले बाह्य माध्यम।

ध्वनि-दर्शन में रस और भाव को चाहे वे प्रधान हों या अप्रधान, अलंकार मानना काव्य की अनभिज्ञता के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना गया। इसलिए मम्मट ने रसवदादि अलंकारों का 'गुणीभूत व्यंग्य' काव्य के 'अपराङ्ग व्यंग्य' नामक भेद में अन्तर्भाव किया है।[1]

गुण को प्राचीनकाल से ही काव्य की विशेषता के रूप में देखा जाता रहा है,

१—देखिये काव्य प्रकाश-शशिकला हिन्दी-व्याख्या सहित-पृ० १४२-१४५

परन्तु प्राचीन सिद्धान्त शास्त्रियों ने जहां उसे शब्द और अर्थ का शोभाविधायक धर्म बताया है वहाँ ध्वनिवादी आचार्यों ने उसे रस रुप काव्यार्थ का अपरिहार्य धर्म सिद्ध किया है। इन मान्यताओं के कारण प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं रह जाता। क्योंकि वे काव्य शोभाविधायक धर्म को अलंकार भी मानते हैं।[1] परन्तु ध्वनिवादी आचार्य इन्हें पृथक् पृथक् वस्तु के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गुणालंकार के विषय में स्पष्टतया दो पक्ष दिखाई पड़ते हैं। एक अभेदवादी पक्ष और दूसरा भेदवादी पक्ष। भामह और उद्भट आदि प्रथम पक्ष के समर्थक हैं। उनके अनुसार गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं हैं। उनमें भेद मानना भेड़चाल के समान अविवेकपूर्ण है। उद्भट का कथन है :—

"एवं च समवायवृत्या शौर्यादय. संयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः"।

अर्थात् लौकिक गुण और अलंकार भले ही भिन्न हों क्योंकि पुरुषनिष्ठ शौर्यादि गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) से रहते हैं और लौकिक अलंकार हारादि, शरीर में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु काव्य के गुण ओज आदि और अलंकार अनुप्रास, उपमा, आदि दोनों ही काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अतः गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं है। उनमें भेद मानना तो भेड़चाल के समान है।

दूसरे पक्ष का समर्थन करने वाले हैं ध्वनिवादी आचार्य, मम्मट, विश्वनाथ और वामन आदि। पर इन आचार्यों में भी दो मत पाए जाते हैं। इनमें आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ एक मत के समर्थक हैं और वामन दूसरे मत के।

आनन्दवर्धन गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥ ध्वन्यालोक पृ० २०४।

"ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्।"
अर्थात् जो रसादि लक्षण वाले अंगीभूत (रस) के आश्रित रहते हैं उन्हें गुण कहते हैं जैसे शौर्य आदि। और जो अंगभूत शब्द एवं अर्थ के आश्रय रहते हैं, वे अलंकार हैं जैसे कटक, हार आदि।

ध्वन्यालोचनकार अभिनवगुप्त ने भी गुण को रस का धर्म ही माना है।

"ते च (माधुर्यौजः प्रसादा एव त्रयो गुणाः) प्रतिपन्नास्वादमयाः मुख्यतया तत आस्वाद्ये उपचरिता रसे ततस्तद्व्यंजकयोः शब्दार्थयोरिति ॥"

ध्वन्यालोकलोचन पृ० २१३

१—काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान्प्रचक्षते। २-१। काव्यादर्श

इसका तात्पर्य यह है कि माधुर्य ओज और प्रसाद ये तीनों गुण आस्वाद्य होने के कारण रस में ही उपचरित होते हैं।

इन ध्वनिवादी आचार्यों के मत का अनुसरण करते हुये मम्मट ने भी गुण और अलंकार में भेद स्वीकार किया है। वे गुण को रस का नित्य धर्म और अलंकार को शब्द तथा अर्थ का अनित्य धर्म मानकर उनमें भेद करते हैं। इस भेद को स्पष्ट करने के लिये उन्होने इन दोनों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ ८-६६ ॥ का० प्र०

अर्थात् आत्मा के शौर्यादि गुणों की भाँति उत्कर्ष के हेतु अचल स्थिति वाले जो अंगी (रस) के धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं। अतः गुण रस के अचल स्थित (नित्य) धर्म हैं और वे रस के उत्कर्ष साधक होते हैं। तथा:—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ८-६७ ॥ का० प्र०

अर्थात् अनुप्रास उपमा आदि शब्द और अर्थ रूप अंग का हार आदि आभूषणों की भांति सौन्दर्यवर्धन करने से अलंकार कहलाते हैं।

इस प्रकार मम्मट रस के साथ गुण का तो नित्य सम्बन्ध मानते हैं और शब्द अर्थ के साथ अलंकार का अनित्य सम्बन्ध। अलंकार और रस के इस सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुये वे कहते हैं :—

"ये वाच्य वाचक लक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यरसं सम्भविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधान द्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः। यत्र तु नास्ति रसस्तत्रोक्तिवैचित्र्यमात्र पर्यवसायिनः। क्वचित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति।"

प्रयोजन यह कि अलंकारों से वाच्य वाचक रूप—शब्द अर्थरूप—अंगों की सौन्दर्य वृद्धि तभी सम्भव है जब कि कविता का रसरूप आत्मतत्व सुन्दर हो क्योंकि आभूषणों से भी कण्ठ आदि अंगों की सौन्दर्यवृद्धि तभी हो सकती है जब उन्हें धारण करने वाली स्त्री सुन्दर हो। अन्यथा जैसे किसी कुरूप स्त्री के हार आदि आभूषण दर्शकों के लिये दृष्टिवैचित्र्य से जान पड़ते हैं वैसे ही नीरस कविता के अलंकार भी पाठकों के लिए उक्ति-वैचित्र्य से प्रतीत होते हैं। कभी कभी तो ये अलंकार रसमयी कविता में भी किसी शोभा की वृद्धि नहीं करते हैं। इसका यह तात्पर्य हुआ कि सरस कविता में अलंकार न होने पर भी काव्य का सौन्दर्य रहता है। इसीलिए तो मम्मट ने काव्य की परिभाषा में "अनलंकृती पुनः क्वापि" कह कर बताया था कि अलंकार के बिना भी कविता हो सकती है।

वामन को भी गुण और अलंकार का यह भेद स्वीकार्य है, पर दूसरे रूप में। वे गुणों को काव्यशोभाविधायक धर्म मानते हैं और अलंकारों को काव्यशोभा के अतिशय का हेतु।[1] आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि गुणों के सद्भाव में अलंकारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है, पर गुणों के अभाव में केवल अलंकारों से काव्य की शोभा सम्भव नहीं। इसीलिए वे कहते हैं:—पूर्वे नित्याः। ३-१-३। का० सू०

पूर्वे गुणाः नित्याः तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।

अर्थात् गुण नित्य हैं क्योंकि उनके बिना काव्य की शोभा नहीं बन सकती परन्तु अलंकार नित्य धर्म नहीं हैं।

वस्तुतः गुण और अलंकार के वैधर्म्य का प्रतिपादन सर्वप्रथम वामन ने ही किया था। वे रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं और विशिष्ट पद रचना को रीति।[2] पद रचना की विशिष्टता गुण में है। वह रीति वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली के भेद से तीन प्रकार की कही गई। उनमें समग्रगुण सम्पन्न वैदर्भी, ओज और कान्तिगुणों वाली गौड़ी तथा माधुर्य और सौकुमार्य गुणों वाली पांचाली बताई गई।[3]

वामन के इसी रीतिवाद से असामंजस्य दिखाते हुए मम्मट ने उनके द्वारा प्रतिपादित गुणालंकार-वैधर्म्य का खण्डन किया है।

"यदप्युक्तम् काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः इति तदपि न युक्तम् यतः किं समस्तैर्गुणैः काव्य व्यवहार, उत कतिपयैः। यदि समस्तैः, तत्कथमसमस्तगुणा गौड़ी पांचाली च रीतिः काव्यस्यात्मा।" का० पृ० २८८।

अर्थात् वामन ने जो लक्षण निर्धारित करके गुण और अलंकार का भेद निरूपित किया है कि गुण तो काव्यशोभाधायक धर्म होते हैं और अलंकार काव्य-शोभा के अतिशय के हेतु। यह कथन उचित नहीं है। वे पूछते हैं कि यदि समस्त गुणों वाली वैदर्भी रीति काव्य की आत्मा है तो कतिपय गुणों वाली पांचाली और गौड़ी रीति काव्य की आत्मा नहीं बन सकती। परन्तु वामन रीतिमात्र को काव्यात्मा स्वीकार करते हैं। अतः वैदर्भी के साथ गौड़ी और पांचाली को भी काव्य

१—अ—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। ३-१-१। काव्यालंकार सूत्र
आ—तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ३-१-२। वही।
२—रीतिरात्मा काव्यस्य। १-२-६। विशिष्ट पदरचना रीतिः।१-२-७ वही
३—अ—समग्रगुणा वैदर्भी। १-२-११। वही
आ—ओजः कान्तिमती गौडीया। १-२-१२ वही
इ—माधुर्यसौकुमार्योपमा पांचाली। १-२-१३ वही

की आत्मा स्वीकार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि रीति काव्य की आत्मा नहीं है और न गुण ही शब्द और अर्थ के नित्य धर्म हैं।

दूसरे गुण को शब्दार्थ का नित्य धर्म और अलंकार को अनित्य धर्म मान लेने पर चित्र काव्य को ही निकाल देना पड़ेगा, जो सम्भव नहीं। क्योंकि ऐसी भी पदरचनाएं काव्य में स्थान पा लेती हैं जो शब्दार्थ के नित्य धर्म गुणों के न होने पर भी अलंकारों द्वारा सुन्दर बना दी जाती हैं। चित्र-काव्य ऐसी ही पदरचना तो है। इससे सिद्ध होता है कि रस रूप गुणी के अस्तित्व के बिना प्रसाद आदि गुण निराधार ही होगे। इसी प्रकार रस रूप अलंकार्य में विश्वास किए बिना अनुप्रास और उपमादि अलंकारों का भी कोई महत्व नहीं। तात्पर्य यह कि गुण शब्दार्थ के नहीं, वरन् रस के नित्य धर्म हैं और अलंकार शब्द एवं अर्थ के अनित्य धर्म। ध्वनिवादी आचार्यों तथा उनके अनुयायी मम्मट का भी यही मत है।

काव्य में अलंकार का स्थान

अलंकार युग में (भामह, दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों के युग में) अलंकार काव्य का सर्वस्व माने जाते थे। उस समय अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट न होने के कारण काव्य की शोभावृद्धि करने वाले सभी धर्मों को अलंकार मान लिया गया था। अतः रस, गुण आदि सभी अलंकार के अन्तर्गत रक्खे जाते थे। इस प्रकार व्यापक अर्थ में ग्रहण करने के कारण अलंकार काव्य का सर्वस्व अथवा काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु आगे चलकर जब ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो गई और ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा घोषित किया तब अलंकार का वह महत्व नहीं रह गया। इसी बीच अलंकार और अलंकार्य का भेद भी स्पष्ट हो गया था। अतः अब अलंकार काव्य-सौन्दर्य-प्रसाधन मात्र रह गए। यही मान्यता आज भी प्रतिष्ठित है।

'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा अलंकार प्रसाधन मात्र के रूप में रस गुण आदि अंगों को सुशोभित करने वाले अथवा अंगों के उत्कर्षविधायक माने जाने लगे। अतः अलंकार काव्य के लिये अनिवार्य नहीं रह गए। इसी कारण मम्मट ने काव्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए कहा था कि बिना अलंकारों के भी काव्य का काव्यत्व बना रह सकता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कह कर इसी बात की पुष्टि की थी। उनके अनुसार रसात्मकता ही काव्य के लिये पर्याप्त है। दूसरे शब्दों में रस को काव्य की आत्मा मानकर उन्होंने यह प्रतिपादन करने का प्रयास किया कि काव्य में उसकी आत्मा-रस-का होना अनिवार्य है। क्योंकि आत्मा के बिना निर्जीव शव का कोई मूल्य नहीं। निर्जीव शरीर को अलंकारों से अलंकृत कर देने पर भी

आत्मा के अभाव में सजीवता नहीं आ सकती है। अतः काव्य की सजीवता के लिए रस रूप आत्मा का होना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य हैं, पर यदि अलंकृत करने वाले अलंकार न भी हों तो उसकी सजीवता या काव्यत्व समाप्त नहीं हो सकता। हाँ, यदि अलंकार आत्मा का उत्कर्ष करने के लिए लाए जाते हैं तो अपेक्षणीय हैं। तात्पर्य यह कि रस काव्य का अंगी है तो अलंकार उसका एक अंगमात्र। अतः अंग और अंगी का जो सम्बन्ध होता है काव्य के क्षेत्र में वही सम्बन्ध रस अथवा काव्य और अलंकार में भी है।

हिन्दी में आचार्य केशवदास अलंकारवादी थे। दण्डी आदि आचार्यों के अनुकरण पर उन्होंने भी अलंकार को प्रमुखता दी थी। इसी कारण उनकी रचनाओं में अलंकार-चमत्कार भरा पड़ा है। उनका यह चमत्कार बहुत कुछ पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए ही होता था। यमक, श्लेष, विरोध और परिसंख्या आदि अलंकारों का चमत्कार ऐसा ही है। उससे रसोद्बोध अथवा काव्य-सौन्दर्य का तनिक भी उत्कर्ष नहीं हुआ, प्रत्युत काव्य का भाव-सौष्ठव अलंकार-सौन्दर्य की चकाचौंध में प्रच्छन्न सा हो गया है। यही कारण है कि केशवदास की ऐसी चमत्कार पूर्ण रचनाएं पाठक को चकृत तो अवश्य कर देती हैं, पर उसे गद्-गद् नहीं कर पातीं। इसी कारण कुछ समालोचकों ने उन्हें हृदयहीन कवि की संज्ञा तक दे डाली। परन्तु ऐसा कहना सर्वथा उचित नहीं है क्योंकि जहां उन्होंने चमत्कार या पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ का त्याग कर दिया है वहाँ उनकी सहृदयता का एवं रसिकता का परिचय अवश्य मिलता है।

इस उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यही है कि अलंकारों से बोझिल कविता में सौन्दर्य नहीं रह जाता। अतः अलंकार कविता के लिए अनिवार्य नहीं हैं। हां, सौन्दर्य वृद्धि के लिए उनका उपयोग होना चाहिए, पर वहीं तक जहाँ तक वे साधन ही बने रहें, साध्य न हो जायं।

केशवदास के परवर्ती रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में भी अलंकार-बहुलता मिलती है। पर इतना अवश्य है कि वे केशवदास की भांति अलंकारवादी न थे। उन कवियों ने वास्तव में भामह, दण्डी आदि प्राचीन संस्कृत आचार्यों को अपना आदर्श न बनाकर मम्मट और विश्वनाथ आदि नव्य आचार्यों का ही अनुकरण किया था जो रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करके अलंकारों को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं मानते थे। परन्तु फिर भी उनकी कविता में जो अलंकार-चमत्कार दृष्टिगोचर होता है वह केवल उस युग का प्रभाव मात्र था। जिन कवियों ने उस युग की परम्परा से अपने को मुक्त रक्खा उनकी कविता में हमें वह अलंकार-चमत्कार नहीं मिलता जिससे काव्य-सौष्ठव आच्छन्न होकर कविता केवल तमाशा बनकर रह जाती है। घनानन्द, ठाकुर, आलम आदि ऐसे ही कवि थे। पर देव, बिहारी, पद्माकर आदि की रचनाओं में हमें वह स्वाभाविकता नहीं मिलती जो सुन्दर काव्य

के लिए अपेक्षित होती है। अतः इस विश्लेषण से हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अलंकार-प्रयोग अपनी सीमा के भीतर रहने पर ही उचित और उपादेय हो सकता है।

जिस प्रकार सुन्दर कामिनी के लिए आभूषण आवश्यक नहीं होते, आभूषणों के अभाव में भी उसके भीतर सौन्दर्य झलकता रहता है परन्तु यदि वह दो एक आभूषण धारण भी कर लेती है तो उसके सौन्दर्य में निखार आ जाता है। किन्तु यदि वही कामिनी एड़ी से लेकर चोटी तक आभूषणों से लाद दी जाय तो वह कुरूप लगने लगेगी और लोग उसे असभ्य एवं जंगली समझने लगेंगे। इसके विपरीत यदि किसी कुरूप स्त्री को आभूषण पहिना दिये जायं तो उससे उसकी कुरूपता में ही वृद्धि हो सकती है सौंन्दर्य नहीं आ सकता। इसी प्रकार सहज स्वाभाविक भावपूर्ण कविता के लिए भी काव्य-अलंकार आवश्यक नहीं होते क्योंकि भाव-सौन्दर्य ही उसमें सुन्दरता की सृष्टि कर देता है। तथापि उचित स्वाभाविक अलंकार-प्रयोग से उसका सौन्दर्य द्विगुणित हो सकता है। अलंकाराधिक्य से तो कविता का भाव-सौन्दर्य दब जायगा और उसकी नैसर्गिकता भी समाप्त हो जाएगी। इसके विपरीत भावविहीन कविता भी अलंकारों के प्रयोग से सौष्ठवपूर्ण नहीं बन सकती। अतः यह कहना उचित और युक्तिसंगत है कि कामिनी के सौंन्दर्य की अभिवृद्धि में जो स्थान आभूषणों का है वही स्थान कविता की सौंन्दर्यवृद्धि में अलंकारों का ी है। अर्थात् जिस प्रकार सुन्दरी के लिए आभूषण सौंन्दर्यवृद्धि के प्रसाधन हैं उसी प्रकार अलंकार भी कविता का उत्कर्ष करने वाले माध्यममात्र हैं। वे कविता के केवल एक अंग ही हैं, अंगी नहीं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए संस्कृत के समन्वयवादी आचार्य मम्मट ने कविता का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा था:—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

वस्तुतः रस काव्य की आत्मा है, भाषा उसका कलेवर तथा छन्द, रीति, अलंकार आदि उसके सौंन्दर्य वर्द्धक साधन हैं।

अलंकार ग्रन्थ तथा अलंकार शास्त्र, साहित्यशास्त्र एवं काव्य-शास्त्र

अलंकार-ग्रन्थ से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जिनमें केवल अलंकारों का ही निरूपण किया गया हो। जैसे हिन्दी में गोपा का 'अलंकार-चन्द्रिका' करनेस के करणाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण, मतिराम का 'अलंकार पंचाशिका', 'ललित ललाम;' भूषण का शिवराज भूषण आदि। परन्तु फिर भी शुद्ध अलंकारों पर लिखे गये ग्रन्थ बहुत ही कम हैं। प्रायः ऐसे ग्रन्थों में अलंकारों के साथ साथ काव्य के अन्य-अंगों गुण दोष रीति आदि—का भी थोड़ा बहुत निरुपण किया गया है। अतः अधिकतर

ग्रन्थ अलंकार-ग्रन्थ की सीमा में न आकर अलंकार-शास्त्र की कोटि में ही आते हैं।

अलंकार-शात्र उन ग्रन्थों को कहा जाता है जिनमें अलंकारों का वर्णन तो प्रधानता से होता है पर साथ ही काव्य के अन्य अंगों का भी न्यूनाधिक वर्णन रहता है परन्तु अलंकारों की प्रधानता होने से अलंकार पर ही उनके नाम रक्खे गए हैं। इसी कारण ऐसे ग्रन्थों को अलंकार शास्त्र की संज्ञा दी गई। जैसे भामह का ग्रन्थ 'काव्यालंकार,' उद्भट का 'काव्यालंकार-सार-संग्रह'। कुन्तक ने भी स्वकीय ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' को काव्यालंकार का ही नाम दिया है।[1] कुमार स्वामी भी इसी बात के समर्थक हैं कि यद्यपि उनमें रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यांगों का प्रतिपादन अवश्य किया गया है, तथापि अलंकार-प्रधानता की दृष्टि से इसका नाम अलंकार शास्त्र उचित है।[2] वस्तुतः इस युग-भामहयुग—में अलंकार को काव्य की आत्मा माना जाता था—इसी कारण इस युग के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में काव्य के अन्य अंगों के साथ साथ अलंकारों का प्रधानता से वर्णन किया है। दूसरे इस समय अलंकार और अलंकार्य का भी भेद स्पष्ट नहीं हुआ था। अतः प्रधानता की दृष्टि से उन ग्रन्थों को अलंकार शास्त्र के नाम से अभिहित किया गया। और इस प्रकार के लेखकों को आलंकारिक या आलोचक कहा जाता था।

इन आलोचकों की दृष्टि काव्य के एक तत्व सौन्दर्य पर टिक गई थी। उनकी दृष्टि में सौन्दर्य काव्य का मूलभूत तत्व था। इसके अभाव में न तो अलंकार में अलंकारत्व रहता है और न ध्वनि में ध्वनित्व ही। दण्डी ने तो "काव्यशोभा-कारान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते" कह कर सौंन्दर्य बढ़ाने वाले धर्मों को ही अलंकार कहा था। अभिनवगुप्त ने अलंकार के लिए चारुत्व का अतिशय अनिवार्य बताया था। इस प्रकार सौंन्दर्य में काव्य या कला की आत्मा की प्रतिष्ठा होने लगी थी। यही सौन्दर्य चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता आदि के नाम से भी अभिहित होता था। परन्तु सौंन्दर्य को इतना महत्व देने पर भी आलोचना-शास्त्र सौन्दर्य-शास्त्र की संज्ञा पाते-पाते बच गया। यदि ऐसा हो जाता तो हमारा शास्त्र भी पाश्चात्यों के (एस्थेटिक्स) का पर्यायवाची बन जाता। और फिर काव्य में चित्र, संगीत आदि का भी निरूपण होने लगता। क्योंकि सौन्दर्य-शास्त्र साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक एवं विस्तृत है। सौन्दर्य-शास्त्र के अन्तर्गत चित्र, संगीत, मूर्ति आदि ललित कलाओं का भी समावेश रहता है। अतः अलंकार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र की भिन्नता स्वतः सिद्ध है।

१—काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते। व० जी० १-२।

२—यद्यपि रसालंकराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेनालंकार शास्त्र-मुच्यते। प्रतापरुद्रीयकी टीका—रत्नापण—पृ० ३।

मध्य युग में आते-आते अलंकार-शास्त्र के लिए साहित्य शास्त्र की संज्ञा दी जाने लगी। सबसे पहिले राजशेखर ने इस शब्द का प्रयोग अलंकार-शास्त्र के लिए किया—'पंचमी साहित्य विद्या इति यायावरीयः।" 'सहितयोः शब्दार्थयोः भावः साहित्यम्' यह जो व्याकरणिक व्युत्पत्ति हमारे यहाँ साहित्य शब्द की की जाती है, वह सम्भवतया भामह के "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" इस काव्य-लक्षण के आधार पर की गई प्रतीत होती है। आनन्दवर्धन, भोज और कुन्तक ने इस शब्द की महत्ता को स्वीकार किया और आगे चलकर इसी शब्द के आधार पर ग्रन्थों के नाम रक्खे जाने लगे। जैसे रुय्यक का 'साहित्यमीमांसा' तथा पं० विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण'। अतः इस शब्द की लोकप्रियता बढ़ जाने से साहित्य-शास्त्र नाम ही अब प्रचलित हो गया। इस प्रकार अलंकारशास्त्र अब साहित्य-शास्त्र के नाम से पुकारा जाने लगा। पर कुछ लोग कभी-कभी उसे काव्य-शास्त्र के नाम से अभिहित करते हैं। जैसे डा० भगीरथ मिश्र ने हिन्दी साहित्य-शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उसका नामकरण किया है, 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास'। इसी ग्रन्थ में वे काव्य-शास्त्र का स्वरूप निर्धारण करते हुए लिखते हैं:—"काव्य के स्वरूप एवं उसकी समस्याओं पर विचार करने वाले विषय को काव्य-शास्त्र ही कहना विशेष उपयुक्त है क्योंकि इसके अन्तर्गत अलंकारों के अतिरिक्त अन्य विषय भी हैं। साहित्य शास्त्र से भी काम चल सकता है, किन्तु आजकल साहित्य और काव्य के अर्थों में व्यापकता की दृष्टि से कुछ अन्तर है।

संस्कृत में साहित्य और काव्य शब्द समान अर्थों में ही प्रयुक्त किए गए मिलते हैं।

"साहित्य संगीतकला विहीनाः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनाः"।

श्री भर्तृहरि के इस उपर्युक्त वाक्य में साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। डा० भगवानदास ने 'द्विवेदी' अभिनन्दन ग्रन्थ' में अपने लेख 'रस मीमांसा' में साहित्य और काव्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है:— 'हितेन सह सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्। तथा सह एव सहितम् तस्य भावः साहित्यम्। साहित्य शब्द का अब रुढ़ अर्थ है—ऐसा वाक्य समूह, ऐसा ग्रन्थ जिसको मनुष्य दूसरों के सहित, गोष्ठी में अथवा अकेले ही सुने, पढ़े तो उसको रस आवे, स्वाद मिले, आनन्द हो, तृप्ति तथा आप्यायन भी हो। विना विशेषण के साहित्य शब्द जब कहा जाता है तब प्रायः उसका अर्थ काव्य-साहित्य ही समझा जाता है।"

इसी विषय में काव्य-प्रभाकर की निम्नलिखित पंक्तियां भी विचारणीय हैं।

"बहुधा साहित्य और काव्य ये दोनों शब्द एकार्थवाची ही देखने में आते हैं।"

इस उपर्युक्त कथन से यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य और काव्य शब्द प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। अतः हम साहित्य-शास्त्र को काव्य-शास्त्र भी कह सकते हैं।

अलंकार-ग्रन्थ और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र

पाश्चात्य साहित्य में काव्य-शास्त्र का पर्यायवाची शब्द Poetics (पोएटिक्स) मिलता है पर पोएटिक्स शब्द की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। उसके अन्तर्गत विषयों का ही निर्देश किया गया है इसकी हमें दो परिभाषाएँ[1] प्राप्त होती हैं। इन परिभाषाओं से काव्य शास्त्र के दो उद्देश्यों की ओर निर्देश होता है। पहिली परिभाषा कवि की दृष्टि से काव्य-शास्त्र का उद्देश्य प्रकट करती है और दूसरी परिभाषा पाठक की दृष्टि से प्रकाश डालती है।

अरिस्टोटिल की 'पोएटिक्स' सबसे प्राचीन पौथी काव्य शास्त्र पर लिखी गई मानी जाती है। इसमें विशेषतया 'होमर' के काव्य के आधार पर काव्य की विशेषताओं, वर्गीकरण, तुलनात्मक महत्व एवं प्रभाव पर विचार किया गया है।

अरिस्टोटिल का ही दूसरा ग्रन्थ है रिटोरिक (Rhetoric)। यह उसके पोएटिक्स (Poetics) से बिल्कुल भिन्न हैं। इसमें केवल गद्य पर ही उसने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसके मुख्य विषय हैं:—शैली, भाषा, गति और अलंकार आदि। पर ये दोनों ग्रन्थ अलंकार-ग्रन्थों से भिन्न हैं। पोएटिक्स में काव्य के कुछ अंगों का विवेचन अवश्य है, पर अलंकारों का वर्णन उसमें नहीं है। Rhetoric में अलंकारों का विवेचन अवश्य है पर ग्रन्थ का विषय कविता न होकर गद्य ही है। अलंकार-ग्रन्थ या अलंकार-शास्त्र में काव्यांगों के साथ अलंकारों का ही विशेष वर्णन होता है।

इस उपर्युक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार-ग्रन्थ, अलंकार-शास्त्र, साहित्य-शास्त्र और काव्य-शास्त्र ये सभी काव्यांगों का विवेचन करने वाले ग्रन्थ हैं। परन्तु फिर भी अलंकार-ग्रन्थ और अन्य शास्त्रों में थोड़ा अन्तर है। अलंकार-ग्रन्थ काव्य के एक ही अंग-अलंकार-पर प्रकाश डालते हैं, जबकि अन्य शास्त्र काव्य के सम्पूर्ण अंगों-रस, रीति, गुण, दोष, ध्वनि, अलंकार, भाषाशक्ति, काव्य का स्वरूप, काव्य के प्रकार आदि—का विवेचन करते हैं। अलंकार-ग्रन्थ का क्षेत्र सीमित है, शास्त्रों का क्षेत्र व्यापक और विस्तृत है। अतः ये सब एक होते हुए भी भिन्न है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अलंकार-ग्रन्थ और अन्य शास्त्रों में एक प्रकार से अंगाङ्गि सम्बन्ध है। अलंकार-ग्रन्थ अन्य

---

१ – अ – Poetics :—A treatise on Poetry as an art. A Theory of poetry. Webster's New International Dictionary.

ब—Poetics :—That part of Literary criticism which treats of poetry; also a treatise on poetry. (The Oxford English Dictionary Vol. VII)

शास्त्रों का अंग है, और अलंकार शास्त्र आदि अंगी हैं। क्योंकि अलंकार-ग्रन्थ अन्य शास्त्रों के एक भाग हैं। अलंकार-शास्त्र आदि के अन्तर्गत अलंकार-ग्रन्थ का अन्तर्भाव हो सकता है, पर अलंकार-ग्रन्थों में अलंकार-शास्त्र आदि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं।

अलंकार-ग्रन्थ और रीति-ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य में रीति-ग्रन्थ या रीति-शास्त्र अपने वास्तविक अर्थ से कुछ भिन्न और विशिष्ट अर्थ में व्यवहृत होता है। रीति-शास्त्र वास्तव में उस शास्त्र का बोध कराता है जिसमें रीति-सिद्धान्त की चर्चा की गई हो। रीति विशिष्ट चमत्कार पूर्ण रचना का नाम है।[1] वामन आदि संस्कृत के कुछ आचार्यों ने रस, ध्वनि के समान रीति को काव्य की आत्मा माना था।[2] अतः ऐसी दशा में रीति-शास्त्र से उन्हीं ग्रन्थों का अभिप्राय लेना चाहिये जिसमें रीति को काव्य की आत्मा मानकर काव्य के स्वरूप का विवेचन किया गया हो परन्तु हिन्दी-साहित्य में रीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने रीति शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करते हुये हिन्दी साहित्य के उत्तर माध्यमिक काल को "रीतिकाल" के नाम से पुकारा है। इस रीति-काल नामकरण से यह बड़ी सरलता के साथ जाना जा सकता है कि इन इतिहासकारों ने रीति को काव्य-रीति या काव्य-लक्षण के अर्थ में अंगीकार किया है। इसीलिए इस काल को 'रीतिकाल' कहा गया है। और इस काल में इस प्रकार के लक्षण-ग्रन्थ लिखे जाने की प्रवृत्ति ही प्रधान रूप से पाई जाती है। अतः रीति-शास्त्र के अन्तर्गत केवल वही ग्रन्थ नहीं आते जिनमें केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा की गई है, वरन् उन सभी ग्रन्थों का भी समावेश हो जाता है जिनमें काव्य के लक्षण दिए गए हैं। वे चाहे अलंकार-ग्रन्थ हों, चाहे रस ग्रन्थ हों और चाहे नखशिख या नायिका भेद का वर्णन करने वाले ग्रन्थ हों। सभी ऐसे ग्रन्थ रीति-ग्रन्थ या रीति शास्त्र कहे जाते हैं। फलतः हम रीति शास्त्र या रीति-ग्रन्थ उन ग्रन्थों को कहते हैं जिनमें अलंकार, रस, ध्वनि, रीति, नायिका-भेद आदि के स्वरूप का विश्लेषण किया गया हो।

रीति-ग्रन्थ या रीति शास्त्र का यह अर्थ होने पर उनके साथ अलंकार-ग्रन्थों का सम्बन्ध अब स्पष्ट हो जाता है। अलंकार-ग्रन्थ इस प्रकार रीतिग्रन्थ का ही एक अंग है। अलंकार-ग्रन्थ को भी हम रीति ग्रन्थ की उक्त परिभाषा के कारण एक प्रकार का रीति-ग्रन्थ या रीति-शास्त्र कह सकते हैं।

१—विशिष्टा पदरचना रीतिः—का० अ० सू०

२—रीतिरात्मा काव्यस्य : " "

हिन्दी के रीतिकाल में कुछ ऐसे ग्रन्थ भी देखने को मिलते हैं जिनमें अलंकार, रस रीति आदि के लक्षण तो नहीं दिए गए हैं, पर उनके उदाहरण के रूप में या उनका ध्यान रखकर उन ग्रन्थों की रचना की गई है। ऐसे ग्रन्थों को हम रीति काव्य कहेंगे। जैसे उदाहरण के लिए हम 'बिहारी सतसई' को प्रस्तुत कर सकते हैं।

इन रीति-काव्यों के साथ अलंकार-ग्रन्थों की सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई तुलना नहीं की जा सकती। क्योंकि अलंकार ग्रन्थ विशुद्ध लक्षण ग्रन्थ है, जबकि रीति-काव्य एक प्रकार से लक्ष्य-ग्रन्थ ही है।

अलंकार ग्रन्थ और लक्षण ग्रन्थ

अलंकार ग्रन्थ एक प्रकार से लक्षण ग्रन्थ ही हैं। क्योंकि उनमें अलंकारों के लक्षण और लक्षण को घटाने के लिए या समझाने के लिए उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। लक्षण ग्रन्थ में भी यही बात होती है। अतः अलंकार ग्रन्थ लक्षण ग्रन्थ ही हैं।

अलंकार ग्रन्थ और लक्ष्य ग्रन्थ

अलंकार ग्रन्थ लक्षण ग्रन्थ होते हैं। पर लक्ष्य ग्रन्थ वे कहलाते हैं जिनको आधार मानकर लक्षण ग्रन्थों की रचना होती है। जिस प्रकार भाषा का निर्माण पहले होता है। और तब व्याकरण-शास्त्र की रचना होती है, उसी प्रकार पहले लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण होता है और तब उनका आधार लेकर लक्षण ग्रन्थों का। अतः उनमें आधार आधेय का सम्बन्ध माना जा सकता है। लक्ष्य-ग्रन्थ आधार और लक्षण-ग्रन्थ आधेय होते हैं। रघुवंश, वाल्मीकि रामायण, रामचरित मानस पद्मावत, सूरसागर आदि लक्ष्य ग्रन्थ हैं। और काव्यालंकार, काव्यादर्श, काव्य-प्रकाश, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, कविकुलकल्प तरु, करणाभरण, ललित ललाम, शिवराज भूषण, रस-कलश, काव्य-कल्पद्रुम आदि लक्षण ग्रन्थ हैं। अलंकार-ग्रन्थ भी लक्षण ग्रन्थ हैं, अतः अलंकार-ग्रन्थ और लक्ष्य-ग्रन्थ में वही सम्बन्ध है जो लक्षण ग्रन्थों और लक्ष्य-ग्रन्थों में होता है। अलंकार-ग्रन्थ आधेय है और लक्ष्य-ग्रन्थ आधार हैं।

अलंकार-ग्रन्थों के अध्ययन की आवश्यकता

संस्कृत साहित्य के प्राचीन युग में अलंकारों को सबसे अधिक महत्व दिया गया था। अलंकार ही काव्य के शोभा-विधायक तत्व माने गये थे और अलंकार के बिना काव्य में सौन्दर्य का भी, जो काव्य का मूलभूत तत्व है—अभाव समझा जाता था। भामह आदि आचार्यों ने रस का अलंकार में अन्तर्भाव करके रसवत्, ऊर्जस्वित

आदि अलंकारों की कल्पना भी कर डाली थी। इतना ही नहीं, इन आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा उद्घोषित किया था। इसी तथ्य से काव्य में अलंकारों की महत्ता का अनुमान हो जाता है। इसी दृष्टिकोण को अपनाकर एक अलंकार-सम्प्रदाय ही अस्तित्व में आ गया था। जिसके आदि आचार्य भामह कहे जाते हैं। उनके पश्चात् रुद्रट, दण्डी, उद्भट आदि आचार्यों ने उनका अनुसरण किया था।

रस और ध्वनि की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अलंकारों को सर्वथा हेय नहीं समझा गया। मम्मट ने तो 'सालंकारौ' कह कर काव्य की परिभाषा में अलंकारों को महत्व दिया ही है, यद्यपि वे अलंकारों के अभाव में भी उत्तम काव्य की सृष्टि सम्भव मानते हैं।

हिन्दी में केशवदास ने भी अलंकारों को अधिक महत्व दिया। पर उनके परवर्ती रीति लेखकों ने रस को प्रधानता देकर अलंकारों को केशव के समान महत्व अवश्य नहीं दिया, पर उनकी निजी रचनाएँ भी अलंकारों के कारण ही महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। यद्यपि परवर्ती काल में अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म स्वीकृत हुए, तथापि अलंकारों के प्रयोग से शब्दार्थ और भावों की शोभा वृद्धि के साथ साथ काव्य का उत्कर्ष बढ़ता है, इसे सभी मर्मज्ञ विद्वान स्वीकार करते हैं। अतः अलंकार काव्य के सौन्दर्य के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने कामिनी के सौन्दर्य के लिए आभूषण। भले ही वे काव्य के लिए अनिवार्य न हों। अतः इस दृष्टि से अलंकारों का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। और अलंकारों का ज्ञान करने के लिए अलंकार ग्रन्थों के अध्ययन की भी परम आवश्यकता है। अलंकारों का अध्ययन किए बिना हमारा काव्य का अध्ययन अधूरा रह जायगा। और उनके बिना काव्य-सौन्दर्य का परिज्ञान न होने पर हम उस आनन्द की अनुभूति भी न कर सकेंगे जो काव्य का परम लक्ष्य है।

विषय का आधार, पृष्ठभूमि और प्रेरणा

संस्कृत-काव्य-शास्त्र में सैद्धांतिक विकास

संस्कृत-काव्य-शास्त्रों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि संस्कृत आचार्यों ने काव्यात्मा की खोज करने के लिए भगीरथी प्रयत्न किया था। और उस प्रयत्न में बड़े तर्क वितर्क एवं ऊहापोह के पश्चात् सफलता भी प्राप्त की थी। जिस वस्तु के कारण काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है, उसकी खोज करने के लिए भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए जिसके फलस्वरूप संस्कृत-काव्य-शास्त्र में कई सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। कुछ विद्वानों ने रस को, किन्हीं ने अलंकार को, किन्हीं ने रीति, वक्रोक्ति या ध्वनि को काव्य की आत्मा प्रतिपादित किया। इस मत वैभिन्न्य के परिणामस्वरूप रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय इन पांच मुख्य सम्प्रदायों ने भिन्न–भिन्न समयों में जन्म लिया। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय के विषय में अपने विचार व्यक्त किए हैं:—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्यऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृतत्वेन वेतिद्वैविध्यम् इति पंचसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्धनेन।'

अर्थात् विशिष्ट शब्द और अर्थ ही काव्य है। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता धर्म, व्यापार और व्यंग्य इन तीन प्रकारों से आती है, इस प्रकार तीन पक्ष हो जाते हैं। इनमें धर्ममूलक वैशिष्ट्य अलंकार और गुण के भेद से दो प्रकार का होता है। इस धर्ममूलक वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय सत्ता में आए १—अलंकार-सम्प्रदाय और गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य भी 'वक्रोक्ति' और 'भोजकत्व' के भेद से दो प्रकार का है। आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' द्वारा काव्य में चमत्कार का प्रतिपादन किया था। उनका यह मत 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भोजकत्व की कल्पना करने वाले थे भट्टनायक। परन्तु भोजकत्व की यह कल्पना भट्टनायक ने भरतमुनि के 'रस-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत ही की थी। अतः उसका अन्तर्भाव रस सम्प्रदाय के भीतर ही होना चाहिए। क्योंकि भट्टनायक ने भरतमुनि के "विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद्रस निष्पत्तिः" सूत्र की व्याख्या करते समय रसनिष्पत्ति का विश्लेषण करने के लिए ही भोजकत्व व्यापार की कल्पना की थी। व्यंग्यमुख से काव्य की विशिष्टता का समर्थन आचार्य आनन्दवर्धन ने किया था। उन्होंने व्यंग्य या ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।

ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि का विरोध करने वाले अभाववादी, भक्तिवादी और अनिर्वचनीयतावादी—तीन मतों का और उल्लेख किया है जिनका खण्डन करके उन्होंने ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता स्थापित की।

यहाँ हम सभी सिद्धान्तों का विवेचन न करके केवल उन्हीं सम्प्रदायों या सिद्धान्तों का विशेष, पर संक्षिप्त वर्णन करेंगे जो हमारे शोध प्रवन्ध के विषय के लिए आधार प्रस्तुत करते हैं। वे सम्प्रदाय या सिद्धान्त हैं :—रससिद्धान्त, अलंकार-सिद्धान्त, रीति-सिद्धान्त, वक्रोक्ति-सिद्धान्त और ध्वनि-सिद्धान्त।

रस–सिद्धांत

इस सिद्धान्त के आदि प्रवर्तक के विषय में इतिहास मूक है। परन्तु राजशेखर ने अपने ग्रन्थ 'काव्य मीमांसा' में उल्लेख किया है कि नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम ब्रह्मा के उपदेश से रस का निरूपण किया।[1] परन्तु आज न तो नन्दिकेश्वर के किसी रसविषयक ग्रन्थ का ही कहीं पता मिलता है, और न उसका रस सम्बन्धी मत ही कहीं उपलब्ध है। जो रस-सिद्धान्त आज उपलब्ध है उसका सम्बन्ध भरतमुनि से है। भरतमुनि ही इस उपलब्ध सिद्धान्त के प्रवर्तक माने जाते हैं। उन्होंने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में जो पंचम वेद के नाम से विख्यात है, छठवें और सातवें अध्याय में रस का निरूपण किया है। परन्तु इस रस-निरूपण का सम्बन्ध मुख्यतया नाटकों से ही है, क्योंकि उस समय नाटक की प्रमुखता होने के कारण उन्होंने उसी के विषय में अपने ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ बड़ा मार्मिक विवेचन किया है।

इस सिद्धान्त का आधारभूत और गूढ़ार्थगर्भित सूत्र है :—
"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"। टीकाकारों ने अपने मनोनुकूल इसकी भिन्न भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें चार व्याख्याएँ मुख्य हैं और उनके व्याख्याकार हैं—भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त।

भट्ट लोल्लट उत्पत्तिवादी हैं। सूत्र में आए हुए निष्पत्ति शब्द को उत्पत्ति के अर्थ में ग्रहण करते हुए उन्होंने उत्पत्तिवाद की प्रतिष्ठा की। लोल्लट के मत में रस का सम्बन्ध मुख्य रूप से नाटक के नायक के साथ होता है। वही रस नायक की अवस्थाओं का अनुकरण करने वाले नट में भी उत्पन्न होता है। इस रस की

१—यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वान्तेवासिभ्यः। तेषु वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः स प्रपंचं प्रोवाच। तत्र...............रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः समाम्नासीत्। प्रथम अध्याय–काव्यमीमांसा।

उत्पत्ति में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव संयुक्त रूप में कारण होते हैं। विभाव अनुभाव और संचारी इन तीनों के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। परन्तु रस के प्रति इन तीनों कारणों में एकरूपता नहीं होती है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है, अतः रस और विभाव में उत्पाद्य उत्पादक सम्बन्ध रहता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीतिगम्य होता है अतः उनमें ज्ञाप्यज्ञापक सम्बन्ध होता है। संचारी भाव रस की पुष्टि करते हैं अतएव रस के साथ उनका पोष्य-पोषक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार विभावादिक रस की उत्पत्ति में भिन्न भिन्न रूप से कारण होते हैं। यही कारण है कि उक्त सूत्र में यह संयोग एक रूप न होकर तीन प्रकार से है। इस प्रकार लोल्लट के मतानुसार रस मुख्य रूप से नायक नायिका में ही उत्पन्न होता है, परन्तु उनका अनुकरण करने वाले नटादिकों में भी रस की प्रतीति होती है।

परन्तु यह मत सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें दर्शक, नायक–नायिका और अभिनेताओं के पारस्परिक सम्बन्ध की कोई व्याख्या नहीं की गई। यदि रस नायक नायिका में ही उत्पन्न होता है और उनका अभिनय करने वाले नटादिकों में उस की प्रतीति होती है तो दर्शकों का इससे क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के समाधान पर लोल्लट का मत कोई प्रकाश नहीं डालता। इस कमी को दूर करने का प्रयत्न शंकुक ने किया है।

शंकुक ने भरतमुनि के सूत्र की व्याख्या करने एवं लोल्लट के मत की कमी को दूर करने के लिए 'अनुमितिवाद' की कल्पना की। वे रस को अनुमान का विषय मानते हैं। सूत्र के 'संयोगात्' शब्द का अर्थ उन्होंने 'अनुमानात्' (अनुमान से) और 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' किया है। शंकुक के कथनानुसार अभिनेता या नटादिक नायक-नायिका का अभिनय ऐसा स्वाभाविक करते हैं कि दर्शक लोग अभिनेताओं को नायकनायिकादि से अभिन्न मानकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं। यह अभिन्नता 'चित्रतुरगन्याय' पर आधारित होती है। जिस प्रकार चित्र में चित्रित घोड़ा भिन्न होते हुए भी वास्तविक घोड़े की प्रतिकृति होने से उससे अभिन्न माना जाता है उसी प्रकार नटादिक भी रामसीतादि नायक नायिका से भिन्न होते हुए भी उनका स्वाभाविक अनुकरण या अभिनय करने के कारण दर्शकों द्वारा अभिन्न मान लिए जाते हैं। अतः नायकनायिका में उत्पन्न होने वाले रस का, अनुमान के द्वारा नटादिकों में आरोप कर लिया जाता है और दर्शक लोक अनुमान के ही बल पर स्वयं भी उस रस को ग्रहण करके आनन्दित होते हैं। इस प्रकार शंकुक के मत से रस अनुमान का विषय होने के कारण अनुकरणीय होता है।

परन्तु अनुमान कभी भी आनन्ददायक नहीं होता। नट के द्वारा अभिनीत विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के प्रदर्शन से दर्शक जिस रस का अनुमान करता

है वह मूल में नट में ही रहता है। दर्शक या सामाजिक को इस अनुमान के द्वारा बहुत थोड़ा लाभ होता है, परन्तु इस अनुमान से सामाजिक को उस आनन्द की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती जो रसानुभूति द्वारा अपेक्षित होता है।

भरतमुनि के सूत्र की अपनी व्याख्या में भट्ट नायक ने सामाजिक के महत्व को स्वीकार किया है। भट्टनायक भुक्तिवादी हैं। उनके अनुसार काव्य में व्यापार ही मुख्य होता है। उन्होंने इस व्यापार के तीन रूपों-अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व – की कल्पना की है। अभिधा के द्वारा शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है। भावकत्व का तात्पर्य साधारणीकरण से है। साधारणीकरण के बल पर ही नायकनायिकादि (राम-सीता अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला आदि) जिनका अभिनय किया जाता है, सामान्य पुरुष के रूप में ग्रहण किए जाते हैं। उनमें उस समय कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व अथवा कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता। भोजकत्व व्यापार के द्वारा सामाजिक रस का भोग करता है। रसानुभूति के समय सामाजिक के हृदय में सात्विक भाव का उदय होता है, राजस और तामस भावों का उस समय उपशमन हो जाता है। दूसरे शब्दों में सात्विक भाव के उदय होने पर ही सामाजिक को नायकादिक का साधारणीकरण हो जाने के पश्चात् भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस की अनुभूति होती है। इस प्रकार भट्ट नायक के मतानुसार उपर्युक्त सूत्र में आए हुए 'संयोग' शब्द का प्रयोजन 'भोज्य भोजक सम्बन्ध' से तथा 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'भुक्ति' से ग्रहण किया गया है।

भट्टनायक के मत का महत्व इस बात में तो अवश्य है कि उसमें सामाजिक को भी स्थान दिया गया है। सामाजिक की दृष्टि से रस की व्याख्या मनोविज्ञान के अति निकट है। परन्तु त्रिविध व्यापार की कल्पना संगत नहीं है। अभिधा का व्यापार तो सर्वसम्मत है, परन्तु भावकत्व और भोजकत्व का कोई आधार नहीं दिखाई पड़ता। अतः आधारहीन स्वेच्छया कल्पना का कोई मूल्य न होने से विद्वान लोगों को यह मत मान्य नहीं है।

अभिनवगुप्त व्यंजनावादी हैं। उन्होंने भी भरतमुनि के उक्त सूत्र की व्याख्या की है। उनके अनुसार सूत्र के 'संयोग' शब्द का अर्थ 'व्यंग्यव्यंजक भाव' तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति या व्यंजना' है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में प्रेम, शोक आदि स्थायीभाव वासना रूप में रहते हैं। यह वासना या तो जन्मजात होती है अथवा काव्यादिक के अध्ययन से उत्पन्न होती है, परन्तु संस्कार रूप से यह सभी व्यक्तियों के हृदय में रहती अवश्य है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा उस स्थायीभाव की अभिव्यंजना होती है। रस के उद्बोधक ये विभावादिक भाव सामान्य रूप में ही गृहीत होते हैं और तभी उनके कारण रस की अभिव्यक्ति होती है। रसानुभूति के अवसर पर अनुभूति करने वाला स्वयं को भी सामान्य रूप में ही ग्रहण करता है। उस समय वह यही समझता है कि सभी सहृदय व्यक्तियों के हृदय

मे उस रस की अभिव्यक्ति समान रूप से होती है। इस प्रकार सहृदयों के हृदयों में वासना रूप से रहने वाले सुप्त स्थायीभाव विभावादिकों के द्वारा अभिव्यक्त होकर आनन्द रूप में परिणत हो जाते हैं।

अभिनवगुप्त का यह उपर्युक्त मत मनोवैज्ञानिक है और इसी कारण सभी विद्वानों को यह मान्य है।

भरत मुनि ने इस रस की संख्या आठ मानी हैं।[1] १—शृंगार २—हास्य ३—करुण ४—रौद्र ५—वीर ६—भयानक ७—वीभत्स और ८—अद्‌भुत। कुछ लोग शान्त को भी नवां रस स्वीकार करते हैं। परन्तु नाट्य-शास्त्र और दशरुपक[2] के प्रणेता आचार्य शान्त को रस रुप में स्वीकार नहीं करते। क्योंकि नाटक अभिनेय होते हैं। और कार्य बहुलता अभिनय का प्राण होती है। परन्तु शान्त रस उपशम रूप होता है। अतः नाटक में शान्त रस का प्रयोग सम्भव नहीं होता। हाँ, नाटक से भिन्न काव्य में अवश्य उसकी सत्ता स्वीकृत है। रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में 'प्रेयान्' नाम का दसवां रस माना है।[3] साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' रस को भी मान्यता दी है।[4]

साहित्य में रस को बड़ा महत्व दिया गया है, उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। रस को सभी सम्प्रदायवादियों ने किसी न किसी रुप में अपनाया है। ध्वनिवादियों ने उसे विशेष महत्व दिया है। ध्वनि के तीन भेदों में रस ध्वनि को सबसे अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है। भोजराज[5] ने समस्त वाङ्मय को जो स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति इन तीन रूपों में विभक्त किया है उनमें 'रसोक्ति' को ही वे मुख्य मानते हैं। रसवादी विश्वनाथ ने तो "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" जैसा काव्य का लक्षण करके रस को काव्य का मूल-तत्व ही बताया है। रुद्रभट्ट ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। 'अग्निपुराण' ने भी "वाक्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्" (३३६-३३) कह कर रस को काव्य का जीवन बताया

१—श्रृंगार हास्य करुण रौद्र वीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥ ६-१५। नाट्य शास्त्र

२—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य॥ ४-३५॥ दशरूपक

३—श्रृंगार वीर करुण वीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्याः रसाः सर्वे॥ १२-३॥ का० अ० रुद्रट

४—स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतः आदि॥ ३-२५१॥ सा० द०

५—वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥ ५-८॥ स० भ० कं०

है। राजशेखर ने भी 'काव्यमीमांसा' में रस को काव्य की आत्मा अंगीकार किया है।[1] इस प्रकार प्रायः सभी साहित्य मनीषियों ने रस की महत्ता प्रतिपादित की है।

हिन्दी साहित्य तो संस्कृत का उपजीवी ही है। अतः वहाँ भी रस को ही विशेष महत्व दिया गया है। अलंकार ग्रन्थों के प्रणेता हिन्दी आचार्यों ने अलंकारों का प्रमुख रूप से निरूपण करते हुए भी रस को ही प्रधानता दी है। रस का विरोध यहाँ किसी भी कवि या आचार्य ने नहीं किया है। प्रत्युत सभी रस की महत्ता के ही पक्ष में हैं।

अलंकार–सिद्धांत

उक्त सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य हैं भामह। भामह ने ही सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' में अलंकारों का क्रमबद्ध वैज्ञानिक विवेचन किया है। इस ग्रन्थ के सुव्यवस्थित और पूर्ण विवेचन को देखकर सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वह अलंकार-शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ होगा। भामह ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती 'मेधाविन्' आदि का बड़े सम्मान के साथ उल्लेख किया है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि भामह के पहले से ही अलंकार-परम्परा का विकास होने लगा था। परन्तु मेधाविन् आदि का अब केवल नाम मात्र ही शेष रह गया, उनका कोई ग्रन्थ आदि आज उपलब्ध नहीं है। इस कारण अलंकार-सिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय भामह को ही दिया जाता है।

अलंकारों के विकास-क्रम में उनका सर्वप्रथम उल्लेख हमें भरत के नाट्य-शास्त्र में मिलता है। वहाँ अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक इन चार अलंकारों का ही उल्लेख है। अतः ये ही चार अलंकार साहित्य के मूलभूत जान पड़ते हैं। इनमें प्रथम तो शब्दालंकार है और अन्य तीन अर्थालंकार हैं। धीरे धीरे इनका विकास होकर कुवलयानन्द तक इनकी संख्या १२३ के आस पास तक पहुँच गई। भरतमुनि ने इन अलंकारों को वाचिक अभिनय का एक साधारण अंग ही माना था। इनके पश्चात् भट्टिकाव्य के दसवें सर्ग में ३८ अलंकारों का वर्णन मिलता है। भामह ने भी ३८ अलंकार ही बताए हैं। उन्होंने अलंकार को सर्वाधिक महत्व दिया है। वे उसे काव्य का प्राण मानते हैं। क्योंकि रस भाव आदि का स्वतन्त्र अस्तित्व उन्हें स्वीकार्य नहीं है। वे तो अलंकारों में ही उनका अन्तर्भाव करते हैं। अलंकार का स्वरूप निर्धारण करते हुए वे कहते हैं :—

वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः। १-३७। काव्यलंकार भामह।

१—शब्दार्थौ ते शरीरम्..........उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा रोमाणि छन्दांसि। काव्यमीमांसा (सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६

अर्थात् शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम अलंकार है। वक्रोक्ति में भी शब्द और अर्थ की विचित्रता होती है। अतः भामह के मत में अलंकार काव्य की आत्मा है और अलंकारों में भी वक्रोक्ति सर्वप्रधान है। वक्रोक्ति ही अलंकारों का जीवनाधायक तत्व है। उनकी दृष्टि में कोई ऐसा अलंकार है ही नहीं जो वक्रोक्ति से रहित हो। इस बात को उन्होंने स्पष्ट कहा है :—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्यांकविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना। २-८५-। का० अ० भामह।

वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ दोनों की विचित्रता होने के कारण रुद्रट ने इसे शब्दालंकार और वामन ने अर्थालंकार माना है।

भामह के पश्चात् दण्डी ने अलंकारों के विवेचन को और भी स्पष्ट और समृद्ध बनाया। उन्होंने काव्य के शोभाकर सभी धर्मों को अलंकार बताया है :—

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। २-१। काव्यादर्श

दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह हुआ कि काव्य की शोभा अलंकार के आश्रित है। इस प्रकार दण्डी के मत में भी अलांकार काव्य का नित्य धर्म है। उन्होंने अतिशयोक्ति को अलंकारों का सर्वस्व बताया है :—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।

वागीशमहितामुक्ति मिमामतिशयाह्वयाम्॥ २।२॥ काव्यादर्श।

परन्तु भामह और दण्डी के आशय में शब्द-भेद ही है। 'वक्रोक्ति' से भामह का प्रयोजन भी अतिशय उक्ति का ही है। परवर्ती आचार्यों ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है:—

"एवं चातिशयोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्।" लोचन

दण्डी ने अलंकारों की संख्या ३५ मानी है। भामह के उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमा, रूपक, आदि का त्याग करके लेश, सूक्ष्म और हेतु को जिन्हें वक्रोक्ति के अभाव में भामह ने अलंकार नहीं माना था, अलंकार की संज्ञा दी तथा साथ ही यमक, चित्रबन्ध आदि का विस्तृत विवेचन करके शब्दालंकार का विस्तार किया। अलंकार के समान ही गुण और रीति का भी दण्डी ने विवेचन किया है, जिससे उनका दृष्टिकोण भामह की अपेक्षा अधिक उदार जान पड़ता है।

भामह के टीकाकार उद्भट ने 'भामह विवरण' नाम से भामह के सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए अलंकार-सिद्धान्त का पोषण और संवर्धन किया है। उन्होंने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास नामक नवीन अलंकारों को जन्म दिया और अनुप्रास तथा उपमा के भेदों की श्रीवृद्धि की। उनका अलंकार-विवेचन बड़ा ही सूक्ष्म और समृद्ध है।

आगे चलकर रुद्रट और प्रतिहारेन्दुराज ने भी इसी सिद्धान्त का पोषण करते हुए अलंकार को ही प्रधानता दी। रुय्यक ने तो स्पष्ट ही घोषणा कर दी कि प्राचीन अलंकारवादियों के मत में अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं—

"तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानम् इति प्राच्यानाम् मतम्" पृ० ७ अ० सर्व०

रुद्रट का अलंकारवादियों में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने समय के सम्प्रदायों का समन्वय करने का बड़ा स्तुत्य प्रयास किया है, परन्तु अलंकार शास्त्र भी उनका विशेष ऋणी है। रुद्रट ने अलंकारों के भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण करके उनकी संख्या का विस्तार किया। उन्होंने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकार का वर्गीकरण भी किया। पर रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वमान्य न हो सका, फिर भी यह वर्गीकरण उनके मौलिक चिन्तन की सूचना देता है। आगे चलकर रुय्यक ने इस वर्गीकरण को पूर्ण बनाने का प्रयास करते हुए निम्नलिखित वर्गों की कल्पना की—

सादृश्यगर्भ, विरोध-गर्भ, श्रृंखलाबद्ध, न्यायमूलक, गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक और शंकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग में नहीं रक्खा गया। विद्याधर ने अपनी 'एकावली' में औपम्य, विरोध और तर्क आदि को अलंकारों का का मूल विभदेक मान कर इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है।

इसके पश्चात् परवर्ती आचार्यों ने इस सिद्धान्त में कोई विशेष योग नहीं दिया। हाँ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों ने एक बार फिर अलंकार-सम्प्रदाय को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने अलंकार को काव्य का वैसा ही प्राणविधायक तत्व बताया, जैसे कि उष्णता अग्नि का प्राण होती है। जिस प्रकार अग्नि को उष्णतारहित मानना हास्यास्पद है, उसी प्रकार काव्य को अलंकारविहीन मानना भी अस्वाभाविक है। मम्मट ने काव्य का लक्षण करते हुए जो यह कहा था कि बिना अलंकार के भी काव्यत्व हो सकता है, उसी का खण्डन करते हुए जयदेव ने लिखा था:—

अंङ्गीकरोति यः काव्यम् शब्दार्थविनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती॥ १-८॥ चन्द्रालोक

अर्थात् जो विद्वान अलंकारविहीन शब्दार्थ को काव्य मानते हैं वे अग्नि को उष्णताविहीन क्यों नहीं मानते। प्रयोजन यह कि जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं होता उसी प्रकार अलंकार के बिना काव्य की स्थिति नहीं हो सकती।

इस प्रकार अलंकार सिद्धान्त में अलंकार को काव्य का प्राण बताया गया और रसादिक को भी उसी के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। अलंकारवादी

आचार्य रस-तत्व से अनभिज्ञ नहीं थे, परन्तु उन्होंने रस को अलंकार का ही एक प्रकार मान लिया, रसवत्, प्रेयस, ऊर्जस्वित् और समाहित अलंकारों के अन्तर्गत रस के समग्र विषय को अन्तर्भूत कर दिया गया।

भामह ने महाकाव्य में रसों की स्थिति स्वीकार की है।[1] एक स्थल पर तो उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि जहाँ शृंगारादि रसों की स्पष्ट प्रतीति हो, वहाँ रसवत् अलंकार नहीं माना जा सकता।[2]

दण्डी ने रसवद् अलंकार के अन्तर्गत आठों रसों और स्थायी भावों का निर्देश किया है।[3] वे माधुर्य गुण के भीतर भी रस का समावेश मानते हैं।[4]

इसी प्रकार उद्भट और रुद्रट भी रस-तत्व से पूर्णतया परिचित हैं। रुद्रट ने तो रसवद् अलंकार के विवेचन में स्थायिभाव, विभाव और संचारी जैसे पारिभाषित शब्दों का उल्लेख भी किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह, दण्डी आदि जैसे अलंकारवादी आचार्य रस की महत्ता से परिचित होते हुए भी उसे अलंकार के ही अन्तर्गत बताकर उसी का एक रूप ही मानते हैं। इससे जान पड़ता है कि अलंकारवादी आचार्य हठवादी हैं और वे अपने सिद्धान्त से तनिक भी हटना नहीं चाहते।

परन्तु यह अलंकार सिद्धान्त आगे चलकर मान्य नहीं रह सका। रस और ध्वनि सिद्धान्तों के समक्ष वह अधिक स्थिर नहीं रह सका। जयदेव और अप्पयदीक्षित के पश्चात् यह अलंकार-परंपरा संस्कृत-साहित्य में तो स्थिर नहीं रह सकी, पर हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने उसे अवश्य अपना लिया। हिन्दी में भी केशवदास ने तो कविता के लिए अलंकारों को अनिवार्य बताया था, और अन्य कवियों ने भी अपने अलंकार-ग्रन्थों में चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की शैली अपना कर उन्हें अपना आधार ग्रन्थ बनाया था, परन्तु फिर भी अलंकारों को वह महत्व प्राप्त नहीं हो सका जो भामह दण्डी आदि के समय में था। हिन्दी में अलंकार विषयक ग्रन्थों का प्राचुर्य होते हुए भी प्रधानता रस की ही रही।

रीति सिद्धांत

इस सिद्धान्त के प्रवर्तक हैं आचार्य वामन। सर्वप्रथम उन्होंने ही

१—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्। १-२१। का० अलं०-भामह

२—रसवद् दर्शितस्पष्ट शृंगारादि रसं यथा।
देवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता। ३-६॥ का० अल०

३—इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। २-२९२। काव्यादर्श

४—मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यापि रसस्थितिः। १-५१। काव्यादर्श

रीति शब्द का प्रयोग किया था और उसे काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।[1] परन्तु यह रीति परम्परा वामन से पूर्व भी प्रचलित थी। भामह ने वैदर्भ और गौड़ काव्यों के अन्तर का निषेध किया था जिससे प्रकट होता है कि उनके समय में भी किसी न किसी रूप में रीति का प्रचलन था।[2] दण्डी ने तो स्पष्ट शब्दों में 'रीति' के अर्थ में 'मार्ग' शब्द का प्रयोग किया था और वैदर्भ तथा गौड़ उसके दो भेद किए थे।

रीति शब्द की परिभाषा वामन ने इस प्रकार की है :—
"विशिष्टपदरचना रीतिः", अर्थात् विशिष्ट पदरचना को रीति कहते हैं। परन्तु पदों में विशिष्टता गुणों के कारण ही आती है, अतः रीति गुणों पर अवलम्बित होती है। इसी बात को वामन ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

विशिष्टपदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा। १-२-७,८

इसी कारण कुछ लोग रीति-सम्प्रदाय को गुण सम्प्रदाय के नाम से भी अभिहित करते हैं। परन्तु इन गुणों का विवेचन वामन के पहले से भी काव्य-शास्त्र में प्रचलित था। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में दस गुणों का विवेचन किया है।[3] दण्डी ने भी इन गुणों को स्वीकार किया है, पर दण्डी की इन गुणों की व्याख्या में भरतमुनि से कुछ अन्तर है। वे गुणों के शब्दगत और अर्थगत भेद नहीं मानते हैं। ये दस गुण दण्डी के अनुसार वैदर्भ मार्ग में रहते हैं, पर गौड़ मार्ग में इन गुणों में से कुछ गुणों का विपर्यय रहता है।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन से पूर्व भी रीति और गुणों का विवेचन होता था। वामन ने उन्हें केवल एक निश्चित रूप रेखा देकर रीति को काव्य की आत्मा बताया। इसी कारण रीति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का श्रेय वामन को ही दिया जाता है।

१—रीतिरात्मा काव्यस्य। १-२-६। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति-वामन।
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥१-३२॥ काव्यालंकार भामह

२—अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो, वैदर्भमिति नान्यथा॥ १-३५॥ काव्यालंकार-भामह

३—श्लेषः प्रसादः समता समाधिः, माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यार्थ गुणा दशैते॥१६-६२॥
नाट्य-शास्त्र

४—इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दसगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥
॥ १-४२ ॥
काव्यादर्श।

वामन ने भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट दस गुणों को तो स्वीकार किया है पर उन्होंने उन गुणों की व्याख्या एक नवीन और मौलिक रूप में की है। फिर उन्हें शब्दगत और अर्थगत इन दो भागों में विभक्त भी किया है। इस विभाजन में गुणों के नाम तो वही हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है, परन्तु उनकी कल्पना में पर्याप्त भिन्नता है। परन्तु वामन की यह मान्यता अन्य आलंकारिकों को स्वीकार्य नहीं हो सकी। भामह ने पहले ही दस गुणों के स्थान पर प्रसाद, माधुर्य और ओज तीन गुणों की कल्पना कर ली थी।[1] फिर मम्मट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने भी तीन ही गुण माने। उन्होंने अन्य गुणों का इन्हीं तीन गुणों में अन्तर्भाव कर दिखाया अथवा उन्हें कहीं दोषाभाव बताया। वामन का अनुसरण भोजराज ने अवश्य किया। उन्होंने बाह्यान्तर और वैशेषिक के नाम से गुणों के तीन भेद किए और उनकी संख्या भी चौबीस तक पहुँचा दी।[2]

दण्डी ने वैदर्भी और और गौड़ी दो रीतियाँ ही मानी थीं, पर वामन ने पांचाली एक रीति और मानकर उनकी संख्या तीन कर दी।[3] वामन के अनुसार वैदर्भी रीति में सभी दस गुण विद्यमान रहते हैं, पर गौड़ी में केवल ओज और कान्ति, तथा पांचाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण ही होते हैं।[4]

वामन के पश्चात् रुद्रट ने एक चौथी रीति लाटीया[5] का आविष्कार किया, पर उनकी यह रीति समस्त पदों का प्रयोग विशेष ही है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति की कोई स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं की, वरन् उसे काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वक्तृ-वाच्य-औचित्य हेतु बताया है।[6] परन्तु गुणों को अवश्य उन्होने महत्व दिया और उन्हें काव्य का नित्य अंग बताया है।

१— माधुर्यमभिवांछन्तः प्रसादं न सुमेधसः ॥ २-१ ॥ काव्यालंकार-भामह
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः, समस्यन्ति बहून्यपि ॥ —२ ॥

२—अ—त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कवि सम्मताः ।
बाह्याश्चाभ्यन्तराश्चैव ये च वैशेषिका इति ॥ १-६० ॥ स० कं० भरण
ब—चतुर्विंशत्तिराख्याता ………… ॥ १—६२ ॥

३—सा त्रेधा वैदर्भी, गौडीया पांचाली चेति ॥ १-२-६ ॥ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

४—अ—समग्रगुणा वैदर्भी । १-२-११ ॥-ब-ओजः कान्तिमती गौड़ीया ॥१-२-१२ ॥
माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली । १-२-१३ ॥ का० सू० वृ०

५—पांचाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिताः ॥ का० अ० रुद्रट ॥

६—गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा ।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तवाच्ययोः ॥ २-६२ ॥ ध्वन्यालोक

भोज ने अवन्ती और मागधी दो नवीन रीतियों[१] की उद्भावना करके रीतियों की संख्या वामन से दुगुनी अर्थात् छह कर दी। इस प्रकार रीतियों की संख्या में वृद्धि अवश्य हुई, पर काव्यजगत में प्रचलन वामन द्वारा प्रतिपादित तीन रीतियों का ही रहा। आगे चलकर मम्मट और विश्वनाथ ने भी रीति का विवेचन किया। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों के साथ एक कर दिया। वैदर्भी को उपनागरिका, गौड़ी को परुषा और पांचाली को कोमलावृत्ति के साथ एक रूप बना दिया। विश्वनाथ ने रीति को अधिक सम्मानित किया। उन्होंने रस और गुण के साथ रीति को सम्बन्धित करके उसका विवेचन किया है। वे उसे रसादिक की उपकारक मानते हैं।[२]

वामन ने अलंकारों का भी विवेचन किया है, पर गुणों से भिन्न मानकर। वामन ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सबसे कम अलंकारों का वर्णन किया है। वैसे तो भामह आदि आचार्यों ने भी उपमा के महत्व को स्वीकार किया था, परन्तु वामन ने उपमा पर ही सब अलंकारों को आधारित मानकर उन्हें 'उपमाप्रपंच' कहा था। जिस चतुर्थ अधिकरण के तृतीय अध्याय में अलंकारों का विवेचन किया था, उसे 'उपमाप्रपंचविचारः' कहकर अभिहित किया है और उसका प्रारम्भ —

प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपंचः । ४-३-१ । का० अ० सू० वृ०

शब्दों के साथ किया है जिसका तात्पर्य होता है, प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा के ही प्रपंच हैं। इसी मान्यता के कारण उनके कतिपय अलंकारों के लक्षण अन्य लक्षणों से भिन्न जान पड़ते हैं, साथ ही पर्यायोक्त, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, उदात्त भाविक और सूक्ष्म को तो उन्होंने अलंकारों में स्थान ही नहीं दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन ने जिस रीति को काव्य की आत्मा कह कर अपने रीनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था (स्मरण रहे काव्यात्मा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम वामन ने ही किया था) उस रीति से उनके पूर्ववर्ती आचार्य भलीभांति परिचित थे, और परवर्ती आचार्यों ने उसका विशद विवेचन किया है। परन्तु उनमें से किसी ने भी वामन के समान उसको इतना महत्व नहीं दिया और न वामन के पश्चात् किसी ने इस रीति-सिद्धान्त की महत्ता को मान्यता दी। फलतः वामन के साथ ही उनका सिद्धान्त भी समाप्त हो गया।

१—वैदर्भी साथ पांचाली गौडीयावन्तिका तथा।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥ २-२८ ॥ स० कं० भ०

२—पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्था विशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्............... ॥ ६-१ ॥ सा० द०

रीति सिद्धान्त को मान्यता न मिलने पर भी कुछ दृष्टियों से उसका महत्व और मूल्य अवश्य आंका जा सकता है। सर्वप्रथम, रीति-सिद्धान्त में जितने अधिक काव्य-सिद्धान्तों का विकास दिखाई पड़ता है, उतना अलंकार-सिद्धान्त में भी नहीं है। काव्य का मूल्य क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर रीति-सिद्धान्त ने बड़ी मार्मिकता के साथ दिया है। काव्यात्मा का प्रयोग सबसे पहले वामन ने ही किया है। दूसरे गुण और अलंकारों को पृथक् बताने का श्रेय इसी सिद्धान्त को है। वामन ने काव्य में गुणों को अलंकारों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया। उन्होंने काव्य की शोभा करने वाले धर्म को गुण और उसका अतिशय करने वाले धर्म को अलंकार बताया।[1] उनके मत में गुण नित्य हैं। और उनके बिना काव्य की शोभा नहीं रह सकती।[2]

तीसरे इस सिद्धान्त में रस को काव्य का अन्तरंग धर्म मानकर उसकी महत्ता को स्वीकार किया गया है। वामन ने 'कान्ति' गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश किया। और रसवत् आदि अलंकारों को भी अपने काव्य में कोई स्थान नहीं दिया। इससे सिद्ध होता है कि वामन को रस की महत्ता ज्ञात थी। इसके विपरीत अलंकारवादियों ने रस को अलंकार के अन्तर्गत स्थान देकर उसे काव्य का बहिरंग साधन ही माना था।

चौथे जिस रीति को इस सिद्धान्त में काव्य की आत्मा बताया गया है, वामन के पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों ने उस के महत्व को अवश्य स्वीकार किया है, भले ही वे रीति को काव्य की आत्मा मानने में वामन से सहमत न हों।

पाश्चात्य साहित्य में भी फ्लाउबर्ट (Flaubert) वाल्टर रेले (Walter Releigh) तथा वाल्टर पीटर (Walter Peter) ने रीति (Style) को पर्याप्त महत्व दिया है।

इस प्रकार रीति को काव्य के उपादेय तत्व के रूप में पूर्वीय और पाश्चात्य विद्वानों ने अवश्य माना है, पर उसे काव्य की आत्मा के रूप में वामन के अतिरिक्त किसी ने भी स्वीकार नहीं किया।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' की प्रतिष्ठा आचार्य कुन्तक ने अवश्य की थी। परन्तु संस्कृत-साहित्य में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग अति प्राचीन काल से चला आ रहा

१—काव्यशोभायाः कर्तारोधर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ३-१-१,२ वामन

२—पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः, तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः। ३-१-१। वामन

है। 'कादम्बरी' में बाणभट्ट ने इस का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकार-जगत में 'वक्रोक्ति' की कल्पना भामह से प्रारम्भ होती है। वे इसे काव्य का मूलभूत मानते हैं, और इस कारण उन्होंने हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार तक नहीं माना था।[1] क्योंकि उनमें वक्र उक्ति का अभाव रहता है। वे अलंकार के लिए वक्रोक्ति की आवश्यकता मानते हैं।[2]

भामह के पश्चात् दण्डी ने 'वक्रोक्ति' को 'स्वभावोक्ति' के विपर्यय रूप में ग्रहण करते हुए उसे श्लेष-पोषित बताया :—

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ २-२६३ । काव्यादर्श

दण्डी ने समग्र वाङ्मय को 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति'—इन दो भागों में विभाजित किया है। 'स्वभावोक्ति' में उनके अनुसार वस्तुओं का यथार्थ कथन रहता है, पर 'वक्रोक्ति' में स्वभावकथन से भिन्नता होती है। इस कारण उसमें अतिशय कथन का समावेश किया गया। फलतः उपमा आदि अर्थालंकार और रसवदादि रससम्बद्ध अलंकार-वक्रोक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार दण्डी ने भामह की 'वक्रोक्ति' को स्वीकार तो किया परन्तु 'स्वभावोक्ति' को 'वक्रोक्ति' के क्षेत्र से पृथक् कर दिया। क्योंकि स्वभावोक्ति के लिए वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं समझते।

परवर्ती आचार्यों में रुद्रट आदि ने वक्रोक्ति को केवल शब्दालंकार ही माना है,[1] हाँ, वामन ने अवश्य उसे अर्थालंकार बताया है। उनके अनुसारः—

सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । ४-३-८ । का० अ० सू० वृ०

सादृश्य के कारण लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं पर सादृश्य पर आश्रित, वक्रोक्ति होती है।

परन्तु कुन्तक ने इन सबका प्रत्याख्यान करते हुए वक्रोक्ति को पृथक् अलंकार न मानकर सबल शब्दों में उसे काव्य का जीवित स्वीकार किया है उनके अनुसार वक्रोक्ति का लक्षण हैः—

वक्रोक्ति रेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते। १-१० । व० जी०

१—हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।
समुदायाभिधयस्ये वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥२-८६॥ काव्यालंकार भामह
२—वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥५-६६॥ —
१—वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथा परं चित्रम् ।
शब्दस्यालंकाराः श्लेषोऽर्थस्यापि सोऽन्यस्तु ॥ २-१३ । काव्यालंकार रुद्रट

अर्थात् प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र वर्णनशैली वक्रोक्ति कहलाती । इसी बात की वृत्ति में इस प्रकार व्याख्या की गई है:—

"वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । कीदृशी ? वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः । वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः तया भणितिः । विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते ।"

इस वृत्ति की व्याख्या करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि वक्रोक्ति का अर्थ है विचित्र उक्ति (अभिधा) । उसमें तीन विशेषताएँ हैं:—

१—प्रसिद्ध कथन अर्थात् लोक व्यवहार और शास्त्र में प्रयुक्त रूढ़ शब्द अर्थ से भिन्नता ।

२—वैदग्ध्य अर्थात् कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार ।

३—भङ्गी अर्थात् शैली या शोभा की विचित्रता, दूसरे शब्दों में तद्विदाल्हादकारित्व अर्थात् सहृदय के मनः प्रसादन की क्षमता ।

अतएव कुन्तक के अनुसार 'वक्रोक्ति' उस उक्ति अथवा कथनशैली का नाम है जो लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्द अर्थ के उपनिबन्ध से भिन्न कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कार के कारण सहृदय आल्हादकारी होती है ।

इस विवेचन से कुन्तक के तीन मूल सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं :—[१]

१—काव्य की शैली शास्त्र और लोक व्यवहार की शैली से अनिवार्यतः भिन्न होती है ।

२—काव्य का मूल हेतु है कवि की प्रतिभा और स्वभाव । कवि काव्य का कर्ता है अर्थात् काव्य कवि का कर्म है, अव्यक्तिगत सृष्टि नहीं ।

३—प्रतिभा इस जन्म और पूर्व जन्मों के संस्कारों का परिणाम है ।

इस वक्रोक्ति को उन्होंने छह भागों में विभक्त किया है :—

१—वर्णविन्यासवक्रत्वं पदपूर्वार्धवक्रता ।
वक्रतायाः परोऽप्यस्ति प्रकारः प्रत्ययाश्रयः ॥ १–१९ ॥ व० जी०

२—वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्रधा ।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥ १–२० ॥ व० जी०

३—वक्रभावः प्रकरणे प्रबन्धे वास्ति यादृशः ।
उच्यते सहजाहार्य सौकुमार्य मनोहरः १–२१ ॥ व० जी०

१—वर्णवक्रता २—पदपूर्वार्धवक्रता ३—प्रत्ययवक्रता ४—वाक्य वक्रता ५—प्रकरण वक्रता और ६—प्रबन्ध वक्रता–ये छह भेद वक्रोक्ति के हैं ।

१—हिन्दी वक्रोक्तिजीवित–सम्पादक डा० नगेन्द्र पृष्ठ ३३

रस और ध्वनि के सिद्धान्तों से कुन्तक परिचित थे, परन्तु उन्होंने रस और ध्वनि को स्वतंत्र स्थान न देकर 'वक्रोक्ति' का ही विशिष्ट प्रकार माना है। वास्तव में कुन्तक के मत में वक्रोक्ति काव्य की आत्मा है और रस वक्रोक्ति की परम विभूति।। उनका विश्वास है कि रस की काव्यगत अभिव्यंजना वक्रता विहीन नहीं हो सकती। वक्रोक्ति के छह भेदों में प्रबन्धवक्रता को सबसे प्रौढ़ और उत्कृष्ट माना गया है। इसी प्रबन्ध के विषय में उनका कथन है :—

निरन्तरसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः ।। ४—११
वृत्ति में अन्तरश्लोकः ।। व० जी०

अर्थात् निरन्तर रस प्रवाहित करने वाले संदर्भों से पूर्ण कवियों की वाणी कथामात्र के आश्रय से जीवित नहीं रहती है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि कुन्तक के अनुसार काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप 'प्रबन्ध' है और प्रबन्ध का प्राण तत्व है रस। काव्यलक्षण में भी उन्होंने रस का महत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार तद्विदाल्हादकारिणी बन्ध में व्यवस्थित हितकारी शब्दार्थ ही काव्य है।[१] यहाँ आल्हादकारी शब्द से रस की महत्ता स्वयं सिद्ध है। इसके अतिरिक्त रसवद् आदि अलंकारों के अलंकारत्व का भी उन्होंने खण्डन किया है।[२] इस प्रकार कुन्तक काव्य में रस को महत्ता अवश्य प्रदान करते हैं। परन्तु वे उसे 'प्रबन्ध वक्रता' के अन्तर्गत ही मानते हैं, उसे कोई स्वतंत्र स्थान नहीं देते। इसी प्रकार ध्वनि का भी स्वतंत्र अस्तित्व उन्हें स्वीकार नहीं है। ध्वनि को भी वे 'प्रबन्ध वक्रता' के ही अन्तर्गत मानते हैं। ध्वनि के अनेक भेदों का समावेश उन्होंने इसी 'वक्रता' के अन्तर्गत किया है।

इस प्रकार वक्रोक्ति सिद्धान्त में वक्र उक्ति ही सब कुछ है। 'वक्रोक्ति' कुन्तक के अनुसार कोई अलंकार विशेष नहीं है, प्रत्युत वह ऐसी उक्ति या कथन-शैली है, जो प्रसिद्ध कथन से भिन्न, विचित्र और सहृदयाल्हादकारिणी होती है। रस, ध्वनि तथा अलंकार आदि सभी का इस 'वक्रोक्ति' में सन्निवेश रहता है। अतएव कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा-जीवन-माना है। इसी कारण उनका ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित और वे वक्रोक्तिजीवितकार' के नाम से साहित्य-जगत में अमर हो गये।

यह सिद्धान्त कुन्तक के परवर्ती आचार्यों को स्वीकार नहीं हुआ और आज भी उसको कोई विशेष मान्यता नहीं दी जाती है। वह कुन्तक से प्रारम्भ होकर

१—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाल्हादकारिणि।। १-१० ।। व० जी०

२—अलंकारौ न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ।। ३-११ ।। व० जी०

उन्हीं के साथ निःशेष भी हो गया। वक्रोक्ति-सिद्धांत को कोई महत्ता दे या न दे, परन्तु वह अपनी मौलिकता के कारण अलंकार-शास्त्र में सदा अमर रहेगा।

वक्र उक्ति की महत्ता को पाश्चात्य आलोचकों ने भी स्वीकार किया है। अरस्तू तथा लांजिनस ने इसका विशेष रूप से समर्थन किया है। वर्तमान युग में क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी एक प्रकार से 'वक्रोक्ति' का ही रूपान्तर समझा जाता है। अरस्तू ने काव्यशैली को सुन्दर बनाने के लिए 'वक्रोक्ति' को आवश्यक बताया है। उनका कथन है :—

"The Diction becomes distinguished and non-Prosaic by the use of unfamiliar terms i e. Strange words, metaphors, lengthened forms and everything that deviates from the ordinary modes of speech."

Poetics.

अर्थात् अपरिचित शब्दों, रूपकों, लम्बे रूपों तथा असाधारण कथनों के प्रयोग से काव्यरीति विशिष्ट और कवित्वपूर्ण होती है।

लांजिनस Sublimity (उत्कृष्टता) को काव्य का परमसौन्दर्य मानते हैं। यह भव्यता वहीं होती है जहाँ लोक का अतिक्रमण रहता है। काव्य में सर्वत्र अलौकिकता रहती है। इस अलौकिकता को लाने के लिए लोक में व्यवहृत शब्द असमर्थ होते हैं। लांजिनस की यह शाब्दिक अलौकिकता एक प्रकार से 'वक्रोक्ति' का ही दूसरा रूप है क्योंकि 'वक्रोक्ति' भी लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्दार्थ से भिन्न सहृदय-आल्हादकारिणी कथन-शैली होती है। इस पाश्चात्य विद्वान के उक्त कथन को उसी के शब्दों में देखिए :—

"Sublimity is a certain consummateners and pre-eminence of phrase. Far, what is out of the common leads audience not to persuation, but to ecstasy,"

अर्थात् लांजिनस के शब्दों में साधारण से भिन्न असाधारण कथन ही पाठक या श्रोता को आनन्दानुभूति कराता है। यह असाधारण कथन ही वास्तव में 'वक्रोक्ति' है। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान भी वक्रोक्ति की महत्ता से परिचित हैं।

ध्वनि–सिद्धान्त

ध्वनि-सिद्धान्त को व्यवस्थित करके उसको प्रतिष्ठा देने का गौरव ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को प्राप्त है। ध्वन्यालोक के प्रणेता आनन्दवर्धन ही हैं अथवा अन्य कोई या आनन्दवर्धन केवल उसके वृत्तिकार हैं? यह विषय अभी तक भी विवादग्रस्त है। ध्वन्यालोक के इन शब्दों से—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः। १–१। ध्वन्यालोक

काव्य की आत्मा ध्वनि है जिसका समर्थन पूर्ववर्ती विद्वानों ने भी किया है स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह सिद्धान्त 'ध्वन्यालोक' से पूर्व भी प्रचलित था। ध्वन्यालोककार ने तो केवल उसको व्यवस्थित रूप देकर साहित्य जगत को गौरवान्वित किया है। तब से लेकर आज तक यही सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। अन्य सिद्धान्त जो अब तक प्रचलित थे, प्रायः सभी एकांगी थे। अलंकार और रीति-सम्बन्धी सिद्धान्त केवल काव्य के वाह्यांग का ही विवेचन करते हैं, और रस-सिद्धान्त ऐन्द्रिय आनन्द को सर्वस्व मानता हुआ भी बुद्धि और कल्पना के आनन्द पर कोई प्रकाश नहीं डालता। ध्वनिकार ने इन सभी त्रुटियों को दूर करते हुए शब्दशक्ति 'व्यंजना' पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया।

ध्वनि सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता इस बात में है कि वहाँ रस, अलंकार, गुण और दोष सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उन सब का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। साथ ही ध्वनिकार ने यह सिद्ध कर दिया है कि किसी भी पूर्ववर्ती सिद्धान्त के भीतर उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसीलिए वह सर्वांगपूर्ण सिद्धांत होने के कारण ही युगों से मान्यता-प्राप्त रहा है।

भट्टनायक, महिमभट्ट, प्रतिहारेन्दुराज और कुन्तक आदि महासाहित्यरथियों ने इसका वड़े प्रबल शब्दों में विरोध किया था। भट्टनायक रसपक्षपाती थे और रस की अभिव्यक्ति में व्यंजना के समर्थक न होकर भुक्तिवादी थे। उन्होंने काव्य में अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व इन तीन व्यापारों की कल्पना की थी। उन्होंने ध्वन्यालोककी कारिकाओं का बड़ा मार्मिक खण्डन किया था, परन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त के समक्ष उनका यह खण्डन टिक न सका। उन्होंने भट्टनायक की युक्तियों की धज्जियाँ सी उड़ा कर दार्शनिक दृष्टि से व्यंजना का समर्थन करते हुए ध्वनि का बड़ा मार्मिक विवेचन किया।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में व्यंजना की विवेचना करते हुए 'ध्वनि' को अनुमान के अन्तर्गत बताने का प्रयास किया था। उन्होंने 'ध्वन्यालोक' में 'ध्वनि' के लिए उद्धृत उदाहरणों को अनुमान द्वारा सिद्ध करने का विद्धत्तापूर्ण प्रयास किया है। महिमभट्ट व्यंजना को केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद मानते हैं, उसे वे एक स्वतंत्र शब्द-शक्ति नहीं मानते। व्यंजना को वे काव्यानुमिति कहते हैं। उनके अनुसार इसी काव्यानुमिति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। इस प्रकार महिमभट्ट की यह धारणा शंकुक के 'अनुमिति-वाद' से बहुत कुछ प्रभावित है। परन्तु 'अनुमितिवाद, की भांति महिमभट्ट का सिद्धान्त भी ग्राह्य नहीं हुआ।

प्रतिहारेन्दुराज ने 'ध्वनि' को अलंकार के अन्तर्गत बताया है। वस्तु, अलंकार और रस इन तीनों ध्वनि-भेदों के 'ध्वन्यालोक' में जो उदाहरण दिए गए

हैं, उन्हें प्रतिहारेन्दुराज ने अलंकारों के उदाहरण सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। वास्तव में वे अलंकारवादी आचार्य थे। उनका उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना न होकर उसे अलंकार के अंतर्गत सिद्ध करना था।

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक का ध्येय भी ध्वनि सिद्धांत का खण्डन करना नहीं था। वे आनंदवर्धन को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, और ध्वनि-सिद्धांत से परिचित भी हैं। परंतु 'ध्वनि' को वे 'वक्रोक्ति' का एक प्रकार ही मानते हैं। रस की उपयोगिता भी उन्हें स्वीकार है, पर रस को वे वाक्य का स्वतंत्र तत्व न मानकर उसे 'वक्रोक्ति' का ही एक भेद मानते हैं।

इस प्रकार इन महान् शक्तिशाली साहित्यरथियों के प्रबल विरोध का सामना ध्वनि सिद्धांत को करना पड़ा, पर अन्त में वे सभी विरोधी परास्त हुए और उसका सर्वत्र बोलबाला हो गया। आगे चलकर मम्मट ने सभी विचारों का खण्डन मण्डन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। विश्वनाथ ने ध्वनि के स्थान पर रस को ही अधिक महत्व दिया, पर रसगंगाधरकार जगन्नाथ ने उनका प्रबल विरोध किया।

अभिनवगुप्त ने रस और ध्वनि सिद्धांतों का समन्वय प्रारम्भ कर दिया था और आगे चल कर यह समन्वय अपनी पूर्णता को पहुँच गया। इस समन्वयवाद के परिणामस्वरूप इन दोनों सिद्धांतों में कोई भेद नहीं रह गया था।

हिन्दी में कुलपति, प्रताप साहि आदि आचार्यों ने 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा माना था, पर अधिकतर हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में रस का ही अधिक विवेचन किया गया है। ध्वनि का निरुपण बहुत हीं कम हुआ। क्योंकि हिन्दी-रीति-ग्रन्थ-कारों को जो परम्परा मिली थी, उसके अन्तर्गत रस में ही ध्वनि का बहुत कुछ अन्तर्भाव हो चुका था।

ध्वनि-सिद्धान्त में ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया गया है। इसके अनुसार काव्य में वाच्यार्थ का सौन्दर्य न होकर मुख्यतया व्यंग्यार्थ का ही सौन्दर्य रहता है। वास्तव में अर्थ मुख्यतया दो प्रकार का है—एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। वाच्यार्थ में अलंकार आदि का समावेश होता है, और प्रतीयमान अर्थ में ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ के विषय में ध्वन्यालोककार ने लिखा है :—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

। १-४ । ध्वन्यालोककार

अर्थात् जिस प्रकार किसी सुन्दरी के शरीर में उसके प्रत्येक अवयव से भिन्न उसके लावण्य की पृथक् सत्ता रहती है, उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में भी

उसके अंगों से भिन्न कोई अन्य प्रतीयमान वस्तु या अर्थ की सत्ता भी रहती है। इसी प्रतीयमान अर्थ में ध्वनि का समावेश रहता है।

यह ध्वनि क्या है? इस प्रश्न का समाधान काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार किया है :—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधैः कथितः। १-४। का० प्र०

वाच्यार्थ से भिन्न, रमणीय और उससे कहीं अधिक अतिशयपूर्ण अर्थ जो वाच्य अर्थ से निकलता है, ध्वनि कहलाती है। इस ध्वनि शब्द को ध्वनिकार ने वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। 'स्फुटति अर्थो अस्मात् इति स्फोटः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर स्फोट का अर्थ होता है, जिसके द्वारा अर्थ स्फुटित या अभिव्यक्त होता है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं, इसी को ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्णों के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थ बोध कराते हैं—यही स्फोट है—इसी का दूसरा नाम है ध्वनि। वैयाकरणों के इसी ध्वनि शब्द को लेकर काव्यशास्त्रियों ने उसको विस्तार दिया। व्याकरण में ध्वनि केवल अभिव्यंजक शब्द के अर्थ में प्रयुक्त होती है, पर साहित्य-शास्त्र में इसका प्रयोग अभिव्यंजक शब्द और अर्थ दोनों के लिए होने लगा। यही ध्वनि-सिद्धान्त का मूल-तत्व है।

यह ध्वनि तीन प्रकार की है :—१—वस्तु ध्वनि २—अलंकार ध्वनि ३-रस ध्वनि। जहाँ तथ्य-कथन मात्र की व्यंजना होती है वहाँ वस्तु ध्वनि होती हैं। अलंकार ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृतात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों से प्रकट किये जाने पर अलंकार का रूप धारण कर लेता है। रस-ध्वनि के अन्तर्गत नव रसों के अतिरिक्त भाव, भावाभास, रसाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि सभी की गणना होती है। लोचनकार अभिनवगुप्त ने एक स्थल पर लिखा है कि वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का इसी रस-ध्वनि में पर्यवसान हो जाता है। इसलिए वे वाच्य से उत्कृष्ट अवश्य होते हैं। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो एक सामान्य कथन है, वस्तुतस्तु रस ही काव्य की आत्मा है।

"तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति—पर्यवस्येते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्।" लोचन पृ० २७

इससे सिद्ध होता है कि रस ध्वनि उक्त तीनों ध्वनियों में श्रेष्ठ हैं, और ध्वनि-सिद्धांत में रस को सर्वश्रेष्ठ काव्य तत्व माना गया है।

ध्वनि-सिद्धांत के अनुसार काव्य के तीन भेद होते हैं १—ध्वनि-काव्य (उत्तम) २—गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम) और ३—चित्र-काव्य (अधम)। ध्वनि

काव्य वह होता है जहाँ वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का अधिक चमत्कार रहता है। गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्य तो अवश्य रहता है, परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है। चित्रकाव्य में अलंकारों का ही चमत्कार रहता है। यह अधम कोटि का काव्य कहलाता है। इसके विषय में ध्वन्यालोककार लिखते हैं :—

"एतत्तु चित्रं कवीनां विश्रृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्ति-दर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्।" ध्वन्यालोक—२२१ पृ०

इस प्रकार चित्र-काव्य में रसात्मकता का अभाव होने से केवल वाक्-विकल्प की ही स्थिति मानी गई है। इसी कारण ध्वनि-सिद्धांत में रस को महत्व मिलने से आधुनिक विद्वान ध्वनि-सिद्धांत को रस सिद्धांत का ही विस्तृत रूप मानते हैं।

ध्वनि का आधार है 'व्यंजना'। परन्तु इस व्यंजना-शक्ति के अस्तित्व में क्या प्रमाण है? भट्टनायक और महिमभट्ट ने सबसे पहले 'व्यंजना' का ही विरोध किया था। पर 'व्यंजना' ऐसे सुदृढ़ आधार पर स्थित थी कि विरोधियों के प्रबल आघात होने पर भी वह अडिग बनी रही। इस 'व्यंजना' की उद्भावना तथा नामकरण ध्वनिकार ने भले ही किया हो, पर इसका प्रयोग प्रारम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि वक्रतामूलक अलंकारों में अर्थ-बोध 'व्यंजना' द्वारा ही होता है। भावमूलक अथवा अभावमूलक तर्कों द्वारा व्यंजना की मान्यता सम्भव है। उदाहरणार्थ, 'गंगायां घोषः', अर्थात् 'गंगा पर घर' इस कथन को लीजिए। यहाँ 'गंगा पर घर' जो अभिधेयार्थ है, वह गंगा के प्रवाह में घर की कल्पना का विषय ही नहीं हो सकता। अतः लक्षणा से हमें उसका अर्थ करना होगा, 'गंगा के किनारे घर'। परन्तु 'गंगायाः तटे घोषः' (गंगा के किनारे घर) न कहकर 'गंगायां घोषः' कहने से वक्ता का क्या प्रयोजन है? स्पष्ट है कि वह गंगायाँ घोषः कह कर यह प्रकट करना चाहता है कि जो घर गंगा के किनारे स्थित है, वहाँ शीतलता पवित्रता आदि विशेषताएँ विद्यमान हैं। अतः इन्हीं विशेषताओं का बोध कराने के लिए ही अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्दशक्ति 'व्यंजना' की सत्ता मानना आवश्यक है। अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने अनेक अकाट्य युक्तियों द्वारा इस 'व्यंजना' का प्रतिपादन किया है। यही व्यंजना-शक्ति ध्वनि-सिद्धान्त की प्राण है।

ध्वनि सिद्धान्त में गुण और अलंकारों के साथ भी उचित न्याय किया गया है। वहाँ इनको अपने उचित और वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। ध्वन्यालोक में उसका स्वरूप निर्धारण करते हुए कहा गया है :—

"तमर्थमवलम्बन्ते ये ऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।।२-७।। ध्वन्यालोक

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनराश्रितास्तेऽलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवदिति।"

अर्थात् जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म मनुष्य की आत्मा के साथ सम्बद्ध रहते हैं उसी प्रकार प्रसाद आदिक गुण भी काव्य के मूलभूत रस के ऊपर आश्रित रहते हैं। अतः जो रसादिलक्षण वाले मुख्य अर्थ पर आश्रित रहते हैं, वे धर्म गुण कहलाते हैं। परन्तु कटक हार आदि आभूषण जिस प्रकार मनुष्य के अंगावयवों की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार काव्य के अंग वाचक और वाच्य (शब्द और अर्थ) पर आश्रित रहने वाले धर्म अलंकार कहलाते हैं। ये अलंकार शब्द और अर्थ की शोभा बढ़ाते हुए काव्य के अंगी रस का भी उत्कर्ष करते हैं। अतः रस पर आश्रित होने के कारण गुण नित्य और शब्द तथा अर्थ पर आश्रित रहने वाले अलंकार काव्य के अनित्य धर्म हैं।

इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त गुण और अलंकार को काव्य का नित्य और अनित्य धर्म मानकर उन्हें उनका उचित स्थान प्रदान करता है। रीति का प्रतिपादन भी इस सिद्धांत के भीतर किया गया है। रीति के लिए ध्वनिकार ने 'संघटना' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'संघटना' असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा के भेद से तीन प्रकार की बताई गई है। इनमें से प्रत्येक एक विशेष रस के अनुकूल होती है।

दो प्रकार की काव्य की शब्दवृत्तियों और अर्थवृत्तियों में उपनागरिका, परुषा और ग्राम्या (कोमला) तो शब्द पर आश्रित रहने वाली शब्दवृत्तियां हैं तथा कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती अर्थ पर आश्रित होने वाली अर्थवृत्तियां हैं। इन्हें रीति के समान ही समझना चाहिए। रसानुकूल होने पर ही ये वृत्तियां काव्य तथा नाटक की शोभा बढ़ाती हैं। रस के प्रतिकूल होने पर उनका विधान अवांछनीय है। इसी बात को ध्वन्यालोककार ने इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है:--

"तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारः ता एव कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूताः इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।" ध्वन्यालोक–पृ० १८२

इसी प्रकार ध्वनि-सिद्धांत में दोष का भी विवेचन किया गया है। मुख्यार्थ के नाश करने वाले को ही ध्वनिवादी दोष कहते हैं।[1] मुख्य अर्थ होता है रस। अतः रस को दूषित करने वाले ही सच्चे अर्थों में दोष कहलाते हैं। वाक्यगत आदि दोषों की कल्पना तो रस दोष-पर ही आश्रित है।

१—मुख्यार्थापहतिर्दोषः। ध्वन्यालोक

इस प्रकार ध्वनि सिद्धांत में रस गुण अलंकार, रीति और दोषों का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका उचित सम्बंध स्थापित करके ध्वनि को काव्य की आत्मा बताया गया है।

सैद्धान्तिक विकास का परिणाम

इन उपर्युक्त सिद्धांतों के विकास के फलस्वरूप संस्कृत में रीति ग्रन्थों की रचना अत्यधिक परिमाण में हुई और उनका एक विशाल साहित्य बनकर तैयार हो गया। संस्कृत के रीति ग्रन्थों का प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ा। हिन्दी आचार्यों के समक्ष इस प्रकार का विशाल साहित्य भंडार होने से उन्हें हिन्दी में रीति ग्रंथों के निर्माण में किसी कठिनाई विशेष का सामना नहीं करना पड़ा। फलस्वरूप इन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हिन्दी में भी रीति सम्बंधी ग्रंथों की बाढ़ सी आ गई। हिन्दी रीति-ग्रंथकारों पर इन सिद्धांतों में रस-सिद्धांत और अलंकार-सिद्धांत का प्रभाव अधिक पड़ा। रीति-सिद्धांत और वक्रोक्ति-सिद्धांत की चर्चा हिन्दी में नहीं हुई। ध्वनि की चर्चा यत्र तत्र थोड़ी बहुत मिलती है। अलंकार-सिद्धांत से केशवदास विशेष रूप में प्रभावित हुए पर रस-सिद्धांत का प्रभाव सर्वत्र देखा जाता है। परन्तु हिन्दी में इन सिद्धांतों की शास्त्रीय चर्चा अथवा खण्डन-मण्डन किसी भी आचार्य ने नहीं किया, हाँ, अधिकतर लक्षण और उदाहरण देकर ही इतिश्री समझी गई। फलतः हिन्दी रीतिग्रंथों में हमें वह गम्भीर गूढ़ एवं शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता जो संस्कृत में उपलब्ध है। केवल लक्षण और उदाहरण वाले लक्षण ग्रन्थों की ही भरमार अधिक दिखाई पड़ती है। इस रीति परम्परा का प्रारम्भ हिन्दी में भक्तिकाल से ही हो गया था।

भक्ति कालीन रीति-ग्रन्थों का अध्ययन

हिन्दी के प्रारम्भिक रीति-ग्रन्थ और उनका आधार :—

शिवसिंह सरोज के आधार पर हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने उल्लेख किया है कि सं० ७७० के लगभग भोज के पूर्व पुरुष राजा मान के दरबार में एक पुण्ड या पुष्य नाम का कोई बंदीजन रहता था।[१] जिसने दोहों में संस्कृत के अलंकारों का अनुवाद किया था।[२] परन्तु न तो उसका वह ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न अन्यत्र कहीं उसका प्रमाण मिलता है।

इस अवस्था में काव्य-शास्त्र पर लिखा गया ग्रन्थ कृपाराम की 'हिततरंगिणी' ही सर्वप्रथम ग्रन्थ ठहरता है और कृपाराम पहले लेखक। यह रस रीति पर लिखा

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृ० ३।
२—शिवसिंह सरोज (भूमिका) पृ० ६

गया प्रथम ग्रन्थ है। इसे उन्होंने दोहा छन्द में लिखा था। उदाहरण बड़े ही सुन्दर हैं। कृपाराम के वर्णन से ज्ञात होता है कि उनके समय तक रस रीति पर और भी ग्रन्थ लिखे गये थे।

सिधि निधि शिवमुख चन्द्रलखि माघ शुद्ध तृतीयासु।
हित तरंगिनी हों रची कवि हित परम प्रकासु ॥२॥
बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यो दोहानि विच, याते सुघर विचारि ॥४॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'हिततरंगिणी' की रचना सं० १५९८ वि० की माघ शुक्ला तृतीया के रोज़ हुई थी। उस समय तक शृंगार रस का वर्णन अन्य कवियों ने बड़े छन्दों में किया था, इस कारण दोहों में विचारपूर्वक उसकी रचना कृपाराम ने की। परन्तु अन्य कवियों की बड़े छन्दों वाली रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं, अतः 'हिततरंगिणी' ही उपलब्ध होने के कारण प्राचीन ग्रन्थ ठहरता है। इस ग्रन्थ में कुल पाँच तरंगों में ३९९ छन्द हैं और वे सब दोहे हैं।[१] नायिका-भेद का इसमें पूर्ण निरूपण हुआ है—पर सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से यह एक साधारण ग्रन्थ ही है। कवि के "कृपाराम यों कहत हैं भरत ग्रन्थ अनुमानि", इस कथन के आधार पर ज्ञात होता है कि कृपाराम का आधार प्रमुखतया भरत का 'नाट्य शास्त्र' है। पर अन्त में स्वाधीन पतिका आदि नायिका के दस भेदों से स्पष्ट होता है कि उसमें 'भानुदत्त' का भी आधार है, क्योंकि भरत ने केवल आठ ही भेद किए हैं, दस नहीं।[२]

इसके पश्चात् और केशवदास से पहले और भी अनेक ग्रन्थ लिख गए हैं जो हमें दो रूपों में मिलते हैं। एक तो वे जो रस और नायिका भेद से ही सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे वे जिनमें केवल अलंकारों का ही निरूपण किया गया है। शृंगार सागर, रसमंजरी आदि प्रथम कोटि के ग्रन्थ हैं और रामभूषण, करणाभरण आदि द्वितीय श्रेणी के।

'शृंगार-सागर' की रचना मोहनलाल मिश्र ने वि० सं० १६१६ में की थी। यह रस और नायिका-भेद का ग्रन्थ है।

'रसमंजरी' अष्ट छाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास की रचना है जिसमें नायक-नायिका-भेद, हाव, भाव, हेलादिक का वर्णन हुआ है :—

१—मिश्रबन्धु विनोद भाग पृ० २५४ (संस्करण सं० १९८३)
२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र—पृ० ५१

एक मीत हमसों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहिं सुन्यो।
अरु जो भेद नाइक के गुने, तेहू में नहिं नीके सुने ।
हाउ भाउ हेलादिक जिते, रति समेत समभावतु तिते ।[1]

नन्ददास ने इस वर्णन में 'रस मंजरी' को अपना आधार बनाया है जैसा कि निम्न दोहे से प्रकट होता है:—

रसमंजरि अनुसारि के, नन्द सुमति अनुसार ।
वर्णत बनिता-भेद जहं, प्रेमसारविस्तार ॥

इस 'रसमंजरी' के विषय में उमाशंकर शुक्ल ने भूमिका में लिखा है कि यह भानुदत्त की ही 'रसमंजरी' है क्योंकि उनके उदाहरणों में भानुदत्त की 'रस-मंजरी' के पद्यमय उदाहरणों का रूपान्तर मात्र ही देख पड़ता है, इसमें शास्त्रीय विवेचन का अभाव है ।[2]

अलंकार-ग्रन्थों में सर्वप्रथम गोपा के 'रामभूषण' का उल्लेख मिलता है । यह सम्भवतः राम-यश-वर्णन के साथ अलंकार पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। दूसरा ग्रन्थ इसका 'अलंकार चन्द्रिका' है जिसमें स्वतंत्र रूप से अलंकारों का विवेचन है।[3] परन्तु इनमें से किसी ग्रन्थ का भी विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। इनका समय मिश्रबन्धु के अनुसार वि० सं० १६२० है, पर इनका यथार्थ समय वि० सं० १७७३ है क्योंकि सन् १६०५ की खोज-रिपोर्ट से पता चला है कि गोपा और गोप एक ही हैं ।[4]

इसके पश्चात् बन्दीजन करनेस के करणाभरण, श्रुति भूषण और भूप-भूषण अलंकार पर लिखे गए ऐसे ग्रन्थ हैं[5] जिन्हें हम केशवदास के पूर्व की काव्य-शास्त्र पर उपलब्ध सामग्री के अन्तर्गत रख सकते हैं। करनेस मिश्रबन्धु विनोद के अनुसार नरहरि के साथ अकबर दरबार में जाया करते थे। इनका कविताकाल वि० सं० १६३७ है।[6] इन ग्रन्थों का और कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है ।

इन लेखकों का काव्य-शास्त्र की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इनका इतना ही महत्व है कि इन्होंने रीतिकालीन शास्त्रीय ग्रन्थों की शृंखला को बहुत कुछ प्रारम्भिक कड़ियों से जोड़ दिया है। किन्तु शास्त्रीय ढंग पर ऐसे ग्रन्थों

१—नन्ददास ग्रन्थावली सं० उमाशंकर शुक्ल: प्रथम भाग पृ० ३६
२— " " " " " " ६३
३—मिश्रबन्धु विनोद भाग १ पृ० ३१६ (संस्करण: सं० १६८३)
४—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास-डा० भगीरथ मिश्र पृ० ५१
५—हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल पृ० २३२
६—मिश्रबन्धु विनोद भाग १ पृ० ३२६ (सं० १६८३)

की रचना का श्रेय केशवदास को ही दिया जा सकता है। काव्य-रीति का सम्यक् समावेश सबसे पहले हिन्दी साहित्य में आचार्य केशवदास ने ही किया।[1] इनके पहले लिखे गए ग्रन्थ शास्त्रीय पद्धति पर नहीं हैं वे सब ग्रन्थ बहुत ही साधारण हैं।[2]

आचार्य केशवदास और उनके अलंकार ग्रन्थ
(वि० सं० १६५८)

केशवदास के पहले भी यद्यपि मोहन 'सिंगार सागर', कृपाराम, 'हित-तरंगिणी', रहीम 'नायिकाभेद', करणेश 'करणाभरण', 'श्रुति भूषण' और 'भूपभूषण' रीति ग्रन्थ लिख चुके थे। परन्तु इन उपर्युक्त रीतिकारों के प्रयत्न इतने गूढ़ और गम्भीर नहीं थे जिससे इनमें से किसी को रीतिकाव्य के प्रवर्तक के रूप में स्वीकार किया जा सके। यह कार्य केशवदास ने किया। केशव ही सर्वप्रथम कवि हुए जिन्होंने शास्त्रीय ढंग पर रीतिग्रन्थ का निर्माण किया। तत्पश्चात् ही फिर रीति-ग्रन्थों का व्यापक स्रोत हिन्दी में प्रवाहित हुआ, भले ही इनके लगभग ५० वर्षों पश्चात् रीतिग्रन्थों की यह परम्परा चली। अतः हिन्दी के सभी विद्वान इन्हें एकमत से हिन्दी का प्रथम आचार्य मानते और रीति काव्य के प्रवर्तक के रूप में स्मरण करते हैं।

केशवदास ने लक्ष्यग्रन्थ और लक्षण ग्रन्थ दोनों प्रकार के ग्रन्थों की रचना की है। लाला भगवानदीन के अनुसार उनकी सात प्रामाणिक रचनायें हैं जिनमें रामचन्द्रिका, विज्ञान गीता, रतनबावनी, वीरसिंह-चरित तथा जहांगीर-जस-चन्द्रिका तो लक्ष्य-ग्रन्थ हैं और रसिक-प्रिया तथा कवि-प्रिया लक्षण ग्रंथ हैं। यद्यपि रामचन्द्रिका में कवि के "रामचन्द्र की चन्द्रिका, वरणत हों बहु छन्द" इस कथन के अनुसार विविध छन्दों का प्रयोग किया गया है, पर हम उसे कविशिक्षा सम्बंधी लक्षण-ग्रन्थ नहीं मान सकते। क्योंकि उसमें भगवान रामचन्द्र का यशोगान ही कवि का मुख्य लक्ष्य है। दूसरे छन्दों का उसके भीतर क्रमिक अथवा शास्त्रीय निरूपण नहीं है। छन्द-विविधता के द्वारा कवि केवल छन्दः-शास्त्र सम्बंधी अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन ही करना चाहता है, लक्षण-ग्रन्थ के रूप में उसकी रचना करना कवि का उद्देश्य नहीं जान पड़ता है।

उपर्युक्त लक्षण-ग्रन्थों में रसिक - प्रिया रस, नायिका - भेद, हाव - भाव आदि का निरूपण करने वाला ग्रंथ है। कवि-प्रिया अलंकार-ग्रंथ है। यही हमारी प्रस्तुत समीक्षा का विषय है। कवि-प्रिया की रचना वि० सं० १६५८ में फाल्गुन

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल पृ० २३२
२—मिश्रबन्धु विनोद भाग १ पृ० ३४७ (सं० १६६४)

मास के शुक्लपक्ष की पंचमी तिथि को बुद्धवार के दिन प्रारम्भ हुई थी।[1] सर्वप्रथम इसमें राजवंश और फिर कविवंश का वर्णन किया गया है।[2]

केशवदास ने इस ग्रन्थ की रचना प्रवीणराय नाम की एक वेश्या की शिक्षा के लिए की थी। पर वह स्वयं कविता कर लेती थी,[3] अतः प्रवीणराय ब्याज मात्र ही है। वास्तव में तो बालक-बालिकाओं की शिक्षा के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की गई थी।[4] क्योंकि सुकुमार बुद्धि होने के कारण काव्य-शास्त्र के अनेक संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन करके कविता करना उनके लिए अशक्य था।

कवि-प्रिया में सोलह प्रभाव (अध्याय) हैं। प्रथम में गणेश वन्दना, ग्रन्थ का रचनाकाल, राजवंश-वर्णन, और रचना उद्देश्य का कथन है। दूसरे प्रभाव में कवि ने स्ववंश का वर्णन किया है। तीसरे से सोलहवें प्रभाव तक मुख्य वर्ण्य-विषय का निरूपण किया गया है।

तीसरा प्रभाव :—इसमें काव्य-दूषणों पर प्रकाश डाला गया है। केशव कविता में तनिक से दोष को भी उसी प्रकार निन्द्य मानते हैं जिस प्रकार गंगाजल के घट में मदिरा की एक बूंद होती है।[5] केशवदास ने कुल १८ दोष बताए हैं। वे हैं १–अंध २–बधिर ३–पंगु ४–नग्न ५–मृतक ६–अगण ७–हीनरस ८–यति भंग ९–व्यर्थ १०–अपार्थ ११–हीन-क्रम १२–कर्णकटु १३–पुनरुक्ति १४–देश-विरोध १५–काल-विरोध १६–लोक-विरोध १७–न्याय-विरोध १८–आगम-विरोध।

कवि-प्रिया में वर्णित ये दोष दो वर्गों में बांटे गए हैं! एक वर्ग में उपरिलिखित दोषों में प्रथम पांच दोष हैं, और दूसरे वर्ग में अन्य तेरह दोष आते हैं। इनके अतिरिक्त तीसरे प्रकार के दोषों का एक वर्ग और है जिनका वर्णन रसिक-प्रिया में किया गया है। ये सभी रस-दोष हैं।

१—प्रगट पंचमी को भयो, कवि-प्रिया अवतार।
सोरह सौ अट्ठावनो, फागुन सुदि बुधवार॥

२—नृप कुल वरनौं प्रथम ही, अरु कवि केशव वंश।
प्रगट करी जिन कवि-प्रिया, कविता को अवतंश॥ कविप्रिया॥

३—तिनमें करत कवित्त यक, राय प्रवीण प्रवीण॥ १–६०॥ कवि-प्रिया॥
सविता जू कविता दई, जाकहं परम प्रकास।
ताके कारज कवि-प्रिया, कीन्हीं केसवदास॥ १–६१॥ कवि-प्रिया॥

४—समुझें बाला बालकन, वर्णन पन्थ अगाध।
कविप्रिया केसव करी, छमियहु कवि अपराध॥ ३–१॥ कवि-प्रिया॥

५—राजत रंच न दोष युत, कविता बनिता मित्त।
बुंदक हाला परत ज्यों, गंगाघट अपवित्र॥ ३–५॥ कवि-प्रिया॥

दोषों के इस प्रथम ग्रौर द्वितीय वर्ग में बड़ा सूक्ष्म ग्रन्तर है। दूसरे वर्ग में जो दोष हैं, उसका वर्णन नव्य ग्राचार्यों ने भी किया है । ये कवि की ग्रसामर्थ्य के द्योतक हैं। परन्तु प्रथम वर्ग के पांच दोष—ग्रंध, बधिर, पंगु, नग्न ग्रौर मृतक-ग्रशक्तिजन्य नहीं हैं। डा० ग्रोमप्रकाश ग्रपने 'हिन्दी-ग्रलंकार-साहित्य' नामक ग्रन्थ में इन दोषों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं"—"ये सब दोष शरीर के हैं। उपचार की दृष्टि से इनके तीन वर्ग हो सकते हैं १—ग्रंध, वधिर, पंगु—जिनका उपचार दुःसाध्य है। २ – नग्न-जिसका उपचार सर्वसाध्य है। ३—मृतक—जिसका उपचार ग्रसाध्य है। मृतक का तो एक ही उपचार है—त्याग। ग्रंध, वधिर ग्रौर पंगु जीवित तो रहेगा परन्तु सदा ग्रशुभ ग्रौर ग्रकीर्तिकर बनकर । इसका उपचार होता देखा नहीं गया। परन्तु नग्न का उपचार सर्वसाध्य है, इसलिए काव्य में नग्न-दोष को सहन करना चाहिये, इतना ही नहीं, काव्य को वस्त्राभूषणों से सजाकर ही रखना चाहिए।"

वस्त्राभूषण की इसी सजावट को कवि ने ग्रलंकार की संज्ञा दी है। ग्रलंकार-विहीन कविता को वे नग्न मानते हैं।[१] उनकी दृष्टि में ग्रलंकार विहीन कविता-भले ही वह उत्तम जाति वाली हो ग्रौर लक्षण, सुन्दर वर्ण, रस ग्रौर छन्द से युक्त हो, उसी प्रकार शोभित नहीं होती, जिस प्रकार उच्च जाति, शुभ सामुद्रिक लक्षणों, सुन्दर वर्ण, प्रेमपूर्ण हृदय ग्रौर सुन्दर चरित्र से युक्त होने पर भी वनिता ग्राभूषणों के बिना सुन्दर नहीं लगती है।[२] ग्रतः काव्य में नग्न दोष सर्वथा त्याज्य है।

इन पाँचों दोषों का ऐसा नामकरण किसी काव्य-शास्त्र में नहीं मिलता है, यद्यपि ये दोष केशव की मौलिक उद्भावना नहीं हैं। केवल नामों की ही मौलिकता इनमें पाई जाती है। ये सभी संस्कृत-ग्रन्थों में वर्णित दोषों से साम्य रखते हैं यथा--
ग्रंध दोषः—साहित्य दर्पणकार के 'ख्याति विरुद्धता' दोष से मिलता जुलता है ।

ग्रन्ध विरोधी पन्थ को ।। केशव ।।

ग्रर्थात् कविता की बंधी हुई प्राचीन परम्पराग्रों के विरूद्ध कथन को 'ग्रन्ध दोष' कहते हैं जैसेः—

कोमल कंज से फूल रहे कुच, देखत ही पति चन्द विमोहे। ३-६। क० प्रि०

विकसित कुचों को देखकर पति उसी प्रकार विमोहित होता है जिस प्रकार विकसित कमल को देखकर चन्द्रमा। यहां कमल ग्रौर चन्द्रमा का परस्पर विरोध

१—नग्न जो भूषण-हीन । ३-८ । क० प्रि०

२—जदपि सुजाति सुलच्छणी, सुवरन सरस सुवृत्त ।
भूषण बिन न विराजई, कविता बनिता मित्त ।। ५-१ क० प्रि०

है, ऐसी लोक प्रसिद्धि है। अतः लोक प्रसिद्धि के विरुद्ध कथन होने से अन्ध नामक दोष है। मम्मट ने इसी को 'प्रसिद्ध विरुद्धत्व' दोष के नाम से अभिहित किया है। यथाः—

इदं ते केनोक्तं कथय कमलातङ्कवदने।
यदेतस्मिन्हेम्नः कटकमिति धत्से खलु धियम्।
इदं तद् दुःसाधाक्रमणपरमास्त्रं स्मृतिभुवा
तव प्रीत्या चक्रं करकमलमूले विनिहितम्।। का प्र० पृ० २३८-२६४ श्लोक

अरी! कमल को आतंकित करने वाले मुखवाली! यह तो बता कि किसने तुझे ऐसा कह दिया कि तू अपनी कलाई के इस वृत्ताकार चिन्ह को सोने का कंगन समझ बैठी। यह तो कामदेव का—बड़े जितेन्द्रिय तरुणों का वशीकरण, वह चक्र है जिसे उसने प्रसन्नतापूर्वक स्वयं तेरे करकमल के मूल में बांध छोड़ा है।

यहाँ काम के सम्बंध में चन्द्र रूप अस्त्र का वर्णन किया गया है जो लोक में सर्वथा अप्रसिद्ध है। साहित्यदर्पण में वर्णित, 'ख्यातिविरुद्धता' दोष भी इसी प्रकार का है। यथाः—

१—ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः। साहित्यदर्पण।
अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम्। यथा वा —

२—पादाघातादशोकस्ते संजातांकुरकण्टकः।

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायते इति प्रसिद्धं न त्वंकुर इति कविसमयख्याति विरुद्धता।

प्रथम उदाहरण में हरि को सूलधारी कहना लोक विरोधी और द्वितीय उदाहरण में पदाघात से अशोक में अंकुर और कण्टकों का उत्पन्न होना बताना कवि समय विरोधी कथन है। क्योंकि हरी शूल न धारण करके चक्र धारण करते हैं और पादाघात से अशोक में फूल उत्पन्न होते हैं, अंकुर नहीं।

इस प्रकार केशव के 'अंध दोष और पं० विश्वनाथ के 'ख्याति विरुद्धता' दोष तथा मम्मट के 'प्रसिद्धि विरुद्धत्व' दोष में कोई अन्तर नहीं, वरन् साम्य ही है। हाँ, नाम का अन्तर अवश्य है।

इसी प्रकार केशव का 'बधिर' दोष केशव मिश्र के 'व्याहत' दोष से साम्य रखता है! देखिए :—

बधिर जो शब्द विरुद्ध। । क० प्रि०

परस्पर विरोधी शब्दों के प्रयोग को 'बधिर' दोष कहते हैं। यथा :—
सिद्ध सिरोमणि शंकर सृष्टि, संहारत साधु समूह भरी हैं। ३-१०। क० प्रि०

यहां शंकर के साथ संहारत का प्रयोग परस्पर विरोधी है। क्योंकि शंकर का अर्थ 'कल्याणकारी' होता है और संहारत का अर्थ 'विनाश करना'। अतः परस्पर विरोधी शब्दों का प्रयोग होने से यहाँ 'बधिर' दोष है।

'व्याहतम् उपात्त विरुद्धम्। यथा: —

विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्‌गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन। अलंकार शेखर।
छठी मरीचि पृ० १८।

स्फुटित शिशु कदम्ब के समान अंगों से शैलसुता (पर्वत पुत्री-गिरिजा) अपने भावों को प्रकट करती हुई सुन्दर और विस्फारित नेत्रों वाले मुख से कुछ तिर्यक् रूप में बैठी हुई थीं। यहां शैलसुता (पर्वत की पुत्री) होते हुए भी भाव प्रकाशन का कार्य प्रकट किया जा रहा है। जो विरुद्ध है क्योंकि पर्वत अचेतन होने के कारण भाव प्रकाशन में समर्थ नहीं हो सकता।

केशव के 'पंगु' दोष और केशव मिश्र के 'भग्नछन्द' दोष में भी साम्य है।

छन्द विरोधी पंगु मुनि। ३-८। कविप्रिया।

छन्दः शास्त्र के विरुद्ध रचना पंगु कहलाती है। यथा—

धीरज मोचन लोचन लोल विलोकि के लोक की लीकति छूटे। ३-१२। क० प्रि०

ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।।	ऽ।ऽ	ऽ।ऽ	ऽ।।	ऽऽ
भगण	भगण	भगण	भगण	रगण	रगण	भगण	गुरू

इस छन्द में पिंगलशास्त्र के नियमानुसार सात भगण और दो गुरू होना चाहिए, पर यहाँ पर क्रमशः चार भगण, फिर दो रगण और फिर एक भगण तथा दो गुरू होने से छन्द भंग हो गया है। अतः यहाँ 'पंगु' दोष है। भग्नछन्द, दोषः—

ततः परमोमित्युक्त्वा, प्रतस्थे मुनिमण्डलम्।
भगवानपि संप्राप्तः, प्रथमोद्दिष्टमाश्रमम्। अ० श०
केशव मिश्र–पृ० १६

इसके बाद 'स्वीकार' है ऐसा कहकर मुनिमण्डली चली गई। और भगवान भी पहले कहे हुए आश्रम में पहुँच गए।

यहाँ अनुष्टुप् श्लोक में नियमानुसार पांचवां वर्ण (परमो का म) लघु होना चाहिए था।[१] परन्तु यहाँ पर वह दीर्घ है। अतः 'भग्नछन्द' दोष है। इस प्रकार केशव के 'पंगु' दोष और केशव मिश्र के 'भग्न' छन्द दोष दोनों में छन्दः शास्त्र के नियम का अनुसरण न होने से दोष माने जाने के कारण समानता पाई जाती है। नाम अवश्य भिन्न भिन्न हैं। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में इसी को 'हतवृत्तता' नामक दोष की संज्ञा दी है।

१—श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं, सर्वत्र लघु पंचमम्। श्रुतबोध।

इस प्रकार केशव का 'मृतक' दोष भी केशव मिश्र के 'अवाचक' दोष से मिलता जुलता है। देखिए :—

केशव का मृतक दोष :—

मृतक कहावै अर्थ बिन। ३·८। कविप्रिया।

अर्थ विहीन रचना मृतक होती है।

उदाहरण :—

काल कमाल करील करालनि, शालनि चालनि चाल चली है। ३-१४। कविप्रिया।

यहाँ अर्थशून्य शब्दों का प्रयोग होने से मृतक दोष है।

केशव मिश्र का अवाचक दोष :—

अवाचकम् प्रकृतार्थाशक्तम्। यथा—
भूयोमत्तद्विरदगमनां हारकेयूरयुक्तां
पीनोत्तुंगस्तनभरनमन्मध्यभागाभिरामाम्।
स्मेरोदंचन्नवकिसलय स्पर्द्धिताम्राधरौष्ठीं,
लक्ष्नीमक्षिस्फुरितवदनामन्वहंसंस्मरामि। पृ० १४, चतु०मरी०

मतवाले हाथी के समान गति वाली, हार और कैयूर धारण करने वाली मांसल और पुष्ट पयोधरों के भार से झुके हुये मध्य भाग (कमर) से सुशोभित, हिलते हुए नवीन किसलयों के समान ताम्र वर्ण के होठों वाली तथा नेत्रों से स्फुटित मुख वाली लक्ष्मी को मैं प्रतिदिन स्मरण करता हूँ।

यहाँ लक्ष्मी पद अंगना (स्त्री) के अर्थ में प्रत्युक्त हुआ है। स्पष्टतया यह पद अंगना का वाचक नहीं है। अतः यहाँ 'अवाचक' दोष आ गया है।

'नग्न' दोष में अवश्य केशव की मौलिकता दिखाई पड़ती है। इस दोष से ध्वनित होता है कि केशव की दृष्टि में सालंकार कविता का होना आवश्यक है, परन्तु अब कविता के लिए अलंकार अनिवार्य नहीं। मम्मट ने काव्य की परिभाषा करते समय "अनलंकृती पुनः क्वापि" कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया है अर्थात् अलंकार-विहीन शब्द और अर्थ भी काव्य हो सकते हैं। अतः अलंकार विहीन कविता सदोष नहीं कही जा सकती।

अन्य तेरह दोषों में व्यर्थ, अपार्थ, काल-विरोध और आगम-विरोध दोष दण्डी के काव्यादर्श के अनुरूप हैं :— यथा :—

व्यर्थ दोष :—

एक कवित्त प्रबन्ध में अर्थ विरोध जु होय।
पूरव पर अनमिल सदा, व्यर्थ कहें सब कोय। ३-४२। कविप्रिया।

एक वाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहृतम् ।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते । ३-१३१ । काव्यादर्श

अपार्थ दोष :—

अर्थ न जाको समुझिए, ताहि अपारथ जानु ।
मतवारों उनमत्त शिशु, कैसे वचन बखानु । ३-४४ । कवि प्रिया

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते ।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति । ३-१२८ । काव्यादर्श

कालविरोध दोषः—

प्रफुलित नव नीरज रजनि, बासर कुमुद विशाल ।
कोकिल शरद मयूर मधु, वर्षा मुदित मराल । ।। ३-५६ ।। क० प्रि०
पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा, स्फुटत्यन्हि कुमुद्वती ।। ३·१६७ ।। काव्यादर्श

आगम विरोध दोषः—

पुनि लीबो उपवीत हम, पढ़ि लीजै सब वेद । ३-५८ । क० प्रि० ।
असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः । ३-१७८ । काव्यादर्श

इन दोषों के अतिरिक्त केशव के हीनरस, यतिभंग, हीनक्रम, और कर्णकटु दोष केशव मिश्र के 'अलंकार शेखर' में वर्णित क्रमशः विरस, भग्नयति, भग्नक्रम और कष्ट नामक दोषों से साम्य रखते हैं ।

हीन रसः—

बरनत केशवदास रस, जहाँ विरस ह्वै जाय ।
ता कवित्त को हीन रस, कहत सकल कविराय ।। ३-३८ । कविप्रिया

विरसः— विरसं प्रस्तुत रसविरुद्धम् । अलंकार शेखर । षष्ठ मरीचि ।

यतिभंग—

और चरण के वरण जंह, और चरण सौं लीन ।
सो यतिभंग कवित्त कहि, केशवदास प्रवीन ।। ३-४० । क० प्रि०

भग्नयतिः—

रामे तटान्त वसतौ कुशतल्प शायिन्यद्यापि । अलंकार शेखर ।
पंचम मरीचि ।

यहाँ आवश्यक पदशेषयति नहीं है ।

हीनक्रमः—

जग की रचना कहु कौने करी केहि राखन की जिय पैंजधरी ।
अति कोपि के कौन संहार करै, हरजू हरिजू विधि बुद्धि ररै ।।

यहाँ हरजू, हरिजू और विधि का जिस क्रम से वर्णन किया गया है, उसी क्रम से उनके कार्यों का वर्णन नहीं किया गया। अतः यहाँ क्रमहीन हो गया है।

भग्न-क्रम:—

यत्रार्थः शब्दो वाक्रमेणास्ति। यथा—

तुरङ्गमथमातङ्गं प्रयच्छास्मै मदालसम्।
कान्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसोः समौ ॥ अलंकार शेखर ॥
पंचम मरीचि।

मुझे घोड़ा अथवा हाथी दे दीजिए। आपकी कान्ति और प्रताप सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं। यहाँ पहले हाथी का प्रयोग होना चाहिए था, तब उससे कम मूल्य वाले घोड़े का। कान्ति और प्रताप के कथन में क्रमशः चन्द्र और सूर्य का कथन होना चाहिए था—अतः ऐसा क्रम न होने के कारण यहाँ क्रम भंग होने से 'भग्नक्रम' दोष आ गया है।

कर्णकटु :—

कहत नीको लागई, सो कहिए कटुकर्ण। ३–४८। क० प्रि०

यथा :—बारन बन्यो बनाव तन, सुवरण वली विशाल।
चढ़िए राज मंगाइ के मानहुँ राजत काल। ३–४९। क० प्रि०

कष्ट :— श्रुतिकटु यथा :—

आलिगितः स तन्वंग्या कार्तार्थ्यं लभतां चिरात्। अ० शे०।

यहाँ 'कार्तार्थ्य शब्द कष्टकर या श्रुतिकटु है। साहित्य दर्पणकार ने इसी को 'दुःश्रवत्व' की संज्ञा दी है।

केशव का 'न्याय विरोध' और 'अगण' दोष अलंकार शेखर (केशवमिश्रकृत) के 'देशविरोध' और 'भग्नछन्द' दोष के अन्तर्गत आ सकते हैं। परन्तु केशव ने अपने 'अगण' दोष को मौलिकता के सांचे में ढालने का प्रयास किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव ने जिन दोषों का वर्णन किया है वे उनके अपने मौलिक नहीं हैं प्रत्युत दण्डी मम्मट, केशव मिश्र और पं० विश्वनाथ के काव्यादर्श, काव्यप्रकाश, अलंकार शेखर तथा साहित्य दर्पण ग्रन्थों में नामान्तरों से उनका वर्णन पाया जाता है। कतिपय दोषों के—व्यर्थ, अपार्थ, काल-विरोध और आगम विरोध दोषों के उदाहरण तो दण्डी के उदाहरणों के भाषान्तर से जान पड़ते है। ऐसा विदित होता है कि इस क्षेत्र में केशवदास संस्कृताचार्य दण्डी, केशवमिश्र, मम्मट और प० विश्वनाथ से प्रभावित रहे हैं। हां, दोषों के नामकरण में अवश्य उनकी मौलिकता के दर्शन होते हैं।

चौथा प्रभाव :—इसमें कवि-भेद, कवि-रीति और शृंगारों का वर्णन है।

पाँचवाँ प्रभाव :—यहां से सामान्य अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है और आठवें प्रभाव के अन्त तक चलता है। यद्यपि केशवदास कविता में रस की अवज्ञा नहीं करते तथापि वे बिना अलंकारों के कविता में सौन्दर्य नहीं मानते।

यहां उन्होंने साधारण (सामान्य) और विशेष ये दो प्रकार के अलंकार माने हैं। सामान्य अलंकार के भी फिर चार भेद १-वर्ण २-वर्ण्य ३-भूश्री और ४-राज-श्री- किए हैं।[1] वर्णालंकारों से कवि का आशय यह है कि किस वस्तु को किस वर्ण के रूप में वर्णन करना चाहिए। यथा जरा को श्वेत, कुवलय को नीला तथा बालरवि को अरुण वर्ण का वर्णन करना चाहिए।

छठे प्रभाव में 'वर्ण्यालंकारों' का निरूपण किया गया है। जिनकी आकृति का गुण लेकर कोई कथन किया जाता है उन्हें वर्ण्यालंकार कहते हैं। वैसे तो वर्ण्य अनेक हैं, परन्तु केशवदास २८ वर्ण्यों को प्रमुख मानते हैं।[2]

सातवें प्रभाव में भूमि-भूषण का वर्णन है। कविता में भूतल के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन को भूमि-भूषण कहते हैं। केशव के अनुसार भूमि-भूषण हैं:—

देश नगर बन बाग गिरि आश्रम सरिता ताल।
रवि शशि सागर भूमि के भूषण ऋतु सब काल।। ७-१ ।। क० प्रि०

आठवें प्रभाव में राज-श्री का वर्णन है।

चौथे से आठवें प्रभाव तक में केशव ने जिस सामग्री का वर्णन किया है, वह सब केशव ने 'अलंकारशेखर' और 'काव्यकल्पलतावृत्ति' से ही ग्रहण की है। पांचवें प्रभाव से आठवें प्रभाव तक जो सामान्यालंकारों का वर्णन किया गया है उसे हम कवि-शिक्षा का नाम दे सकते हैं।

नवें से सोलहवें प्रभाव तक विशेष अलंकारों का वर्णन किया गया है। इन विशेष अलंकारों की संख्या ३७ है। इनमें अलंकारों के भेद-प्रभेद सम्मिलित नहीं हैं। इन अलंकारों को आठ प्रभावों में रक्खा गया है, जिससे यह जान पड़ता है कि केशव ने इन्हें आठ वर्गों में बांटा है। पर इस वर्गीकरण का कोई आधार या सिद्धान्त भी केशव के समक्ष था इसका कोई संकेत नहीं मिलता है। अलंकारों के लक्षण दोहों में दिए गए हैं और उदाहरण प्रायः कवित्तों या सवैयों में। केशव के अलंकारों का विभाजन इस प्रकार है:—

नवां प्रभाव:—१-स्वभावोक्ति २-विभावना ३-हेतु ४-विरोध ५-विशेष ६-उत्प्रेक्षा
दसवां प्रभाव:—१-आक्षेप

१—सामान्यालंकार को चार प्रकार प्रकास।
वर्ण, वर्ण्य, भू-राज-श्री, भूषण केशवदास ।। ५-३ ।। कविप्रिया।
२—अष्टविंश विधि मैं कहे, वर्ण्य अनेक बखानि ।। ६-३ ।। कविप्रिया।

ग्यारहवां प्रभाव:—१-क्रम २-गणना ३-आशिष् ४-प्रेम ५-श्लेष ६-सूक्ष्म ७-लेश ८-निदर्शना ९-ऊर्ज १०-रसवत् ११-अर्थान्तरन्यास १२-व्यतिरेक १३-अपन्हुति।

बारहवां प्रभाव:—१-उक्ति (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति) २-व्याजस्तुति, ३-व्याजनिन्दा ४-अमित ५-पर्यायोक्ति ६-युक्त।

तेरहवां प्रभाव:—१-समाहित २-सुसिद्ध ३-प्रसिद्ध ४-विपरीत ५-रूपक ६-दीपक ७-प्रहेलिका ८-परिवृत्त।

चौदहवां प्रभाव:— उपमा

पन्द्रहवां प्रभाव: —यमक

सोलहवां प्रभाव:—चित्र

नवां प्रभाव:—

इसमें छह अलंकारों का वर्णन है। सबसे पहले 'स्वभावोक्ति' अलंकार का निरूपण किया गया है। दण्डी ने भी सबसे पहले इसी अलंकार को लिया है। इसी का दूसरा नाम 'जाति' भी है।[1] केशव ने इसका उल्लेख नहीं किया। केशव और दण्डी के इस अलंकार के लक्षणों में परस्पर साम्य होते हुए भी थोड़ा अन्तर है। दण्डी ने पदार्थों के नानावस्था वाले रूप को प्रदर्शित करने वाले अलंकार को 'स्वभावोक्ति' कहा है।[2] जबकि केशव पदार्थों के रूप और गुण का स्वाभाविक वर्णन करने वाले को 'स्वभावोक्ति' कहते हैं।[3] दण्डी ने केवल रूप को ही लिया है, तो केशव ने रूप के साथ गुण को भी लिया है। अतएव केशव की 'स्वभावोक्ति' के दो भेद बन गए हैं। मम्मट ने भी दण्डी के समान ही प्रकृति सिद्ध रूप वर्णन को 'स्वभावोक्ति' बताया है, पर साथ ही डिम्भादिक के प्रकृतिसिद्ध क्रिया वर्णन को भी वे उसके अन्तर्गत लेते हैं।[1] पं० विश्वनाथ ने इस विषय में मम्मट का ही अनुसरण किया है।[2] इस प्रकार दण्डी, मम्मट और विश्वनाथ के अनुकरण पर ही केशवदास ने अपने 'स्वभावोक्ति' अलंकार का लक्षण किया है। विशेषता इतनी है कि केशव रूप के साथ साथ गुण के वर्णन को भी 'स्वभावोक्ति' कहकर 'रूप-स्वभावोक्ति' और 'गुण-स्वभावोक्ति' यह दो भेद कर देते हैं।

विभावना:—

केशव के अनुसार जहाँ विना कारण के ही कार्य का उदय होता है वहाँ

१—स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। २·८ काव्यादर्श

२—नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती। स्वभावोक्तिश्च। २-८ का० अ०

३—जाको जैसो रूप गुण, कहिए ताही साज। ९-८। कविप्रिया।

१—स्वभावोक्तिस्तुडिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्। १०-१११ काव्यप्रकाश

२—स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थ स्वक्रियारूपवर्णनम्। १०-९३ साहित्यदर्पण

विभावना अलंकार होता है ।[१] केशव का यह लक्षण मम्मट और विश्वनाथ[२] के लक्षणों से साम्य रखता है । मम्मट की परिभाषा भामह और उद्भट से प्रभावित जान पड़ती हैं । उन्होंने विभावना की परिभाषा इस प्रकार की है :—

क्रियाया: प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ .... । २-९ । काव्यालंकार सार-संग्रह

अर्थात् क्रिया (क्रियतेऽनयेति क्रियाकारणम्) या कारण का प्रतिषेध करके भी जहाँ कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय वहां विभावना होती है । सम्भव है केशव ने अपनी परिभाषा भामह, उद्भट से ही ग्रहण की हो ।

केशव ने विभावना के दो भेद किए हैं । प्रथम विभावना अर्थात् जहाँ विना कारण के कार्योत्पत्ति हो । और दूसरी विभावना-जहां प्रसिद्ध कारण के बिना अन्य कारण से कार्योत्पत्ति हो ।[३] केशव के ये दोनों भेद दण्डी के लक्षण में निहित हैं । दण्डी का लक्षण है :—

"यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना । २–१९९ काव्यादर्श

प्रसिद्ध हेतु व्यतिरेक सामानाधिकरण्येन अप्रसिद्धकारणस्वभावान्यतर प्रतीयमान फलोत्पत्तिर्विभावनेति लक्षणं सम्पन्नम् । विभाव्यते फलोत्पत्यनुपपत्तया विचार्यते कारणान्तरम् फलोत्पत्तिस्वाभाविकत्वं वा यस्यां सा विभावना ।"

इस प्रकार दण्डी ने 'कारणान्तर विभावना' और 'स्वाभाविक विभावना' ये दो भेद किए हैं । मम्मट ने विभावना का कोई भेद नहीं माना । हाँ, साहित्यदर्पणकार ने अवश्य ही "उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता"–कहकर-१-उक्त निमित्ता और २–अनुक्तनिमित्ता-ये दो भेद किए हैं । कुवलयानन्द में विभावना के छह भेद किए गए हैं । इनमें से चतुर्थ भेद केशव की अन्य या दूसरी विभावना ही है ।

हेतु :—केशवदास ने इसके तीन भेद माने हैं १–सभाव २–अभाव ३–सभाव–अभाव केशव के अनुसार अन्य सभी कवि अभाव और सभाव के भेद से हेत्वलंकार के दो ही भेद मानते हैं ।[४]दण्डी हेतु को दो प्रकार का ही मानते हैं—[५] अ–कारक हेतु और ब–ज्ञापक हेतु ।

१—कारज को बिनु कारणहि उदौहोत जेहि ठौर
तासों कहत विभावना .... । ९-११ कविप्रिया

२ – अ–क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्ति र्विभावना । १०-१०७ काव्यप्रकाश
आ–विभावना बिना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते । १०-६६ साहित्यदर्पण

३—कारण कौन हु आन ते, कारज होय जु सिद्ध ।
जानौ अन्य विभावना, कारण छोड़ प्रसिद्ध ॥ ९-१३ कविप्रिया

४—हेतु होत है भांति द्वै, वरणत सब कविराव । ९–१५ कविप्रिया

५—कारकज्ञापकौ हेतू । २–२३५ काव्यादर्श

केशव ने दो को संश्लिष्ट करके जो 'सभाव-अभाव' नामक तीसरा भेद बनाया है, उसका आधार काव्यादर्श ही प्रतीत होता है। परन्तु उसमें उनकी मौलिकता जान पड़ती है। दण्डी ने कारक हेतु के जो दो भेद अ—भावसाधन में कारक हेतु और ब—अभाव साधन में कारक हेतु माने हैं, उन्हीं को कुछ परिवर्तन के साथ केशव ने ग्रहण किया है। पर ऐसा जान पड़ता है कि केशव दण्डी के भेदों का भाव न समझ सकने के कारण कुछ गड़बड़ी कर गए हैं। इसी कारण अभाव के उदाहरण में विभावना अलंकार हो गया है। यथा—

केशव राम ररौ न ररौं, अनसाधेहि साधन साधु भयोई। ९–१७ क० प्रि०

केशव ने इन अलंकारों के जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे दण्डी से प्रभावित जान पड़ते हैं। सभाव-अभाव हेतु का जो उदाहरण—"पीछे आकाश प्रकाशै शशी, चढ़ि प्रेम समुद्र बढ़ै पहले ही" केशव ने प्रस्तुत किया है वह दण्डी के निम्नलिखित उदाहरण का ही छायानुवाद है :—

पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो राग सागरः ॥ २-२५७ काव्यादर्श

केशव के अभाव हेतु का उदाहरणः—

जान्यो न मैं मद यौवन को, उतर्यो कब काम को काम गयोई।
.... ९-१७ कविप्रिया।
केशव राम ररौ न ररौं, अनसाधेहि साधन साधु भयोई। आदि।

दण्डी के निम्नलिखित 'प्रध्वंसाभाव' हेतु के उदाहरण से प्रभावित जान पड़ता हैः—

गतः काम कथोन्मादो, गलितो यौवन ज्वरः।
क्षतो मोहश्च् युता तृष्णा, कृतं पुण्याश्रमे मनः ॥ २-२४८॥ काव्यादर्श

विरोधः—केशव के विरोध और विरोधाभास को दण्डी की भांति एक में ही मिला दिया है। विरोध और विरोधाभास में वस्तुतः अन्तर होता है। विरोध में विरोधी गुणों को विरोधी शब्दों द्वारा प्रकट किया जाता है। उसमें विरोध स्पष्ट होता है पर विरोधाभास में विरोध का आभास मात्र होता है, वस्तुतः विरोध होता नहीं है। केशव अपने उदाहरणों से इन अलंकारों की पुष्टि नहीं कर पाए। उनका विरोध का उदाहरण कभी विरोधाभास का बन जाता है। यथाः—

कृष्णानुसारी दृग करणानुसारी हैं। ९-२० कविप्रिया।

यह चरण विरोधालंकार के उदाहरण के लिए केशव ने प्रस्तुत किया है, पर वास्तव में यह विरोधाभास का उदाहरण है। यहाँ कृष्ण और कर्ण में विरोध होने से विरोध जान पड़ता है, पर वास्तव में यहां विरोध नहीं है, क्योंकि नेत्र कृष्ण वर्ण के होते हुए भी कर्ण (कान) का अनुसरण करने वाले हैं अर्थात् कानों

तक लम्बे हैं। ऐसा इष्ट अर्थ करने पर यह विरोधाभास रह जाता है। यह उदाहरण दण्डी के श्लेषमूलक विरोध के उदाहरण का छायानुवाद है। देखिए:—

कृष्णार्जुनरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी। २-३९९ काव्यादर्श

कभी केशव के विरोध का उदाहरण विभावना का सा दिखाई पड़ता है। यथा:—

दूर लौं दौरत हैं बिनु पायन। ९–२१ कविप्रिया।

यह वस्तुतः विरोध का उदाहरण न होकर विभावना का उदाहरण है। कारण कि पांव रूप कारण न होने पर भी दौड़ना रूप कार्य हो रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि केशव ने विरोध के आभास को भी विरोध ही मान लिया है।

विशेष : - केशव के अनुसार—

साधक कारण विकल जंह, होय साध्य की सिद्धि।
केशवदास बखानिए, सो विशेष परसिद्धि॥ ९–२४॥ कविप्रिया

जहां (कार्य का) साधक कारण अपूर्ण हो, पर साध्य (कार्य) सिद्ध हो जाय वहां 'विशेष' अलंकार होता है। पर यह 'विभावना' के एक भेद का सा लक्षण जान पड़ता है—इसी कारण अनेक विद्वान इस लक्षण को अशुद्ध बताते हैं। परन्तु केशव के उपर्युक्त लक्षण का मम्मट[1] और विश्वनाथ[2] के 'विशेषालंकार के तीसरे भेद के लक्षण से साम्य जान पड़ता है।

उत्प्रेक्षा :—इसका केशव ने विशेष वर्णन नहीं किया और न उसके कोई भेद-प्रभेद ही किए हैं। उन्होंने 'उत्प्रेक्षा' की परिभाषा इस प्रकार की है :—

केशव और हि वस्तु में, औरै कीजै तर्क।
उत्प्रेक्षा तासौं कहैं........... । ९–३० कविप्रिया।

केशव की यह परिभाषा मम्मट की परिभाषा से कुछ साम्य रखती जान पड़ती है। यथा :—

संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। १०–१३७ काव्यप्रकाश।

साहित्यदर्पणकार ने भी ऐसी ही मिलती जुलती परिभाषा दी है। देखिए :—

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। १०-४०। साहित्यदर्पण

दण्डी ने जो लक्षण प्रस्तुत किया है,[3] उससे केशव के लक्षण का विशेष

१—अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव कारणं चेति ॥ १०–१३६ काव्य प्रकाश।

२—किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा।
कार्यस्य कारणं दैवात् ॥ १०–७४ साहित्यदर्पण।

३—अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनेतरस्य वा।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र तामुत्प्रेक्षां विदुः॥ २–२२१ काव्यादर्श।

साम्य नहीं जान पड़ता। केशव ने उत्प्रेक्षा के लिए जो उदाहरण दिए हैं, उनमें वाचक शब्दों–जनु, मनहुँ मानो–ग्रादि का कोई प्रसंग नहीं है। निम्नलिखित उदाहरण तो बड़ा गड़बड़ हो गया है, उसमें ग्रपन्हुति ग्रोर सन्देह ग्रलंकारों का ग्राभास होने लगता है। देखिए :—

ग्रंक न, शशंक न, पयोधिहू को पंक न सु, ग्रंजन न रंजित, रजनि निज नारी को।
नाहिने झलक झलकति तमपान की न, छिति छांड़ छाई छिद्र नाहीं सुखकारी को॥
केशव कृपानिधान देखिए विराजमान, मानिए प्रमान राम बैन बनचारी को।
लागति हैं जाय कंठ, नाग दिगपालन के, मेरे जान सोई कृच्छ कीरति तिहारी को॥
(९-३२) कविप्रिया

दसवां प्रभाव:—

इसमें केवल 'ग्राक्षेप' ग्रलंकार का वर्णन किया गया है। केशव के ग्रनुसार

कारज के ग्रारम्भ ही जंह कीजत प्रतिषेध। १०-१ कविप्रिया।

जहाँ कार्य के ग्रारम्भ में ही उसका प्रतिषेध कर दिया जाय वहां 'ग्राक्षेप' ग्रलंकार होता है। दण्डी की भांति केशव ने भी इस प्रतिषेध को तीनों कालों में बताया है, परन्तु फिर भी वे मम्मट ग्रौर विश्वनाथ के मत का भी "कविकुल कोऊ कहत हैं, यह प्रतिषेधहिं दोइ"। कहकर ग्रादर करते हैं। संस्कृत के इन ग्राचार्यों ने प्रतिषेध को भूत ग्रौर भविष्यत् काल में ही माना है[1] पर केशव उसे वर्तमान में भी मानते हैं। दण्डी भी यह प्रतिषेध तीनों कालों में मानते हैं।[2] परन्तु उनका यह प्रतिषेध वास्तविक प्रतिषेध नहीं है, केवल प्रतिषेध का ग्राभास मात्र है। इसी बात को वृत्तिकार रंगाचार्य शास्त्री ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"प्रतिषेधस्य निषेधस्य उक्तिः कथनमात्रम्। न तु वास्तवः निषेधः। तात्त्विके प्रतिषेधे चमत्काराभावादलंकारत्वाभावप्रसंगः। तथा च प्रतिषेधाभासः ग्राक्षेपः इत्यर्थः।"

परन्तु केशव के प्रतिषेध में इस प्रकार का कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि केशव ने केवल ग्राक्षेप विषयक प्रतिषेध को तो ग्रहण कर लिया, पर दण्डी की ग्राक्षेप की परिभाषा में वे भीतर तक नहीं पहुँच सके।

१—वक्ष्यमाणोक्त विषयः स आक्षेपो द्विधा मतः। १०-१६१ काव्यप्रकाश।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा। १०-६५ साहित्यदर्पण।

२—प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा। २-१२० काव्यादर्श।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में 'आक्षेप' के २४ प्रकार माने हैं। पर केशव ने केवल ९ भेद माने हैं।[1] इनमें संशय,[2] आशिष,[3] धर्म,[4] और उपाय[5] तो दण्डी से लिए गए हैं। केशव का जो 'आशीष आक्षेप' है उसे दण्डी ने 'आशीर्वचनाक्षेप' की संज्ञा दी है। 'धर्माक्षेप' में जहां दण्डी ने 'धर्म' शब्द का अभिप्राय कोमलता आदि गुणों से लिया है, जैसा कि उनके लक्षण और उदाहरण से ज्ञात होता है, वहां केशव ने पातिव्रत आदि गुणों को धर्म शब्द से ग्रहण किया है। यह बात केशव के "जो हों कहों रहिए तो प्रभुता प्रगट होत," आदि उदाहरण से स्पष्ट हो जाती है। केशव का 'मरणाक्षेप' प्रकारान्तर से दण्डी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। मिलाइए:—

केशव का मरणाक्षेप:—

मरण निवारण करत जहँ, काज निवारण होत। १०-१५। क० प्रि०

दण्डी का मूर्च्छाक्षेप:—इति तत्कालसंभूतमूर्च्छयाक्षिप्यते गतिः।

कान्तस्य कातराक्ष्या यन्मूर्च्छाक्षेपः स ईदृशः॥ २-१५६ काव्यादर्श

अर्थात् कातर नेत्रों वाली नायिका द्वारा तत्काल होने वाली मूर्च्छा से पति की गति को रोके जाने से यहां 'मूर्च्छाक्षेप' अलंकार है। केशव ने मरण निवारक शब्दों द्वारा कार्य का निवारण होना बताया है, तो दण्डी ने मूर्च्छा द्वारा कार्य निवारण होना बताया है। वस्तुतः दोनों अवस्थाओं में मरण नहीं होता है। अतः दोनों स्थलों पर मरण के भय के कारण ही कार्य-निवारण का कथन होने से साम्य प्रगट होता है।

केशव ने अपने अलंकारों के स्पष्टीकरण के लिए जो उदाहरण दिए हैं, वे सफल नहीं कहे जा सकते। पर कुछ उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं। यथा—

१—प्रेय, अधीरज, धीरजहु, संशय, मरण प्रकाश।
आशिष धर्म, उपाय कहि, शिक्षा केशवदास॥ १०-६ कविप्रिया।

२—उपजाये संदेह कछु, उपजत काज विरोध। १०-१३। "
इत्ययं संशयाक्षेपः संशयः यन्निवर्त्यते। २-१६४। काव्यादर्श।

३—आशिष पिय के पंथ कौ, देवै दुःख दुराय। १०-१७। कविप्रिया।
इत्याशीर्वचनाक्षेपो, यदाशीर्वादवर्त्मना।
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव, कान्तयात्रा निषिध्यते॥ २-१४२ काव्यादर्श।

४—राखत अपने धर्म को जहँ कारज रहि जाय। १०-१९ कविप्रिया।
धर्माक्षेपोयमाक्षिप्तमङ्गनागात्रमार्दवम्॥
कामकेन यदत्रैवं कर्मणातेद्विरोधिना॥ २-१२८ काव्यादर्श।

५—कौनेहु एक उपाय कहि, रोके प्रिय प्रस्थान। १०-२१ कविप्रिया।
दुष्करं जीवनोपायमुपन्यस्योपरुध्यते।
पत्युः प्रस्थानमित्याहुरुपायाक्षेपमीदृशम्॥ २-१५२ काव्यादर्श।

१—चलत चलत दिन बहुत व्यतीत भये-आदि । १०-१२ । कविप्रिया ।

२—जो हों कहों रहिए, तो प्रभुता प्रगट होति-आदि । १०-२० कविप्रिया

हां; जहां उन्होंने कंत से यात्रा करने का स्पष्ट निषेध कराया है वहां के उदाहरण ऐसे सुन्दर नहीं है । यथा—

प्रथम पिंड हित प्रकट पितर पावन घर आवें —

कलकेलि कलपतरु ववार महि कंत न करहु विदेशमति । १०-३० कवि प्रि०

इन उदाहरणों की एक विशेषता यह है कि ये सभी श्रृंगार से सम्बन्ध रखते हैं । दूसरे 'शिक्षाक्षेप' के उदाहरण के लिए प्रत्येक मास का वर्णन करके पूरा बारह मासा लिख दिया गया है । इस सबसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि केशव अपने युग से प्रभावित थे ।

ग्यारहवां प्रभाव :—

इसमें 'क्रम' से लेकर 'अपन्हुति' तक तेरह अलंकार वर्णित किए गए हैं; परन्तु ये सभी अलंकार भिन्न भिन्न प्रकार के हैं, उसमें कोई सादृश्य नहीं है । 'क्रम' अलंकार के वर्णन से इसका प्रारम्भ होता है । केशव ने 'क्रम' की जो परिभाषा दी है[१] वह स्पष्ट नहीं है । परन्तु उसके उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि केशव का 'क्रम' मम्मट या विश्वनाथ का 'एकावली' अलंकार है । उनके 'यथासंख्य' या 'क्रम' से केशव का यह 'क्रमालंकार' बिल्कुल भिन्न हैं । वामनाचार्य ने मम्मट आदि के जिस 'यथासंख्य' का नाम 'क्रम' रक्खा है, सम्भव है उसी के अनुकरण पर केशव ने यह नामकरण किया हो । पर केशव का न तो लक्षण ही स्पष्ट हैं और न उदाहरण ही शुद्ध है । इनका दूसरा उदाहरण तो मम्मट के 'एकावली' के उदाहरण के अनुकरण पर लिखा गया जान पड़ता है । मिलाइए :—

सोभित सो न सभा जंह वृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नाहीं ।
ते न पढ़े जिन साधु न साधित, दीहदया न दिपै जिन माहीं-आदि ॥
११—३ कविप्रिया ।

न तज्जलं यन्न सुचारु पंकजम्
न पंकजं तत्, यदलीनषट्पदम् । आदि । १०-१९८-५४९ । काव्यप्रकाश

गणना :—

वास्तव में यह कोई अलंकार नहीं जान पड़ता है । इसमें एक से दस तक की संख्या के सूचक शब्दों के नाम लिखकर दो छन्दों में इसके उदाहरण दिये गये हैं । इससे इतना ही लाभ है कि जिज्ञासुओं को एक से दस तक की संख्या के सूचक शब्दों का ज्ञान हो जाता है ।

१—आदि अन्त भरि वर्णिये, सो क्रम केशवदास । ११—१ कविप्रिया

दो सूचक :— नदीकूल द्वै, रामसुत, पक्ष, खड्गकी धार।
द्वै लोचन द्विजजन्म, पद, भुज अश्विनीकुमार ॥ ११-६। क० प्रि०

तीन सूचक :— गंगामग गंगेश दृग, ग्रीवरेख गुण लेखि ।
पावक, काल, त्रिशूल, बलि, संध्या तीनि विशेखि ॥ ११-८ । वही

चार सूचक :— वेद, वदनविधि, वारनिधि, हरिवाहन, भुज चारि ।
सेना अंग, उपाय युग, आश्रम वर्ण, विचारि ॥ ११-१० । वही

पाँच सूचक :— पंडु पूत, इंद्रिय, कवल, रुद्र वदन, गति वाण ।
लक्षण पंच पुराण के, पंच अंग अरु प्राण ॥ ११-१२ । वही

इसी प्रकार छह सात आठ नौ दस संख्याओं के सूचक शब्दों की सूची दे दी गई है।

आशिष :—भामह और दण्डी ने भी इस अलंकार का वर्णन किया है, परन्तु केशव के और भामह आदि के इस अलंकार में थोड़ा अन्तर है। केशव के अनुसार माता पिता, गुरु, देव या मुनि जो कुछ सुख पाकर कहते हैं, आशिष है।[1] पर दण्डी वहीं पर 'आशीरलंकार' मानते हैं जहाँ कोई व्यक्ति इष्ट प्राप्ति की अभिलाषा प्रकट करे या प्रार्थना करे।[2] इस प्रकार केशव का 'आशिष' दण्डी के 'आशीर्' से व्यापक हो गया है। केशव सभी प्रकार के आशीर्वादों को अलंकार मानते हैं। पर दण्डी अभिलषित वस्तु की प्रार्थना को ही 'आशीरलंकार' कहते हैं।

प्रेमालंकार :—

यह दण्डी के 'प्रेयस्' के समान है। वस्तुतः यह 'प्रेयस्' का ही नामान्तर है। यहाँ भी केशव का 'प्रेम' अलंकार प्रीति का वर्णन मात्र रह गया है। वे अपनी खींचतान करके सभी प्रकार के कपट हीन मनोभावों में 'प्रेम' अलंकार मान लेते हैं।

श्लेष :—

हिन्दी में इस अलंकार की बड़ी धूमधाम रही है। केशव ने इस के लिखने में अनुपम कला का परिचय दिया है। उनके अनुसार जहाँ दो तीन या अधिक प्रकार के अर्थ निकलें वहाँ 'श्लेष' अलंकार होता है।[3] इसके उदाहरण के लिये

१—मातु, पिता गुरु, देव, मुनि; कहत जु कछु सुख पाय।
ताही सों सब कहत हैं, आशिष कवि कविराय ॥ ११-२४ कविप्रिया।

२—आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा। २-३५७। काव्यादर्श

३—दोय तीन अरु भांति बहु, आनत जामें अर्थ।
श्लेष नाम तासों कहत । ११-२६ कविप्रिया।

उन्होंने पाँच अर्थ तक देने वाले छन्द प्रस्तुत किए हैं। 'श्लेष' के उन्होंने दो भेद किए हैं।[१]--१–अभिन्न पद, -२–भिन्न पद। इनमें 'अभिन्न पद' श्लेष का लक्षण न देकर केवल उदाहरण ही दिया गया है। 'भिन्न पद श्लेष' के लक्षण और उदाहरण दोनों दिए गए हैं। 'भिन्न पद' का दूसरा नाम 'उपमाश्लेष' भी बताया गया है।[२] केशव के 'श्लेष' के ये भेद संस्कृत के 'संभग पद' एवं 'अभंग पद' से भिन्न हैं। 'सभंग पद' और 'अभंग पद' तो केशव के 'भिन्नपदश्लेष' के ही दो भेद जान पड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त केशव ने श्लेष के पाँच भेद और किए हैं।[३] १—अभिन्न क्रिया, २—भिन्न क्रिया, ३—विरुद्धकर्मा, ४—नियम, ५—विरोधी। इन भेदों के लक्षण नहीं दिए गए, केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं। 'श्लेष' के ये सभी भेद दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर लिखे गए प्रतीत होते हैं। दण्डी ने 'अभिन्न पद के अतिरिक्त सात भेद और किए हैं[४] १—अभिन्न क्रिया श्लेष, २—अविरुद्ध क्रिया श्लेष, ३—विरुद्धकर्मा, ४—सनियम, ५—नियमाक्षेपरूपोक्ति, ६—अविरोधी, ७—विरोधी। केशव के अभिन्नक्रिया, विरुद्धकर्मा, नियम और विरोधी श्लेष दण्डी के क्रमशः अभिन्नक्रिया, विरुद्धकर्मा, नियम और विरोधी श्लेषों के समान ही हैं। भिन्नक्रिया श्लेष केशव का अपना है। दण्डी के अन्य तीन भेद अविरुद्धक्रिया नियमाक्षेपरूपोक्ति और अविरोधी केशव ने नहीं लिए। दण्डी की ही भांति केशव भी 'श्लेष' को अंगी और दूसरे अलंकारों को अंग मानकर 'श्लेष' को प्रमुखता देते हैं।

सूक्ष्मः—जहाँ किसी भाव प्रभाव, इंगित या आकार से दूसरे के मन की बात जान ली जाती है, वहाँ 'सूक्ष्म' अलंकार होता है।[५] केशव का यह लक्षण दण्डी के

१—तिनमें एक अभिन्न पद और भिन्न पद जानि। ११-३४ कविप्रिया।

२—पद ही में पद काढ़िये, ताहि भिन्न पद जानि।
भिन्न भिन्न पुनि पदनि के उपमा श्लेष बखानि ११-३६ कविप्रिया।

३—बहुरयो एक अभिन्नक्रिय, औ भिन्नक्रिय आन।
पुनि विरुद्ध कर्मा अपर, नियम विरोधी मान। ११-३९ कविप्रिया।

४—अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोपरः।
विरुद्धकर्मा चास्त्यन्यः श्लेषो नियमवानपि। २-३१४।
नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधी, विरोध्यपि । २-३१४। काव्यादर्श।

५—कौनहुभाव प्रभाव तें, जानै जिय की बात।
इंगित तें आकार तें, कहि सूक्ष्म अवदात॥ ११-४५ कविप्रिया।

लक्षण से मिलता जुलता है।[1] मम्मट के भी काव्यप्रकाश की वृत्ति में इंगित और आकार से अर्थ स्पष्टीकरण की बात कही गई है।[2] केशव की और दण्डी तथा मम्मट की मान्यताओं में इंगित और आकार के द्वारा अर्थ के स्पष्टीकरण की बात तो समान ही है, पर केशव इसके अतिरिक्त भाव, प्रभाव से भी दूसरे की बात समझने की मान्यता करते हैं, जो एक प्रकार से निरर्थक ही है।

यद्यपि भामह से पूर्व के संस्कृत आचार्य 'सूक्ष्म' को अतिरिक्त अलंकार मानते रहे हैं, पर भामह उसमें कोई उक्ति-वैचित्र्य न होने के कारण उसे अलंकार नहीं मानते।[3] किन्तु दण्डी और रुद्रट आदि ने सूक्ष्म को पृथक् अलंकार के रूप में माना है। केशव ने दण्डी के अनुसरण पर ही इसे पृथक् अलंकार माना है और लक्षण भी थोड़े हेर फेर के साथ दण्डी के अनुसार ही किया है।

लेश :— यहाँ भी केशव ने दण्डी का ही अनुसरण किया जान पड़ता है। दोनों के लक्षण मिलाइए :—

केशव :— चतुराई के लेश तें, चतुर न समुझे लेश। ११-४७ कविप्रिया।

दण्डी :—लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्। २-२६५ काव्यादर्श।

अर्थात् प्रकटीभूत गोप्य वस्तु के रूप को थोड़ा छिपाने को 'लेश' अलंकार कहते हैं। परन्तु केशव का लक्षण उतना स्पष्ट नहीं है, जितना दण्डी का। पर उन्होंने जो उदाहरण दिया है उससे केशव के लक्षण का भाव अवश्य स्पष्ट हो जाता है। केशव जिसे 'लेश' कहते हैं उसे मम्मट आदि नव्य आचार्य 'व्याजोक्ति' कहते हैं। देखिए :—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ १०-११८ काव्यप्रकाश।

अर्थात् जहाँ प्रगट हुई गोप्य बात को किसी बहाने से छिपाया जाता है। वहाँ 'व्याजोक्ति' अलंकार होता है।

दण्डी ने अपने 'लेश' अलंकार में दो बातें मानी हैं। एक तो वह जो उपर्युक्त लक्षण में प्रकट की गई है और दूसरी यह है कि जहाँ लेशतः की हुई स्तुति से निन्दा और निन्दा से स्तुति हो वहाँ भी 'लेश' अलंकार होता है।[4] परन्तु यह उनका अपना मत न होकर दूसरों का है। पीछे के रुद्रट, अप्पयदीक्षित आदि आचार्यों ने इसी दूसरे लक्षण को अंगीकार किया है। हां, मम्मट आदि नव्य आचार्यों ने इसे

१—इङ्गिताकारलक्ष्योर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः।२-२६० काव्यादर्श
२—कुतोपि आकारादिङ्गिताद्वा सूक्ष्मस्तीक्ष्णमति संवेद्यः १०-१२२ वृत्ति-का०प्र०
३—सूक्ष्म····नालंकारतया मतः। समुदायाभिधानस्यवक्रोक्त्यनभिधानतः। २-८६। काव्यालंकार
४—लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम्। २-२८६। काव्यादर्श।

ग्रहण नहीं किया। नव्य आचार्य इसे 'व्याजोक्ति' कहते हैं। अप्पयदीक्षित द्वारा वर्णित छेकापन्हुति इसी का प्रभेद जान पड़ता है। यथा :—

छेकापन्हुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिन्हवे ।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः कान्तः किं न हि नूपुरः ।। कुवल०-३०

निदर्शना :—

केशव के अनुसार :
कौनहुँ एक प्रकार ते, सत अरु असत समान ।
कहिए प्रकट निदर्शना । ११-४९ । कविप्रिया

अर्थात् जहां किसी एक ढंग से भली और बुरी बातों का समान परिणाम प्रकट किया जाय वहाँ 'निदर्शना' होती है।

केशव का यह लक्षण दण्डी के लक्षण से साम्य रखता है। यथा—
'अर्थान्तर प्रवृत्तेन किंचित् तत्सदृशं फलम्।'
सदसद्वा निदर्श्येत यदि तत् स्यान्निदर्शनम् ।। २-३४८ । काव्यादर्श

अर्थात् यदि किसी अन्य कार्य में प्रवृत्त होने से उसी के सदृश सत् या असत् फल प्रकट होता है, तो वहां 'निदर्शना' होती है। लक्षणों के अतिरिक्त इनके उदाहरणों में भी साम्य है।

ऊर्जा तथा रसवत्:– यहां भी केशव ने दण्डी का ही अनुकरण किया है। केशव जिसे 'ऊर्जा' कहते हैं, उसी को दण्डी 'ऊर्जस्वी' नाम से अभिहित करते हैं। 'रसवत्' अलंकार को केशव ने विस्तार के साथ वर्णित किया है। वीभत्स को छोड़ कर अन्य रसों के उदाहरण देकर इस 'रसवत्' अलंकार का उन्होंने विस्तृत निरूपण किया है।

अर्थान्तरन्यास:—केशव और दण्डी ने जो इसके लक्षण प्रस्तुत किए हैं, वे एक दूसरे से साम्य रखते हैं। यथा:—

केशव—और जानिए अर्थ जहँ औरै वस्तु बखानि। ११-६५ कविप्रिया।
दण्डी—ज्ञेयः सोर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधन समर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ।। २-१६९ काव्यादर्श

अर्थात् जब किसी वस्तु को प्रस्तुत करके उसके साधन में समर्थ किसी अन्य वस्तु का न्यास किया जाता है, तब 'अर्थान्तरन्यास' समझना चाहिए।

वस्तुतः यहाँ दो अर्थों में जो परस्पर सम्बन्ध होता है वह समर्थ्य-समर्थक भावरूप होता है। यही सम्बन्ध 'दृष्टान्त' में भी होता है, पर वहां सामान्य का समर्थन सामान्य से और विशेष का विशेष से होता है। 'काव्यलिंग' अलंकार में भी यही सम्बन्ध होता है किन्तु यहां कार्य का समर्थन कारण से और कारण का कार्य से होता है।

केशव की उपर्युक्त परिभाषा संस्कृत के नव्य आचार्यों[1] की परिभाषा से भिन्न है। केशव ने इसके चार भेद किए हैं[2] १–युक्त २–अयुक्त ३–अयुक्तायुक्त ४–युक्तायुक्त दण्डी ने भी यही चार भेद माने हैं, पर इनके अतिरिक्त चार भेद और माने हैं जो इस प्रकार हैं विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध और विरोधवान। केशव ने इनका वर्णन नहीं किया। इस प्रकार दण्डी ने 'अर्थान्तरन्यास' के आठ[3] और केशव ने केवल चार भेद किए हैं। केशव ने अपने चारों भेदों के लक्षण और उदाहरण दिए हैं, परन्तु उनके ये लक्षण और उदाहरण दण्डी के लक्षणों और उदाहरणों से भिन्न हैं। शायद, केशव इस विषय में दण्डी को पूर्णतया समझ नहीं सके हैं।

व्यतिरेक :—केशव की 'व्यतिरेक' की परिभाषा दण्डी की परिभाषा से बिल्कुल मिलती जुलती है। उनके अनुसार दो समान वस्तुओं में जो भेद-कथन होता है, वह 'व्यतिरेक' अलंकार होता है।[4] इन लक्षणों में व्यतिरेक का आधार भेदकथन मात्र ही है। परन्तु मम्मट आदि ने इस भेद को स्पष्ट करते हुए बताया है कि उपमान से उपमेय में आधिक्य होने पर 'व्यतिरेक' अलंकार होता है।[5]

केशव ने व्यतिरेक के १–युक्त २–सहज दो भेद किए हैं। सम्भवतः केशव के इन भेदों का आधार दण्डी का दो प्रकार का–शब्दोपात्त और प्रतीत सादृश्य रहा हो। दण्डी ने इसी 'व्यतिरेक' के दस भेद माने हैं।

अपन्हुति :—केशव ने जो इसका लक्षण प्रस्तुत किया है वह दण्डी के अनुसार ही है।[6] पर केशव का उदाहरण लक्षण से भिन्न हो गया है। वह उदाहरण

१--(अ) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेणवा। १०-१०६ काव्यप्रकाश
(ब) सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। १०-६१ साहित्यदर्पण
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा मतः॥ १०-६२ साहित्यदर्पण

२—युक्त अयुक्त बखानिए और अयुक्तायुक्त।
केशवदास विचारिए, चौथो युक्तायुक्त॥

३—विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धोविरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः॥ २–१७० काव्यादर्श

४—तामें आने भेद कछु, होय जु वस्तु समान॥ ११–७८ कविप्रिया
शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः।
तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते॥ २–१८० काव्यादर्श

५—उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। १०–१०५ काव्यप्रकाश
आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा। व्यतिरेकः॥ १०-५२ साहित्यदर्पण

६—मन की वस्तु दुराय मुख, औरै कहिए बात। ११–८१ कविप्रिया।
अपन्हुतिरपन्हुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्। २–३०४ काव्यादर्श।

'अपन्हुति' का न होकर 'मुकरी' का बन गया है। केशव की यह 'अपन्हुति' एक प्रकार से 'छेकापन्हुति' है। केशव ने इसके भेद नहीं किए, पर दण्डी ने इसके 'विषयापन्हुति' और स्वरूपापन्हुति दो भेद माने हैं।

बारहवां प्रभाव :—

इस प्रभाव में 'उक्ति' अलंकार का जो वर्णन है, वह वास्तव में उक्तिमूलक पाँच अलंकारों का समूहमात्र है। इसके अतिरिक्त पाँच और अलंकारों का वर्णन यहाँ किया गया है। उक्तिमूलक अलंकारों में निम्नलिखित अलंकार हैं। १–वक्रोक्ति, २–अन्योक्ति, ३–व्यधिकारणोक्ति, ४–विशेषोक्ति, ५–सहोक्ति।

वक्रोक्ति :—जहाँ सीधी बात में किसी वक्र भाव का वर्णन किया जाता है वहाँ 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है।[1] दण्डी ने इस अलंकार का वर्णन नहीं किया। भामह के अनुसार 'वक्रोक्ति' अलंकारों का निगूढ़ रहस्य है।[2] कुन्तक इसे काव्य के सर्वस्व के रूप में ही स्वीकार करते हैं। परन्तु मम्मट इन धारणाओं के समर्थक नहीं हैं। वे उसे केवल 'शब्द की चारुता' मात्र मानते हैं। इसलिए वे 'वक्रोक्ति' को एक शब्दालंकार मात्र कहते हैं। विश्वनाथ की भी यही मान्यता है। परन्तु केशवदास उसे केवल 'शब्दालंकार' मात्र न मानकर प्राचीन संस्कृत आचार्यों के मत को ही मान्यता देते हैं।

अन्योक्ति :—जहाँ और की बात और से कही जाती है, वहाँ 'अन्योक्ति' अलंकार होता है।[3] संस्कृत साहित्य में इसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का नाम दिया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'समासोक्ति' को भी वर्णित किया है। नव्य आचार्यों के अनुसार अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की प्रतीति जहाँ होती है वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है। पर दण्डी के अनुसार 'अप्रस्तुत प्रशंसा' वहाँ होती है जहाँ अप्रस्तुत की प्रशंसा से प्रस्तुत की निन्दा होती है। पर जहाँ अप्रस्तुत वाच्य से प्रस्तुत की प्रतीति होती है वहाँ 'सामासोक्ति' अलंकार होता है। इस प्रकार इन आचार्यो ने विषय विभाग से ये दो अलंकार माने हैं।[4] परन्तु केशवदास में समासोक्ति का अभाव है। अन्योक्ति के रूप में 'अप्रस्तुत प्रशंसा' का वर्णन अवश्य किया है।

१—केशव सूधी बात में, वरणत टेढ़ो भाव। १२-३ कविप्रिया।

२—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिर् नयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यो कोऽलंकारोऽनयाविना। २-८५ काव्यालंकार

३—औरहि प्रति जो बखानिए, कछू और की बात। १२-६ कविप्रिया

४—नव्यास्तु अप्रस्तुतात् वाच्यात् प्रस्तुत प्रतीतौ अप्रस्ततप्रशंसा, प्रस्तुतात् वाच्यात् अप्रस्तुत प्रतीतौ समासोक्तिः इति विषयविभागेनालंकारद्वयमाह अयमाचार्यं दण्डी तु अप्रस्तुतात् वाच्यात् प्रस्तुतस्य प्रतीतौ समासोक्तिः अप्रस्तुत प्रशंसया प्रस्तुतस्य निन्दा अप्रस्तुतप्रशंसा इति विषयविभागेनालंकार द्वयं स्वीकरोति। २-३४०-वृत्ति-काव्यादर्श।

व्यधिकरणोक्तिः—जहां अन्य का गुण दोष किसी और में प्रकट किया जाता है।[1] यथाः—

आलिंगन अंग अंग पीडियत पद्मिनी के,
सौतिन के अंग अंग पीडनि परति है।

यद्यपि केशव का दिया हुआ यह नया नामकरण है, पर संस्कृत साहित्य में यह शब्द अपरिचित नहीं है। 'समुच्चय' के प्रसंग में रुद्रट ने "व्यधिकरणे वा यस्मिन्" आदि लिखा है। यह अलंकार वास्तव में नया नहीं है, मम्मट और विश्वनाथ आदि के 'असंगति' अलंकार से यह मिलता है।

विशेषोक्तिः—जहां कारण के विद्यमान होने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता है।[2] संस्कृत के नव्य आचार्यों ने इसे इसी रूप में स्वीकार किया है, परन्तु दण्डी के अनुसार 'विशेषोक्ति' अलंकार वहां होता है जहां गुण, जाति क्रिया आदि का निष्फलत्व दिखाया जाय।[3]

सहोक्तिः—केशव का इसका लक्षण अपूर्ण है। क्योंकि सह अर्थ के शब्द का प्रयोग जब चमत्कारपूर्ण होता है तभी यह अलंकार होता है। चमत्कार के अभाव में अलंकार नहीं होता। केशव ने इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह अवश्य ही उपयुक्त है।

केशव के ये उक्तिमूलक अलंकार मौलिक नहीं हैं, अपितु दण्डी, मम्मट और विश्वनाथ आदि आचार्यों के आधार पर ही उनका वर्णन किया गया है।

व्याजस्तुतिनिन्दाः—निन्दा से प्रशंसा और प्रशंसा से निन्दा के बोध में क्रमशः 'व्याजस्तुति' और 'स्तुतिनिन्दा' अलंकार होते हैं। ये अलंकार दण्डी आदि के अलंकारों से मिलते हैं, पर दण्डी केवल निन्दा के बहाने ही स्तुति का वर्णन करते हैं। प्रशंसा के द्वारा निन्दा का कथन उन्होंने नहीं किया।

अमितः—यह नया अलंकार है। जहाँ साधक द्वारा प्राप्य सिद्धि को साधन ही पा लेता है।[4] इसका केशव ने जो उदाहरण दिया है वह बहुत ही सुन्दर है।

पर्यायोक्तिः—जहाँ अपने इष्ट की सिद्धि किसी अदृष्ट कारण से बिना

१—औरहि में कीजै प्रकट, औरहि को गुण दोष। १२-८ कविप्रिया

२—विद्यमान कारण सकल, कारज होइ न सिद्ध॥ १२-१४ कविप्रिया

३—गुणजातिक्रियादीनां यत वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते। २-३२३ काव्यादर्श।

४—जहां साधनै भोगई, साधक की शुभ सिद्धि। १२-२६ कविप्रिया।

प्रयत्न के ही हो जाय।[१] केशव का यह लक्षण दूषित हो गया है। यह लक्षण तो 'प्रहर्षण' के लक्षण से मिलता जुलता है, यद्यपि 'प्रहर्षण' में इष्ट अर्थ से अधिक का प्राप्ति होती है।[२]

युक्तः—जहाँ किसी के रूप बल का ज्यों का त्यों वर्णन किया जाता है वहाँ 'युक्त' अलंकार होता है।[३] परन्तु यह परिभाषा 'स्वभावोक्ति' से बिल्कुल मिलती जुलती है। मिलाइए :—

जाको जैसो रूप गुन कहिए ताही साज। (स्वभावोक्ति) कविप्रिया.

दोनों परिभाषाओं में लगभग एक से ही शब्द हैं। अन्तर इतना ही है कि यदि 'स्वभावोक्ति' में रूप, गुण का वर्णन होता है, तो 'युक्तालंकार' में रूप, बल का वर्णन। यह बात केशव के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है।

तेरहवां प्रभाव :—

समाहितः—जो कार्य किसी प्रकार न हो रहा हो, पर दैवयोग से हो जाय; तो वहां 'समाहित' अलंकार होता है।[४] दण्डी इसी की परिभाषा इस प्रकार करते हैं[५]—किसी कार्य के प्रारम्भ होने पर दैवयोग से उसके साधन की प्राप्ति हो जाय तो 'समाहित' अलंकार होता है। इन दोनों लक्षणों में अन्तर इतना ही है कि दण्डी कार्य के आरम्भ होने पर दैवयोग से उसका साधन प्राप्त होने की बात कहते हैं, पर केशव कार्य के प्रारम्भ होने का कथन नहीं करते। उदाहरण दोनों आचार्यों के एक ही हैं। मम्मट ने इसी का नाम 'समाधि' रखा है। मम्मट की यह 'समाधि' दण्डी के 'समाहित' का ही अनुसरण करती है। इसके लिए मम्मट ने जो उदाहरण दिया है वह भी काव्यादर्श (२-२२९) की ही सूक्ति है। केशव ने इसी को अपने ढंग से बढ़ाकर प्रस्तुत किया है।

सुसिद्ध :—जहाँ साधन कोई अन्य करता है और सिद्धि का फल अन्य कोई भोगता है, वहाँ 'सुसिद्ध' अलंकार होता है। यह 'असंगति' का ही संकीर्ण रूप प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें भी कारण कहीं और कार्य कहीं होता है। इतना होने पर भी इसमें केशव की मौलिकता दिखाई पड़ती है। 'प्रसिद्ध' अलंकार भी इसी प्रकार का है। इसमें एक के साधन का फल अनेक को प्राप्त होता है। 'विपरीत' अलंकार

१—कौनहु एक अदृष्ट तें अनहीं किए जुहोय।
सिद्धि आपने इष्ट की, पर्यायोक्तिसोय ॥ १२-२६ कविप्रिया।
२—वांछितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम्। चन्द्रालोक। ५-४६।
३—जाको जैसो बुद्धिबल, कहियो तैसो रूप। १२-३१ कविप्रिया।
४—हेतु न क्यों हू होत जहं, दैवयोग तें काज। १३-१ कविप्रिया।
५—किंचिदारभमाणस्य कार्यं, दैववशात् पुनः।
तत्साधन समापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥ २-२९८ काव्यादर्श

वहाँ होता है जहाँ कार्य साधन के लिए साधन ही बाधक हो जाता है ।-इसमें मम्मट आदि के 'व्याघात' की छाया दिखाई पड़ती है। मम्मट ने 'व्याघात' का लक्षण इस प्रकार किया है:—

यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ।
तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।। १०-१३८ काव्यप्रकाश

अर्थात् किसी के द्वारा एक उपाय से सिद्ध कार्य किसी दूसरे के द्वारा उसी उपाय से विपरीत या असिद्ध हो जाता है।

इन दोनों में यही अन्तर है कि 'विपरीत' में तो साधन स्वतः विरुद्ध बन जाता है, पर 'व्याघात' में दूसरे के हाथ में जाकर कोई कार्य विरोधी बन जाता है।

रूपक :—जहाँ उपमा से ही मिलान हुआ उपमान का रूप वर्णित किया जाता है, वहाँ 'रूपक' अलंकार होता है।[1] केशव का यह लक्षण वास्तव में बिल्कुल प्राथमिक सा जान पड़ता है। दण्डी का लक्षण भी ऐसा ही है। दण्डी ने रूपक के अठारह भेद किए हैं:—१—असमस्त, २—समस्तव्यस्त, ३—सकल, ४—अवयव, ५—अवयव विरूपक, ६-एकाङ्गरूपक, ७—युक्त, ८—विषय, ९—सविशेषण, १०—विरुद्ध, ११—हेतु, १२—श्लिष्ट, १३—उपमारूपक, १४—व्यतिरेक रूपक, १५--आक्षेप रूपक, १६--समाधान, १७--रूपकरूपक, १८--तत्वापन्हव। केशव ने वैसे तो रूपक के अनेक भेद कहे, पर उन्होंने केवल तीन स्वाभाविक भेदों की ही चर्चा की है।[2] ये भेद हैं:—
१—अद्भुत रूपक २—विरुद्ध रूपक ३—रूपकरूपक। केशव का 'अद्भुत रूपक', अधिकाद्रूप्य रूपक बन गया है। इसमें व्यतिरेक की ध्वनि ही अद्भुत है। यह दण्डी के किसी भेद से नहीं मिलता। विरुद्ध रुपक और रूपक रूपक दण्डी में भी मिलते हैं। पर केशव का 'विरुद्धरूपक' दण्डी के 'विरुद्ध रूपक' से नहीं मिलता। वह केशव के हाथों में 'रूपकातिशयोक्ति' बन गया है। दण्डी और केशव के 'रूपकरूपक' में नाम का ही साम्यमात्र है। कदाचित् केशव, दण्डी के आशय को नहीं समझ पाए, इसी कारण उसमें दण्डी जैसी विशेषता नहीं आ पाई।

दीपक :—दण्डी के अनुसरण पर ही केशव ने 'रूपक' के पश्चात् ही इसका वर्णन किया है। केशव की परिभाषा दण्डी के लक्षण से मिलती है।

मिलाइए :—वाचि क्रिया गुण द्रव्य को, बरणहु करि इक ठौर।
दीपक दीपति कहत हैं केशव कवि सिरमौर । १३-२१ कविप्रिया।

जाति क्रिया गुण द्रव्य वाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहु दीपकं यथा । २-९७ काव्यादर्श

१—उपमा ही के रूप सों, मिल्यो बरणिए रूप। १३-१२ कविप्रिया।
२—ताके भेद अनेक सब, तीनै कहै सुभाव।
अद्भुत एक बिरुद्ध अरु, रूपक रूपक नाव ।। १३-१४ कविप्रिया।

दण्डी ने दीपक के बारह भेद किए हैं, पर केशव ने केवल 'मणिदीपक' और 'मालादीपक'—इन दो भेदों का ही वर्णन किया है, यद्यपि वे भी इसके अनेक भेद स्वीकार करते हैं। केशव के ये भेद दण्डी के क्रमशः 'जाति' और 'माला' से मिलते हैं। लक्षण एक ही हैं, पर उदाहरणों में भिन्नता है।

प्रहेलिका:—किसी वस्तु के किसी प्रकार छिपाकर वर्णन करने को 'प्रहेलिका' अलंकार कहते हैं।[१] दण्डी ने भी इसे अलंकार रूप में स्वीकार किया है। परन्तु विश्वनाथ इसे अलंकार नहीं मानते।[२]

परिवृत्त :—केशव द्वारा दिया हुआ 'परिवृत्त' का लक्षण चन्द्रालोक के 'विषादन' के लक्षण से मिलता है। देखिए :—

जहां करत कछु और ही, उपजि परत कछु और। १३-३९ कविप्रिया
इष्यमाणविरुद्धार्थ सम्प्राप्तिस्तु विषादनम् ॥ ५-५० ॥ चन्द्रालोक

अर्थात् इच्छित वस्तु से विरुद्ध वस्तु की प्राप्ति को विषादन कहते हैं। दण्डी की 'परिवृत्ति' इससे भिन्न है। पूर्व कथित 'अमित' और यह 'परिवृत्त' अलंकार कुछ मिलते जुलते से जान पड़ते हैं, पर उनके क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। साहित्यदर्पणकार विनिमय के भाव में 'परिवृत्ति' मानते हैं।

इस तेरहवें प्रभाव में जिन आठ अलंकारों का वर्णन किया गया है, उनमें से समाहित, रूपक, दीपक, प्रहेलिका और परिवृत्ति--ये पांच दण्डी के अनुसरण पर लिखे गए जान पड़ते हैं। तीन अन्य सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत अलंकार केशव की स्वतन्त्र मौलिकता के द्योतक हैं परन्तु उनमें दूसरे अलंकारों की छाया अवश्य आ गई है।

चौदहवां प्रभाव :—

इस प्रभाव में केवल 'उपमालंकार' का ही वर्णन किया गया है। अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक दिनों से ही उपमा का बड़ा महत्व रहा है। वेदों में भी इस अलंकार को स्थान दिया गया है। बहुत से सादृश्यमूलक अलंकार तो पहिले उपमा के ही भेदोपभेद थे। केशवदास में भी हम यही बात देखते हैं। वे उपमा की परिभाषा इस प्रकार करते हैं "जब किसी वस्तु या व्यक्ति का रूप शील गुण किसी

१—बरनिय वस्तु दुराय जहं, कौनहुँ एक प्रकार। १३-३० कविप्रिया।

२—रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा, च्युतदत्ताक्षरादिका॥ साहित्यदर्पण।

अन्य वस्तु या व्यक्ति के अनुरूप होता है, तब उपमालंकार होता है"।[1] दण्डी ने भी ऐसा ही लक्षण दिया है।[2] दण्डी ने उपमा के २३ भेद किये हैं, पर केशव ने २२ भेद ही माने हैं। उनमें से १--संशयोपमा, २--हेतूपमा, ३--अभूतोपमा, ४--अद्भुतोपमा, ५--विक्रियोपमा, ६--मोहोपमा, ७--नियमोपमा, ८--अतिशयोपमा, ९--उत्प्रेक्षितोपमा, १०--श्लेषोपमा, ११--धर्मोपमा, १२--निर्णयोपमा, १३--असंभावितोपमा, १४--विरोधोपमा, १५--मालोपमा तो दण्डी के नामों और लक्षणों से ज्यों के त्यों मिलते हैं। शेष में से पांच—दूषणोपमा, भूषणोपमा, गुणाधिकोपमा, लाक्षणिकोपमा, परस्परोपमा—के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। पर केशव के ये नाम दण्डी की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय जान पड़ते हैं। वे क्रमशः दण्डी की निन्दोपमा, प्रशंसोपमा, प्रतिषेधोपमा, चटूपमा और अन्योन्योपमा ही हैं। केशव की विपरीतोपमा और संकीर्णोपमा दण्डी के किसी भेद से नहीं मिलती। विपरीतोपमा में आचार्य शुक्ल जी उपमा का लक्षण ही नहीं मानते हैं।[3]

दण्डी की ही भाँति केशव ने भी कई अलंकारों को उपमा के भेदों में सम्मिलित कर लिया है। मोहोपमा में भ्रान्तिमान, अद्भुतोपमा में अतिशयोक्ति, संशयोपमा में अनन्वय अलंकार का ही रूप दिखाई पड़ता है।

पन्द्रहवां प्रभाव :—

इसमें 'यमक' का वर्णन किया गया है। जहाँ एक से पदों के अनेक अर्थ निकलते हैं, वहाँ 'यमक' अलंकार होता है।[4] इस प्रकार की परिभाषा देने के पश्चात् आदि पद, द्वितीय पद, तृतीय पद आदि यमक के अनेक भेद करके उनके उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। केशव ने वस्तुतः 'यमक' के दो भेद किए हैं—१--अव्ययेत और २--सव्ययेत। आदि पद आदि यमक 'अव्ययेत' हैं क्योंकि इनके पदों में अन्तर नहीं है, वे सटे हुए हैं। पर जहाँ पदों के मध्य में अन्तर हो, उनके मध्य में अन्य पद भी आ गए हों वहाँ 'सव्ययेत' यमक होता है। सरलता और कठिनता के विचार से भी यमक के—१--सुखकर और २--दुखकर, ये दो भेद और

१—रूप शील गुण होय सम, ज्यों क्यों हूँ अनुसार।
तासों उपमा कहत कवि............ ॥ १४.१ कविप्रिया।

२—यथाकंथचित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते। उपमानाम सा—२-१४ काव्यादर्श
यत्र काव्ये यथाकंथचित् येनकेन प्रकारेण। गुण क्रियाद्रव्यवशेनेति भावः उद्भूतं प्राधान्येन स्फुटम् सादृश्यं साम्यम् प्रतीयते सा उपमा तत् सादृश्यमुपमालंकारः। वृत्ति-काव्यादर्श।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्रशुक्ल पृ० २५२

४—पद एकै नाना अरथ, जिनमें जेतो वित्त।
तामें ताको काढ़िए, यमक मांहि दै चित्त॥ १५-१। कविप्रिया॥

किए गए हैं। यमक के ये भेद लिखने में केशव ने दण्डी को आधार बनाया है, परन्तु दण्डी का अनुसरण करने में वे पूर्ण सफल नहीं हो सके।

सोलहवां प्रभाव :—

इसमें 'चित्रालंकार' का वर्णन किया गया है। केशव के अनुसार चित्र एक समुद्र है, जिसमें बड़े विचित्र लोग भी गोता खाते हैं। इसलिए केशव उसकी कुछ बूँदों का ही वर्णन कर सके हैं।[1] केशव ने इस 'चित्र' के वर्णन में अनेक प्राचीन आचार्यों से सहायता लेते हुए भी अपनी प्रतिभा से काम लिया है। तथापि इस पर 'काव्य-कल्पलतावृत्ति' के तृतीय प्रस्तान के पांचवें स्तवक का प्रभाव प्रमुख रूप से पड़ा जान पड़ता है। 'चित्रालंकार' में कुछ दोष, दोष नहीं रहते। यतिभंग, रसहीन, बधिर, अन्ध, अगण, आदि दोष आ जाने पर वे नगण्य ही समझे जाते हैं। चित्रनिर्वाह के लिए विसर्ग, अनुस्वार, ह्रस्व, या दीर्घ आदि का विशेष नियम नहीं होता।[2] इनके अतिरिक्त ब और व, तथा ज और य में भी कोई भेद नहीं रहता।

इस अलंकार के अन्तर्गत निरोष्ठ, अमात्रिक, नियमाक्षर शब्द, बहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, गूढ़ोत्तर, एकानेकोत्तर, व्यस्त समस्तोत्तर, व्यस्त गतागत उत्तर, विपरीत व्यस्त समस्त प्रश्नोत्तर, शासनोत्तर, प्रश्नोत्तर, और गतागत का वर्णन किया गया है। इनसे अनेक प्रकार के चित्र बनते हैं। उनमें केशव ने गोमूत्रिका चक्र, कपाटबद्ध, अश्वगति चक्र, चरणगुप्तचक्र, गतागत, चतुष्पदी और चरणगुप्त का उल्लेख किया है। इन सबके लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। वर्तमान में इन अलंकारों का इतना सम्मान नहीं है। वे एक प्रकार से उपेक्षित से हैं उनका अध्ययन और अध्यापन भी आजकल नहीं होता है।

इस उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केशवदास की कविप्रिया न तो किसी संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद है और न वह कुछ सुनी सुनाई बातों का संग्रहमात्र है। इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ की रचना करने में उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' को अपना आधार बनाया, पर उनका अन्धानुसरण उन्होंने नहीं किया। कहीं कहीं तो वे दण्डी से सहमत न हो सके। कहीं कहीं उन्होंने मम्मट और विश्वनाथ से भी सहायता ली है। 'चित्रालंकार' को अवश्य उन्होंने प्रधान रूप से 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के तृतीय प्रस्तान के पाँचवें स्तवक पर आधारित किया है। कतिपय स्थलों पर उन्होंने अपनी मौलिकता का भी प्रदर्शन किया।

१—केशव चित्र-समुद्र में, बूढ़त परम विचित्र।
ताके बूंदक के कणै, बरनत हौं सुन मित्र॥ १६-१ कविप्रिया।

२—अध ऊरध, बिनु बिंदु युत, जाति रस हीन अपार।
बधिर अन्ध गन अगन के, गनिय न नगन विचार। १६-२ कविप्रिया।
अच्छर मोटो पातरो, बव जय एको लेख। १६-३ कविप्रिया।

केशवदास ने यथामति अपने विषय का पूर्ण वैज्ञानिक विवेचन किया है और विषय को क्रम से प्रतिपादित किया है। यद्यपि उनके लक्षण और उदाहरण कहीं कहीं पर गड़बड़ अवश्य हो गए हैं, तथापि उनमें वैसी शिथिलता नहीं है जैसी कि परवर्ती कवियों के अलंकार ग्रन्थों में पाई जाती है। जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं वे उनके अपने हैं। इन उदाहरणों के लिए कवित्त और सवैयों का ही प्रयोग किया गया है। संस्कृत आचार्यों की भांति अनुष्टुप् जैसे छन्दो का प्रयोग उन्होंने नहीं किया। फलतः सम्पूर्ण उदाहरण में अलंकार न होकर एक दो चरणों में ही समाप्त हो गया है और शेष चरण व्यर्थ से मालूम होने लगते हैं। इन उदाहरणों में यत्रतत्र संस्कृत श्लोकों की छाया भी मिल जाती है।

केशव ने शब्दालंकारों का कोई विवेचन नहीं किया। दण्डी ने भी ऐसा ही किया है। दण्डी की भांति उन्होंने भी अपने अलंकारों का प्रारम्भ 'स्वभावोक्ति' से किया है। केशव ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन विशेष अलंकारों में किया है। गणना, अमित, युक्त, सुसिद्ध तथा विपरीत उनके बिल्कुल नए अलंकार हैं। 'क्रम' अलग है। 'व्यधिकरणोक्ति' एक नया नाम है। यमक, व्यतिरेक, दीपक आदि के भेदों में केशव की मौलिकता स्पष्ट है। आक्षेप तथा उपमा के आवश्यक भेदों का ही उन्होने वर्णन करके अनावश्यक का परित्याग किया है। जिन अलंकारों के उन्होंने नाम परिवर्तित किए हैं, वे पुराने नामों की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ते हैं।

भिन्न-भिन्न प्रभावों में अलग अलग अलंकारों का वर्णन करके अलंकारों के वर्गीकरण की ओर उन्होंने संकेत किया है, भले ही यह वर्गीकरण वैज्ञानिक न हो। पर उससे उनकी अप्रतिम प्रतिभा का परिचय अवश्य मिलता है। केशव के अलंकारों की संख्या, क्रम आदि इस तथ्य की ओर इंगित करते हैं कि केशव नव्य आचार्यों की अपेक्षा प्राचीन संस्कृताचार्यों से अधिक प्रभावित थे। केशव ने कुल ३७ अलंकारों का वर्णन किया है। भामह ने ४०, दण्डी ने 'आवृत्तिदीपक' को सम्मिलित कर लेने पर ३७, और उद्भट ने ४१ अलंकारों का ही वर्णन किया है। तीन अनुप्रास और पुनरुक्तवदाभास को जिनका वर्णन केशव ने नहीं किया है, पृथक् कर देने पर उद्भट के अलंकारों की संख्या भी ३७ ही रह जाती है।

अलंकारों के क्रम में भी केशव ने प्रायः प्राचीन आचार्यों का ही अनुकरण किया है। नवें प्रभाव में अलंकारों का जो क्रम है, वह भोज के अनुकरण पर है। 'आक्षेपालंकार' के वर्णन के लिए एक पूरे प्रभाव का होना ही आवश्यक है। ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें प्रभाव के अलंकारों का क्रम भामह के आधार पर जान पड़ता है, यद्यपि कहीं कहीं उसका अतिक्रमण किया गया है। प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जा, श्लेष अलंकारों को भी प्राच्य आचार्यों के अनुकरण पर ही एक साथ रक्खा गया है। रूपक और दीपक का क्रम भी भामह के अनुसार ही है।

इस प्रकार केशव ने अपनी कविप्रिया में वैज्ञानिक और शास्त्रीय ढंग से अलंकारों का वर्णन करके हिन्दी में परवर्ती आचार्यों का इस दिशा में मार्ग प्रशस्त किया। इनके पहले कोई अन्य कवि इस प्रकार का वैज्ञानिक निरूपण नहीं कर सका है। अतः हम केशवदास को हिन्दी अलंकार-ग्रन्थों के प्रणयन का प्रवर्तक बिना संकोच कह सकते हैं। यह बात अवश्य है कि उनकी यह परिपाटी उनसे पचास साठ वर्षों बाद प्रारम्भ हुई।

रीतिकालीन-अलंकार-ग्रन्थ

केशव के पश्चात् :—

अब तक के हिन्दी साहित्य को इतिहासकारों ने चार कालों में विभाजित किया है। १–आदिकाल अथवा वीरगाथाकाल २–भक्तिकाल ३–रीतिकाल या शृँगार काल और ४–आधुनिककाल। कालों का यह नामकरण तत्कालीन साहित्य की प्रधान प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। यद्यपि यह विभाजन और नामकरण सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता, तथापि वह वहुत कुछ संगत और विवेकपूर्ण है।

इनमें रीतिकाल पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वि० सं० १७०० से लेकर वि० सं १९०० तक माना जाता है। यही वह युग है जब हिन्दी में रीति-ग्रन्थों अथवा लक्षण ग्रन्थों का निर्माण प्रचुरता के साथ हुआ। रीतिकाल नामकरण भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। रीति ग्रन्थ या रीति-शास्त्र का हिन्दी में वास्तविक अर्थ से भिन्न एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया गया है। रीतिशास्त्र का वास्तविक अर्थ होता है रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाला शास्त्र और रीति का अर्थ है विशेष प्रकार की पद-रचना (विशिष्टपदरचना रीतिः, रीतिरात्मा काव्यस्य। १-२-६७। काव्यालंकार सूत्र) इसी रीति को वामन ने काव्य की आत्मा घोषित किया था। और इसी बात को सिद्ध करने के लिये उन्होंने रीति-सिद्धान्त को जन्म दिया था। अतः रीतिशास्त्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं ग्रन्थों को रक्खा जा सकता है जिनमें रीति-सिद्धान्त के अनुसार रीति को काव्य की आत्मा मानकर काव्यांगों का विवेचन किया गया हो। पर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इस रीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके सभी लक्षण-ग्रन्थों को रीतिशास्त्र या रीतिग्रन्थ की संज्ञा दे डाली। वे रीति को काव्य-रीति या काव्य लक्षण के अर्थ में स्वीकार करते हैं। ऐसा करने से रीतिशास्त्र या रीति-ग्रन्थों के अन्तर्गत सभी लक्षण-ग्रन्थों का समावेश हो जाता है, चाहे वे अलंकार ग्रन्थ हों, चाहे रीति, रस सम्बन्धी ग्रन्थ हों और चाहे वक्रोक्ति एवं ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद आदि का निरूपण करने वाले ग्रन्थ हों। इस प्रकार रीतिशास्त्र से तात्पर्य उन ग्रन्थों से है जिनमें अलंकार, रस रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि,

गुण दोष आदि काव्यांगों के लक्षण भेद आदि का निरूपण किया गया है। ऐसे ग्रन्थों की इस युग में प्रधानता रही है, (यद्यपि अन्य प्रकार के ग्रन्थों की रचना भी हुई है) इसी कारण इस युग को साहित्य के इतिहासकारों ने रीतिकाल के नाम से अभिहित किया है।

रीति ग्रन्थों की प्रचुरता के कारण :—

इस युग में रीति-ग्रन्थों के प्रचुर संख्या में निर्माण होने के अनेक कारण हैं। प्रथम और मुख्य कारण तो यह है कि संस्कृत में ऐसे ग्रन्थों की एक विशाल परम्परा विद्यमान थी। जिस समय हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ हुआ उस समय भी संस्कृत में लक्षण-ग्रन्थों की रचना हो रही थी। पंडित राज जगन्नाथ ने शाहजहां के समय में ही अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगंगाधर' की रचना की थी। फिर भक्ति काल तक जायसी सूर और तुलसी आदि जैसे भक्त कवियों के महान् प्रयत्न से हिन्दी-साहित्य अपनी पूर्णता को पहुँच गया था। अतः हिन्दी में अब लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण के लिए उपयुक्त अवसर आ गया था। इसी समय जबकि भक्ति काव्य की अगाध धारा प्रवाहित हो रही थी, कृपाराम की हिततरंगिणी' नन्दादास की 'रसमंजरी', सुन्दरदास का 'सुन्दर शृंगार' तथा केशवदास की 'रसिक प्रिया' और 'कविप्रिया' जैसे लक्षण-ग्रन्थों की रचना के लिए जहां संस्कृत की पूर्व परम्परा विद्यमान थी, वहां केशवदास जैसे आचार्य और कवि ने भी मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

दूसरा मुख्य कारण है कवियों को राज्याश्रय का प्राप्त होना। संस्कृत और फारसी कवियों की भाँति हिन्दी के कवियों को भी अकबर के समय से राज्याश्रय मिलना प्रारम्भ हो गया था। फिर राजपूताना, बुन्देलखंड और अन्य रियासतों में भी कवियों को राज्याश्रय मिलने लगा। तत्पश्चात् धीरे धीरे हिन्दू और मुसलमान दोनों ही दरबारों में हिन्दी कवियों की प्रतिष्ठा होने लगी। इस राज्याश्रय-प्राप्ति के फलस्वरूप भी रीति-ग्रन्थों का व्यापक प्रणयन हुआ।

तीसरा कारण है कवि और काव्य के स्वतंत्र रूप की प्रतिष्ठा। आदिकाल में तत्कालीन परिस्थितियों के कारण गंभीर साहित्य के निर्माण का अवसर न था। उस समय तो अपने युद्ध और संघर्ष रत आश्रयदाता राजाओं की वीरता का गुणगान करते रहने के कारण कवियों को अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने का अवकाश ही नहीं मिल पाता था। भक्तिकाल में भक्ति परक काव्य की ही प्रधानता रही। सांसारिक जीवन और व्यक्तियों का उस युग के काव्य में एक प्रकार से बहिष्कार सा कर दिया गया था, केवल परब्रह्म अथवा अवतारधारी भगवान का भक्तिपूर्ण गुणगान ही काव्य का एकमात्र लक्ष्य रह गया था। अतः ऐसी स्थिति में काव्य-प्रतिभा का सम्पूर्णतः उपयोग सम्भव न था। और न सभी कवि भक्ति-काव्य के सृजन में रुचि ही ले सकते थे। इस कारण यह स्वतंत्र मार्ग की आवश्यकता अभी

भी बनी थी। वैसे तो संस्कृत-साहित्य में यह मार्ग पहले से ही विद्यमान था, हां, उस पर चलने की आवश्यकता थी। केशवदास ने उस मार्ग का अवलम्बन किया और अपने परवर्ती कवियों के लिए उसका उद्घाटन कर दिया। यद्यपि केशव के पूर्व भी कृपाराम आदि कवियों ने इस मार्ग को अपना कर लक्षण-ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ कर दी थी, पर उनकी रचनाओं में शास्त्रीयता का अभाव होने के कारण पथ-प्रदर्शन का कार्य सम्भव नहीं हो सका। इस कार्य को केशवदास ने ही किया। अपनी रचनाओं में आचार्यत्व और कवित्व का प्रदर्शन करने के कारण ही वे लक्षण-ग्रन्थ रचना का मार्ग प्रशस्त करने में सफल हो सके। यह बात अवश्य है कि उनके परवर्ती आचार्यों ने केशव के आदर्श को नहीं अपनाया, बल्कि वे एक दूसरे आदर्श को ही लेकर चले—क्योंकि केशवदास ने दण्डी आदि अलंकारवादी आचार्यों को अपना आदर्श बनाया था, पर परवर्ती आचार्यों ने रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों का अनुसरण किया। तथापि लक्षण-ग्रन्थों की रचना की प्रेरणा उन्हें केशवदास से ही प्राप्त हुई थी। इसी कारण आज भी उनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

रीतिकाल में सम्मानपूर्ण राज्याश्रय मिल जाने से कवियों में स्वतंत्र इहलौकिक साहित्य के सृजन की आकांक्षा जागृत तो हुई और उससे एक सुन्दर और पूर्ण साहित्य की सृष्टि भी हो सकती थी—पर ऐसा हुआ नहीं। कवियों की स्वतंत्र प्रतिभा एक संकीर्ण क्षेत्र में सीमित होकर रह गई। इसका कारण है तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियां। इन परिस्थितियों से हमारे कवि अछूते न रह सके। उन्हें समय के अनुकूल साहित्य सृजन करने के लिए विवश होना पड़ा। अब हमें उन परिस्थितियों का यहां सिंहावलोकन कर लेना चाहिए जिनके कारण उस युग में सुन्दर साहित्य के लिए अवसर होते हुए भी रीति-ग्रन्थों का ही प्रचुर मात्रा में प्रणयन हुआ।

परिस्थिति :—

राजनैतिक :—

रीतिकाल का प्रारम्भ जब से होता है उस समय सम्राट शाहजहां भारत के सिंहासन पर आसीन था। उस समय देश में अखण्ड शान्ति का साम्राज्य था और देश की आर्थिक स्थिति भी बहुत अच्छी थी। ललितकलाएं अपने चरम वैभव पर थीं। परन्तु शाहजहां के रोगग्रस्त होते ही उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। वह युद्ध रीतिकाल की सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना है। इसका प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा। इस युद्ध में औरंगजेब विजयी होकर भारत का सम्राट बना। उसने उपद्रवी हिन्दुओं से प्रतिशोध लेना प्रारम्भ कर दिया। यह प्रतिशोध हिन्दू उपद्रवियों तक ही सीमित न होकर सम्पूर्ण हिन्दू जाति तक व्यापक हो गया। इस प्रतिशोध में उसने हिन्दू-मन्दिरों का विध्वंस कराया।

मथुरा में केशवदास के मन्दिर का और काशी में प्रसिद्ध विश्वनाथ के मन्दिर का विध्वंस इसी का परिणाम था। हिन्दुओं पर जजिया कर फिर से लगा दिया। इन सब बातों से औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी-नीति सामने आ गई। फलस्वरूप अनेक हिन्दूराजा उसके विरुद्ध हो गए। बुंदेलखण्ड में चम्पतराय विद्रोही हो गए और उनके बाद उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुगलों के विरोधी बने रहे। इधर दक्षिण में शिवा जी के नेतृत्व में मराठे भी औरंजेब के विरुद्ध शक्ति संगठित करने लगे। गुरु रामदास के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना जागृत होने लगी। भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा करते हुए जिस राष्ट्रीय भावना का वर्णन किया है, वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी यथार्थता और वास्तविकता से दूर नहीं है।

उधर पश्चिम की ओर राजपूताना में भी अशान्ति फैल रही थी। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त जब औरंगजेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिया तो मारवाड़ और मेवाड़ मुगलों के विरुद्ध हो गए। आत्म रक्षा के निमित्त हिन्दू-धर्म के विभिन्न समुदायों में चेतना जागृत होने लगी। सतनामी लोगों के अद्भुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक भी उनमें अद्भुत शक्तियों का सन्देह करने लगे थे। उत्तर की ओर पंजाब में सिख भी असन्तुष्ट हो उठे। गुरु तेग बहादुर की हत्या और गुरु गोगिन्दसिंह के बच्चों पर किए गए पाशविक अत्याचारों ने तो सम्पूर्ण सिक्ख जाति को अत्यधिक क्रुद्ध कर दिया। फलतः सिख लोग सिक्ख धर्म के झण्डे के नीचे सैनिक संगठन करने में तत्पर हो गए।

इस प्रकार औरंगजेब के समय में देश की राजनीतिक स्थिति डांवाडोल होने लगी। मुगल साम्राज्य के पतन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। औरंगजेब की नीति के फलस्वरूप उसकी मृत्यु के बाद साम्राज्य की सभी शक्तियां छिन्न भिन्न हो गईं। उसके उत्तराधिकारी उसके अहंवाद के कारण निर्जीव हो ही चुके थे। इसका फल यह हुआ कि औरंगजेब का कोई भी उत्तराधिकारी ऐसे विशाल साम्राज्य को संभालने में समर्थ न हो सका और मुगल साम्राज्य का पतन बड़े वेग से प्रारम्भ हो गया।

इस प्रकार औरंगजेब काल का भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन औरअव्य-वस्था का इतिहास है। इस राजनीतिक अवस्था के परिणाम स्वरूप हिन्दू मुसलमानों में पार्थक्य की एक तीव्र एवं कटु भावना उत्पन्न हो गई। इस कारण दोनों जाति के लोग निःशक्त हो गए। हिन्दू तो उनके ऊपर होने वाले अन्यायों, अत्याचारों से जर्जर हो ही रहे थे, मुसलमान भी भोग-विलास के अतिरेक के कारण शक्तिहीन हो गए थे। मुगलवंश की राजनीतिक प्रतिभा में घुन लग जाने से अन्तःपुरों में द्वेष और प्रणय की लीला प्रारम्भ हो गई थी और उचित शिक्षा एवं संस्कारों के अभाव में राज्य के उत्तराधिकारी भी विलासी, निर्वीर्य एवं व्यक्तित्वविहीन हो गए थे।

मुग़लवंश के राजत्वविधान में सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट् के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी। सम्राट् या बादशाह ही सर्वेसर्वा होता था। श्री जे० एस० हालैण्ड के 'दी एम्पायर आव दी ग्रेट मोगल' नामक ग्रन्थ में मुग़ल राजनीति का चित्रण इस दिशा में दृष्टव्य है।

"The emperor of India is an absolute monarch. There are no written laws, the will of the emperor is held to be law. Once a week (on Tuseday) he takes his seat on the tribunal and hears patiently all cases that are brought before him, both civil and criminal and pronounces a judgement on each, which is final. Capital punishment is generally inflicted before his eyes and with great cruelty.

Those found guilty are punished with severity, being either beheaded, hung, impaled or, thrown before elephants and other wild beasts, according to the nature of the crime."[1]

अर्थात् भारत का सम्राट् एकतंत्र या सर्वेसर्वा शासक होता था। कानून लिखित रूप में नहीं थे। बादशाह की इच्छा ही कानून होती थी। सप्ताह में एक रोज़ मंगलवार के दिन वह न्यायासन पर बैठकर उसके सामने उपस्थित दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के अभियोगों को शान्तिपूर्वक सुनता था और निर्णय देता था। उसका निर्णय अन्तिम होता था। फांसी का दण्ड आंखों के सामने बड़ी निर्दयता के साथ दिया जाता था।

अपराध के अनुसार अपराधी को कठोर दण्ड दिया जाता था। या तो उसका शिरच्छेद कर दिया जाता था अथवा फांसी पर लटका दिया जाता था, या हाथी और दूसरे जंगली पशुओं के आगे फैंक दिया जाता था।"

इस प्रकार यह एकतंत्र शासन शक्ति और दण्ड के बल पर चलता था। जिससे जनता सदैव आतंकित और भयाक्रान्त रहती थी। ऐसी अवस्वा में सुचारुरूप से जीवनयापन के लिए एक व्यक्ति-शासक-को प्रसन्न बनाए रखना आवश्यक था जिसके लिए उक्तिवैचित्र्य द्वारा आन्तरिक वासना और विलास प्रवृत्ति को उकसाने आदि के उपायों को काम में लाना स्वाभाविक ही था। जिस प्रकार अन्य क्षेत्र में भेंट आदि देकर शासक को प्रसन्न करने की प्रथा उस समय थी।[२] उसी प्रकार

1—The empire of the great Mogal. J, S. Hayland–Page 93

2—No one who has a request to make from the emperor can gain audience without a gift, which he accepts whatever is to be his decision on the case in question. He frequently even returns his gifts when he does not like them or in order to extort large and better ones" Empire of the Great Mogal, by J. S. Hayland. P. 94

साहित्यक क्षेत्र में भी आलंकारिक विशेषता उक्तिवैचित्र्य, नायिका-सौन्दर्य, शब्दचमत्कार, विलास-वैभव आदि के वर्णन द्वारा आश्रयदाताओं की कामुक वृत्ति और विलासता को शान्त करके उन्हें प्रसन्न करने की प्रथा चल पड़ी। अतः उस समय तुलसी के समान जीवन की विशद व्याख्या करने वाले साहित्य की आशा करना दुराशामात्र ही है। यही कारण है कि इस युग में चमत्कृत करने वाला साहित्य जितना अधिक मिलता है उतना जीवन की गम्भीर व्याख्या करने वाला नहीं।

इस राजनीतिक उथलपुथल के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिन्दी रीतिसाहित्य' नामक ग्रन्थ के पृ० ६ पर लिखा है :—

"राजनीतिक उथल पुथल और सत्ता एवं वैभव की क्षणभंगुरता ने जीवन के दो अतिरेकपूर्ण दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता की। एक ने जीवन के प्रति पूर्ण विरक्ति और त्याग का भाव जागृत किया, जबकि दूसरे ने पूर्ण भोग का दृष्टिकोण। जितना भी जीवन है उसका पूरा उपयोग किया जाय, क्योंकि न जाने कब नियति या सम्राट् का कोपभाजन होने से वैभव और जीवन समाप्त हो जाय। अतः ऐहिक काव्य का विलासपूर्ण चित्रण करने की प्रेरणा देने में राजनीतिक स्थिति का भी कम हाथ न था।

सामाजिक :—

मध्य युग में भारतीय समाज सामन्तवादी पद्धति पर स्थित था। समाट् इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र होता था। उसी के आधीन अनेक राजा, मनसबदार, सामन्त और उच्च अधिकारी होते थे जिन्हें समाज में विशेष सम्मान और अधिकार प्राप्त थे।[1] इनके बाद मध्य वर्ग में वे लोग थे जो साधारण कर्मचारी होते थे और राज्य के छोटे-छोटे पदों पर काम करते थे। इसी वर्ग के अन्तर्गत व्यापारी, साहूकार और दुकानदार भी रक्खे जा सकते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति तो अच्छी होती थी, पर वे शिक्षा और संस्कृति आदि की दृष्टि से हीन होते थे। इनके अतिरिक्त एक वर्ग और भी था जिसके अन्तर्गत सामान्य नौकरी पेशा के लोग तथा कृषक और श्रमिक आते हैं। यदि चाहें तो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से उस समय के समाज को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग में कृषक और श्रमजीवी लोग रखे जाते सकते हैं तथा भोक्ता वर्ग में सम्राट् के परिवार और दरबारियों से लेकर उनके नौकर चाकर और

1—"Society in Mughal times was organised on the feudal basis with the king at its apex. Next in rank to the kings were official nobles who enjoyed special privileges and honours......... Below the nobles was a small and frugal middle class and below it were lower classess."

Evolution of Indian culture. by B. N. Luniya. Page 438

दास आदि तक। दूसरा वर्ग राज्य की शक्ति था, जो दूसरे उत्पादक वर्ग पर अपना प्रभुत्व रखता था। इन दोनों वर्गों के लोगों में महान् अन्तर था। एक की सामाजिक और आर्थिक स्थिति श्रेष्ठ थी तो दूसरे की अत्यन्त शोचनीय। इन वर्गों में पारस्परिक वही सम्बन्ध था जो शासक और शासित में होता है। एक शोषक था तो दूसरा शोषित।

निम्न वर्ग के लोगों का जीवन कठोर एवं असन्तोषजनक था। उनके पास वस्त्रों का अभाव था। ऊनी वस्त्र और जूते तो उनकी सामर्थ्य के बाहर थे। श्रीयुत लूनिया ने अपने 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास' नामक इतिहास ग्रन्थ में पृष्ठ ३७६ पर फ्रान्सिस्को पलसीर्ट का उद्धरण देते हुए बताया है कि उस समय लोगों की तीन श्रेणियां थीं जिनका स्तर दासता से कुछ ही ऊँचा था। वे श्रमजीवी, चपरासी और दुकानदार थे। श्रमजीवियों का वेतन कम था, खाद्य-सामग्री और गृहों में दरिद्रता थी और केन्द्रीय सरकार की दमन-नीति के वे शिकार होते थे। वेतन कम होने से नौकरों की संख्या अत्यधिक थी उनमें ईमानदारी दुर्लभ थी। जे० एस० हालैण्ड के अनुसार भी उस समय जन साधारण की दशा अत्यन्त शोचनीय थी।[1]

मध्यवर्ग में प्रायः राज्यकर्मचारी और व्यापारी सम्मिलित थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ मोरलैण्ड (Moreland) के अनुसार इन लोगों का जीवन अपेक्षाकृत सुखी व सम्पन्न था। साधारणतया व्यापारी गण सादा, शान्त और संयमी जीवन व्यतीत करते थे। इसी वर्ग में बुद्धिजीवी लोग भी थे परन्तु उनकी संख्या देश की जनसंख्या के अनुपात में बहुत कम थी। उनमें से अधिकांश व्यक्ति राज्य के नौकर, दान-प्रार्थी अथवा आश्रित थे। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति सामन्त, राजा और बादशाह के दरबार में जाने का प्रयत्न करते थे। बहुधा वे उच्च वर्ग के अनुयायी होकर चलते थे और उनको प्रसन्न करके अपनी सुख-सुविधा बढ़ाने की कामना करते थे। इनकी आय प्रायः कम थी परन्तु उस आय के भीतर वे जहाँ तक सम्भव होता था दरबारी आदर्शों पर चलने की चेष्टा करते थे। इन वर्गों में भी शराब का चलन बहुत था, विशेषकर मुसलमानों, कायस्थों तथा खत्रियों में। ठाटबाट, साजश्रृंगार आदि की ओर भी उनका आकर्षण था।[2]

उच्च वर्ग के अमीर और सामन्त लोग धन द्रव्य और सुख सुविधाओं में डूबे रहते थे और धनाढ्य लोग अपने पास साधनों की प्रचुरता के कारण भोग-विलास, ऐश्वर्य और मद्यपान में संलग्न रहते थे। मुग़ल पदाधिकारी भी आमोद-प्रमोद में

1—"The condition of the common people in India is very miserable." Empire of the Great Mogal by J. S. Hayland.

२—उत्तर मध्यकालीन भारत-पृष्ठ ४६६ अवध बिहारी पाण्डेय डी० फिल

अपना जीवन व्यतीत करते थे। भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन मुग़ल राज दरबार और मुग़ल युग के सम्मान के लिए आवश्यक था। इस प्रकार उच्च वर्गों के वस्त्र भोजन, जीवन-निर्वाह एवं रहन सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी। इससे धनवानों और सामन्तों के जीवन-स्तर में अन्तर होना स्वाभाविक था।[1]

मुग़ल दरबार में तो विलासिता का बोलबाला ही था। विशाल अन्तःपुर इस युग की साधारण बात थी। सम्राट के रनवासों पर प्रतिवर्ष करोड़ों रुपया व्यय होता था। विधिवत् विवाहित रानियों की संख्या बहुत बड़ी नहीं होती थी, परन्तु रक्षिताओं को मिलाकर उनकी संख्या कई सौ तक हो जाती थी। उनके अतिरिक्त अन्तःपुर की अनेक दासियाँ होती थीं। अबुलफज़ल के अनुसार अकबर के दरबार में ५००० स्त्रियां थीं। सम्राट के अमीर भी उनका अनुकरण करते थे। राजा मानसिंह कछवाहा के विषय में कहा जाता है कि उसके १५०० पत्नियां और ४००० पुत्र थे। दूसरे अमीर भी इन आदर्शों तक पहुँचने का उद्योग करते थे। राज परिवार में भी अवैध सम्बन्ध हो जाते थे। इस प्रकार हरम या अन्तःपुर सम्राटों तथा राजाओं और अमीरों के विलास केन्द्र बने हुए थे।

इस समय राजकुमारों और सम्राटों को वैध तथा अवैध ढंग से अनेक नारियों द्वारा अपनी भोगवासना चरितार्थ करने की सुविधा थी। रनवास का वातावरण असंयम और भोगवासना तथा व्यभिचार से पूर्ण था। नारी आदर की नहीं, विलास की सामग्री थी। अस्तु-स्त्री का सामाजिक सम्मान घुट गया, वह माता और गृह लक्ष्मी न होकर क्रीत वेश्या बन गई थी। इस प्रकार विलासिता राज-दर्बार का एक सबसे बड़ा दोष था। इसका प्रभाव औरंगजेब के बाद से पूर्ण रूप में प्रकट होने लगा था।[2]

बेग़मों और रानियों को गृहस्थी का कोई कार्य करना नहीं पड़ता था, क्योंकि उनके लिए अनेक नौकर चाकर और दास-दासियाँ रहती थीं। अतः उनका काम था अपने को आभूषणों आदि से अलंकृत करके पति को रिझाना और उसके प्रसन्न होने पर भोग-विलास की सामग्री में वृद्धि करते रहना। संत और भक्त

1—"The nobles rolled in wealth and comforts and the rich, with abundant resources at their disposal, indulged in luxury and intemperance. This naturally produced vast difference between the standard of the rich and the nobles and that of the common people. The most noticeable factor in life of the Indian courts and of the nobility at this time was the unparalleled sense of luxury."

Evolution of Indian Culture by B. N. Luniya Page 438–39.

२—उत्तर मध्यकालीन भारत-अवधबिहारी पाण्डेय डी० फिल० पृ०४६६-६७

कवियों ने जिस नारी को दुःख की खानि बताया, वह यही भोग-विलास और कामुकता में डूबी हुई नारी थी, जो अपने हाव-भाव, कटाक्ष, अलंकरण आदि से नायक को और अपने रूप, गुण शील एवं प्रेम से अपने पति को रिझाने में ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती थी। उस समय सारा समाज नारी के इस रूप और विलास का उपासक था। इस सब वातावरण का प्रभाव हमारे तत्कालीन हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ा। उसके कटाक्ष, हावभाव, अंग-प्रत्यंगों के सौन्दर्य आदि का वर्णन प्रचुरता के साथ इसी कारण हमारे नायिका-भेद में भरा पड़ा है।

शाही दरबारों, सामन्तों, राजाओं और अमीरों की इस विलास-प्रियता के कारण उनकी नैतिकता और उनका आन्तरिक बल तथा सहनशक्ति नष्ट हो गई। स्त्री और मदिरा के अनवरत साहचर्य ने उनकी नैतिकता को समूल नष्ट करने में योग दिया। जनता का भी नैतिक स्तर ऊंचा नहीं था। और निम्न श्रेणी के कर्मचारी निर्लज्ज होकर घूस लेने में हिचकिचाते नहीं थे। इस सामाजिक अधःपतन का प्रभाव मन्दिरों और मस्जिदों पर भी पड़ा। पवित्र धार्मिक स्थान भी धीरे धीरे अनैतिकता और व्यभिचार के अड्डे बन गए। सच्चे धर्म का विश्वास अन्ध-विश्वासों ने ले लिया। यंत्र, मंत्र, तंत्र, जादू-टोने, ताबीज़ और चमत्कारिक औषधियों का प्रयोग होने लगा था। साधुओं और फकीरों की पूजा दिन प्रतिदिन बलवती हो रही थी। इस प्रकार उत्तरमध्यकाल में सामाजिक प्रथाओं, राजनीति, धर्म तथा कला में असृजनात्मक प्रवृत्ति और पतित परम्पराओं का वातावरण बना हुआ था[1]

मुगलकालीन विलास-प्रियता का प्रभाव हमारे कवियों और कलाकारों पर भी बहुत अधिक पड़ा क्योंकि ये लोग बादशाहों, सामन्तों, राजाओं, अमीरों और छोटे-छोटे रईसों के आश्रय में रहते थे। उनकी कामुकता और विलासप्रियता को संतुष्ट करने के लिए उन्हें उसी प्रकार के साहित्य की रचना करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। इसी कारण रीतिकाल के अधिकांश साहित्य में सौन्दर्य और विलासितापूर्ण चित्रण की अधिकता पाई जाती है।

परन्तु अभी जनसाधारण का एक पक्ष ऐसा भी था, जिसका चरित्र नैतिकता की दृष्टि से विलासी दरबारियों की अपेक्षा अधिक अच्छा था। क्योंकि इन लोगों पर भक्तियुग का प्रभाव था। धार्मिक आन्दोलनों तथा भक्त एवं सन्त कवियों की कविताओं ने उनके नैतिक स्तर को उच्च बना दिया था। तुलसी के रामचरित-मानस ने तथा अन्य आचार्यों के उपदेशों ने लोगों को पवित्र और धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी थी। इससे ज्ञात होता है कि जन-साधारण में धार्मिक और नैतिक चेतना जागृत करने वाली साहित्यिक धारा प्रवाहित हो रही थी।

१—भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास—बी०एन० लूनिया पृ० ३७६

निर्गुणधारा के विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों के कवियों—कबीर, दादू आदि ने निर्धन और निराश जनता में भक्ति, संयम और तप आदि की अवस्था जाग्रत कर दी थी। सगुणोपासक भक्ति-काव्य का विशेषतः रामभक्तिकाव्य का प्रभाव भी ऐसा ही था। कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत समकालीन विलासिता का प्रभाव घुस गया था और रीति-साहित्य के भीतर भी कृष्ण-राधा और गोपियों के प्रेमचित्रण की ओट में ऐहिक और विलासपूर्ण जीवन की झांकी प्रस्तुत होने लगी। राधा और कृष्ण आत्मा-परमात्मा के प्रतीक न होकर नायिका और नायक के प्रतीक बनने लगे।

इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के प्रभाव से रीतिकाल का साहित्य अछूता न रह सका। इन परिस्थितियों का विश्लेषण करने के उपरान्त डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिन्दी-रीति-साहित्य' नामक ग्रन्थ में लिखा है :—

"भारत में मध्ययुगीन मुगल शासन के परिणामस्वरूप हमें कई बातें जीवन में परिव्याप्त दिखाई पड़ती हैं। प्रथम तो एक केन्द्रीय सुदृढ़शासक होने से देश के भीतर तुलनात्मक दृष्टि से शान्ति का वायु-मण्डल बन गया। द्वितीय इस शान्ति के अवसर पर जीवन में कला और संस्कृति को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। तीसरी बात यह है कि इसी शान्ति और समृद्धि के परिणामस्वरूप कला-प्रेम और विलासिता की भावना भी प्रखरता से जागृत हुई।

इसके अतिरिक्त चौथी बात यह हुई कि भाषा—साहित्य को राजाओं और सामन्तों का संरक्षण और आश्रय मिला। इन सभी बातों का रीतिकालीन हिन्दी-काव्य पर प्रभाव परिलक्षित होता है।"

रीतिकाल में साहित्य की रचना करने वाले प्रायः वे कवि थे जिन्हें साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परम्परा के रूप में प्राप्त थी। काव्य का परिशीलन और सृजन इनका स्थायी कर्म था। वे निम्नवर्ग के सामाजिक होते हुए भी अपनी काव्यकला द्वारा राजाओं और अमीरों का आश्रय प्राप्त कर लेते थे। उनकी प्रतिष्ठा उनकी काव्यकला पर ही निर्भर होती थी। अतः कविता उनके लिए एक ललितकला थी। क्योंकि तत्कालीन कविता न तो राजाओं और सैनिकों आदि को उत्साहित करने का साधन थी और न धार्मिक प्रचार और राजनीतिक सुधार का माध्यम ही थी। अतः उस समय काव्य-कला शुद्ध कला के रूप में ही ग्रहण की जाती रही। फलतः उस युग में रीति-निरूपण करने वाले साहित्य की प्रचुरता रही।

यह रीति-साहित्य हमें कई रूपों में मिलता है। कुछ साहित्य तो ऐसा है जिसमें काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है, कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें शृंगार के विभिन्न-अंगों-विशेषकर नायिका भेद-का निरूपण किया गया है, तथा कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें चन्द्रालोक की शैली अपनाकर केवल अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। ऐसे ग्रन्थों को ही यहां अलंकार-ग्रन्थ कहा गया है।

विस्तार और व्यापकता की दृष्टि से शृंगार अथवा नायिका भेद सम्बन्धी ग्रन्थों के पश्चात् इन अलंकार-ग्रन्थों का ही नम्बर आता है। नायिकाभेद के पश्चात् अलंकार पर ही सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन ग्रन्थों की एक परम्परा सी ही उस युग में बन गई थी। आगे चलकर हम इन्हीं अलंकार-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों की परम्परा

जिस प्रकार किसी भाषा के सर्वगुण सम्पन्न हो जाने पर ही उसके व्याकरण आदि का निर्माण होता है उसी प्रकार किसी साहित्य की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो जाने पर, अथवा उसके समृद्ध हो जाने पर ही उसमें अलंकार-शास्त्र आदि लक्षण ग्रन्थों का सृजन सम्भव होता है। अतः हिन्दी-भाषा का साहित्य अपने आदिकाल में तो इतना समृद्ध नहीं हो सका था—क्योंकि वह हिन्दी भाषा का एक प्रकार से शैशव काल ही था और दुर्भाग्य से उस अवस्था में भी उसे अनेक विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा तथा बलपूर्वक रणक्षेत्र में वीरता के गीत गाने के लिए उसे विवश होना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि उस अशान्त वातावरण में उसकी साहित्य-समृद्धि की कोई विशेष सम्भावना ही नहीं हो सकती थी, लक्षण-ग्रन्थों के सृजन की बात तो दूर रही।

शैशवकाल की समाप्ति पर जब देशी विदेशी राजा और बादशाह परस्पर युद्ध करते करते ऊब गए और देश में विदेशी साम्राज्य की स्थापना हो गई तो उसे चैन की सांस लेने के साथ साथ अपनी उन्नति करने का अवसर भी प्राप्त हुआ। ऐसे ही समय में हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य ने अपनी युवावस्था में पदार्पण किया। इस समय उसे कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे सन्तों एवं महात्माओं का सम्पर्क मिला और उनके सम्पर्क में आने पर हिन्दी-भाषा का रूप परिमार्जित एवं सुसंस्कृत होकर विकसित हुआ ही, साथ ही उसका साहित्य भी नीति और धर्म के उपदेशों को तथा आख्यानों की कथाओं को सुन सुन कर सम्पन्न एवं समृद्ध होने लगा। अब उसमें इतनी क्षमता आ गई थी कि वह अपनी संस्कृत-भाषा के सम्पन्न साहित्य से कुछ ग्रहण कर सके। उस समय तक संस्कृत के विद्वान आचार्य काव्य-क्षेत्र में कार्य करते हुए काव्य-शास्त्र का परिस्फुटन भी पूर्णतया कर चुके थे।

अतः हिन्दी-भाषा-साहित्य के समृद्ध हो जाने और भाषा में अन्य साहित्य से ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न हो जाने पर हिन्दी-कवियों का ध्यान लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण की ओर गया। उनके समक्ष संस्कृत-भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थों का पूर्ण

भंडार था ही अतः हमारे हिन्दी कवि इन ग्रन्थों का आधार लेकर लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण में जुट गए।

कहा जाता है कि वि०सं० ७८० के आसपास पुष्य नामक कवि ने दोहों में एक अलंकार ग्रन्थ की रचना की थी—पर दुर्भाग्य से न तो वह ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न कहीं उसका प्रमाण ही मिलता है।[1] यदि यह ग्रन्थ मिल जाय तो आज हिन्दी साहित्य के इतिहास का दूसरा ही रूप बन जायगा। अतः जो कुछ भी आज उपलब्ध है उसी को लेकर हमें अपनी गाड़ी चलाना है।

भक्तिकाल में हिन्दी-काव्य के प्रौढ़ता पर पहुँचने के साथ ही उस युग के अन्तिम चरण में ही लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। सं० १५९५ में कृपाराम अपनी 'हिततरंगिणी' में थोड़ा बहुत रस निरूपण कर चुके थे। उसी समय के आस-पास चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार सागर' नामक ग्रन्थ रस पर लिखा तथा करनेस कवि ने 'करणाभरण' 'श्रुति-भूषण' तथा भूप-भूषण' नामक तीन अलंकार-ग्रन्थ लिखे। परन्तु इन ग्रन्थों की रचना शास्त्रीय पद्धति पर नहीं हुई थी। इस प्रकार की सर्वप्रथम रचना करने का श्रेय केशवदास को ही है। काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशवदास ने ही किया। पर रीति-ग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की कवि-प्रिया के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।[2]

हिन्दी रीतिग्रन्थों की यह अखण्ड परम्परा आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी (१७०० वि० सं०) से ही चली अतः हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से माना जाता है। इनके पश्चात् रीतिग्रन्थ लिखने का एक तांता सा ही बंध गया। और वि० सं० १९०० तक स्थिरता के साथ चलता रहा।

इन २०० वर्षों के बीच अनेक रीति-ग्रन्थों या लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण हिन्दी में हुआ। इनमें काव्य के विविध अंगों की शास्त्रीय चर्चा विस्तार के साथ की गई, इनमें कुछ तो ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य के केवल एक ही अंग—रस अथवा अलंकार का विवेचन हुआ और कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें सभी अंगों का निरूपण हुआ है। जिन ग्रन्थों में अलंकारों का वर्णन किया गया है, उन्हें हम यहाँ अलंकार-ग्रन्थ के नाम से अभिहित करेंगे और उन्हीं का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन भी।

भाषा—भूषण :—

भक्तिकाल के अन्तिम चरण में लिखी गई केशव की 'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' के पश्चात् हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों में सर्वप्रथम ग्रन्थ हमें 'भाषा भूषण'

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल — पृष्ठ ३
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल —पृष्ठ २३२

ही मिलता है। इसका रचनाकाल डा० भगीरथ मिश्र ने वि० सं० १६९५ के आस पास बताया है।[1] शुक्ल जी ने अपने इतिहास में इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला और न प्रस्तुत ग्रन्थ में ही इसका कोई उल्लेख है। इसके पांच प्रकाशों में कुल २१२ दोहे हैं। प्रथम, द्वितीय और तृतीय प्रकाश में नायक नायिका भेद, मान, सात्विक भाव, हाव, तथा संचारी भावों का वर्णन है। चौथे प्रकाश में भेदों सहित १०८ अलंकारों का विवेचन है और अन्तिम पाँचवें प्रकाश में शब्दालंकारों का बहुत ही संक्षिप्त विवरण है। सम्पूर्ण ग्रन्थों की शैली चन्द्रालोक जैसी है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अधिकांश लक्षणों और उदाहरणों में कुवलयानन्द की छाया है। इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई हैं जिनमें बंशीधर की टीका, 'अलंकार रत्नाकर', प्रतापसिंह की टीका तथा गुलाब कवि की टीका 'अलंकार चन्द्रिका' अधिक प्रसिद्ध हैं।

फतेह प्रकाश :—

जसवन्तसिंह के बाद छेमराज का 'फतेहप्रकाश' नामक ग्रन्थ मिलता है। इसमें अलंकार व नायिका भेद का विवेचन है, पर शास्त्रीय दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई महत्व नहीं है।

कविकुलकल्प तरु :—

हिन्दी के सर्वप्रथम आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी ने इसकी रँचना वि० सं० १७०७ के आसपास की थी।[2] इसमें गुण, अलंकार, दोष और शब्दशक्ति आदि प्रायः सभी काव्यांगों का विवेचन है। इसकी रचना संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् की गई थी :—

जो सुरवानी ग्रन्थ हैं, तिनको समुक् विचार।
चिंतामनि कवि कहत हैं, भाषा कवित्त विचार॥

काव्य का स्वरूप और गुणों का विवेचन करने के बाद दूसरे अध्याय में शब्दालंकार का निरूपण किया गया है। यहाँ अलंकारों की परिभाषाएं और उदाहरण दोनों स्पष्ट और सुन्दर हैं। इसी अध्याय में वृत्ति और रीति का वर्णन भी हुआ है। तीसरे अध्याय में अर्थालंकारों का वर्णन है। इसमें भी उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इसके पश्चात् के अध्यायों में दोष, नायिकाभेद, हाव-भाव तथा रस का विवेचन है। इस प्रकार 'कविकुलकल्पतरु' में काव्य के सभी अंगों की चर्चा की गई है। इसका मुख्य आधार ग्रन्थ मम्मट का काव्य प्रकाश है, यद्यपि साहित्यदर्पण और दशरूपक आदि संस्कृत-ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली गई है।

अलंकार पंचाशिका :—इसकी रचना रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि तथा चिन्तामणि और भूषण के भाई मतिराम ने वि० सं० १७४७ में कुमायूँ के राजा उदीतचंद्र

१—हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृ० ४१।

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल पृ० २४२

क पुत्र ज्ञानचन्द्र के लिए की थी।[1] इसमें चुने हुए पचास अलंकारों का वर्णन है। इसका आधार चन्द्रालोक है। लक्षण दोहे में और उदाहरण कवित्तों में हैं जो स्पष्ट और सुन्दर हैं। अलंकारों पर इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ललित ललाम' है।

ललित ललाम :—की रचना बूंदी नरेश भावसिंह की प्रशंसा करने तथा उन्हें रिझाने के लिए सं० १७१६ और १७४५ के बीच की गई थी। यहाँ भी लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तों, सवैयों में हैं। इसमें उनके रस पर लिखे गए ग्रन्थ 'रसराज' के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसमें 'चित्र' के अतिरिक्त लगभग १०० अलंकारों का उनके भेदों सहित निरूपण किया गया है। अधिकांश लक्षण ठीक होने पर भी चलताऊ है। उदाहरण शृंगार रस के अतिरिक्त आश्रयदाता की प्रशंसा से भी सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन है, शब्दालंकारों का नहीं। 'ललित ललाम' में भी मतिराम का कविरूप जितना प्रस्फुटित हुआ है, उतना आचार्य रूप नहीं।

शिवराज भूषण :—की रचना वीर रस के प्रसिद्ध कवि और मतिराम के भाई भूषण ने शिवाजी की प्रशंसा में वि० स० १७३० में की थी। यह अलंकारों पर लिखा गया ग्रन्थ है। यहाँ अलंकारों के लक्षण देकर उनके उदाहरण शिवाजी की वीरता और यश पर कवित्त-सवैयों में लिखे गए हैं। भूषण के अलंकारों का क्रम और लक्षण प्रायः 'ललितललाम' से ही प्रभावित हैं। मालोपमा, उल्लेख, छेकापन्हुति, दीपक आदि के लक्षणों की शब्दावली और भाव आदि 'ललित ललाम' से ही ग्रहण किए गए हैं। कहीं कहीं तो उनमें केवल कवि नाम का ही भेद है। शिवराज भूषण में १०० अर्थालंकारों का विवेचन है, साथ ही बाद में शब्दालंकार भी दे दिए गए हैं। लक्षण अधिकतर शिथिल और अस्पष्ट हैं। इस ग्रन्थ की विशेषता और मौलिकता वीर रस के उदाहरणों में निहित है।

रस-रहस्य :—की रचना वि० सं० १७२७ में कुलपति मिश्र द्वारा हुई थी। यह वास्तव में काव्य-शास्त्र का एक ग्रन्थ है। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण, अलंकार और रस आदि विविध काव्यांगों का निरुपण हुआ है। इस ग्रन्थ में अलंकारों का विवेचन सातवें और आठवें वृतान्तों में हुआ है। लक्षण प्रायः दोहों में और उदाहरण कवित्त-सवैयों में दिए गए है। अन्य

१—ज्ञानचन्द्र के गुन घने, गने भने गुनवन्त।
वारिधि के मुक्तान को, कौने पायो अन्त॥
तदपि यथामति सों करयो शब्द अर्थ अभिराम।
अलंकार पंचाशिका, रचीं रुचिर मतिराम॥ अलंकार पंचाशिका॥

काव्यांगों की भाँति अलंकारों का वर्णन भी पूर्णता के साथ किया गया है। इसका आधार मम्मट का काव्य प्रकाश है :—

जिते साज हैं कविन के मम्मट कहे बखान।
ते सब भाषा में कहे, रस रहस्य में जान।। ८-३१ र० र०।

लेखक ने इस ग्रन्थ में काव्य प्रकाश के विषयों को पूर्णरूप से ग्रहण करके उन्हें स्पष्ट करने का स्तुत्य प्रयास किया है। काव्यांगों के विवेचन में कवि की कुशलता और स्पष्टता वास्तव में अधिक श्लाघ्य है।

भूषण विलास तथा उपमालंकार :—की रचना क्रमशः गोपालराय और बलवीर ने वि० सं० १७३६ तथा १७४१ के आस-पास की थी। इन ग्रन्थों में कोई महत्वपूर्ण विशेषता न होने के कारण उन्हें कोई ख्याति नहीं मिल सकी। इनमें केवल रीतिकालीन परम्परा का निर्वाहमात्र है। यद्यपि इनमें काव्यात्मक गुण विद्यमान हैं, तथापि काव्यशास्त्र की दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं है।

भाव विलास : यह रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि इटावा निवासी देव या देवदत्त की १६ वर्ष की आयु में लिखी गई रचना है। इसका निर्माणकाल वि० सं० १७४६ है। इसमें कुल पांच विलास हैं। प्रथम चार विलासों में स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव, रस, हाव, नायक, नायिका, सखी और दूती का वर्णन है। अन्त में पांचवें विसास में ३९ मुख्य अलंकारों का निरूपण है। ये सभी अर्थालंकार हैं—शब्दालंकारों की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। 'भाव विलास' के लेखक के अनुसार यही ३९ अलंकार मुख्य हैं, अन्य सभी अलंकार इन्हीं के भेद हैं। वर्णित अलंकारों में रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रेम और आशीष अलंकार भी सम्मिलित हैं। लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त एवं सवैया छन्दों में हैं। अलंकार-भेदों की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। अलंकारों का विस्तृत वर्णन देव कवि ने अपने दूसरे ग्रन्थ 'शब्द रसायन' में किया है।

शब्दरसायन :-- (काव्यरसायन)—की रचना कहा जाता है, 'भावविलास' की रचना के लगभग १६ वर्षों बाद की गई थी। इसी कारण यह ग्रन्थ 'भावविलास' की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। इसमें कुल ग्यारह प्रकाश हैं। प्रथम सात प्रकाशों में शब्दार्थ, तात्पर्यवृत्ति, शब्दशक्ति, शृंगाररस, अन्य रस, गुण, दोष और रीति का विवेचन है, आठवें और नवें प्रकाश में क्रमशः शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का और अन्तिम दो प्रकाशों में छन्दों का निरूपण है।

शब्दालंकारों में अनुप्रास, १२ भेद सहित यमक, सिंहावलोकन और चित्र का वर्णन है। अर्थालंकारों के मुख्य और गौण नाम से दो भेद किए गए हैं। मुख्य में ४० और गौण में ३० अलंकार बताए गए हैं। उपमा और स्वभावोक्ति को सब अलंकारों में मुख्य कहा गया है। यहां एक ओर तो स्मृति, निश्चय, सन्देह, असम्भव, उल्लेख, आक्षेप और स्वभावोक्ति को स्वतंत्र अलंकार माना गया है। और दूसरी ओर

स्मरणोपमा, निश्चयोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, असम्भवोपमा, उल्लेखोपमा, आक्षेपोपमा, और स्वभावोपमा के नाम से उपमा के भेद मानकर उनको निरूपित किया गया है। 'अनन्वय' को स्वतंत्र न मानकर 'उपमा' का ही एक भेद बताया गया है।

इनका संशय, सन्देह से भिन्न है। केवल उपमा देने में जब अनिश्चय होता है वहां देव संशयालंकार मानते हैं परन्तु सन्देहालंकार अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित सन्देह के ही समान है। 'शब्दरसायन में अलंकार के भेदों की भी कुछ चर्चा की गई है, पर भेदों के प्रायः लक्षण नहीं दिए गए, उदाहरणों द्वारा ही उनकी ओर इंगित कर दिया गया है।

अलंकारमालाः—की रचना वि० सं० १७६६ में आगरा निवासी सूरति मिश्र ने की थी। यह अलंकार सम्बन्धी 'भाषा-भूषण' के ढंग पर लिखा गया ग्रन्थ है। इसका आधार चन्द्रालोक है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु ये लक्षण 'भाषा-मूषण' के समान सुगठित नहीं हैं और उदाहरणों को भी वह गौरव प्राप्त नहीं हो सका।

काव्यसिद्धान्त :– यह सूरति मिश्र की दूसरी रचना है। इसमें काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी विषयों का विवेचन है। यहाँ अलंकारों के लक्षण 'अलंकारमाला, की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण हैं। उदाहरण देकर ग्रन्थ भरने का प्रयास यहाँ नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि मिश्र जी इस ग्रन्थ की रचना कवि रूप में नहीं वरन् आचार्य के रूप में करना चाहते थे। ग्रन्थ के अन्त में मात्रिक और वार्णिक छन्दों का विवेचन किया गया है।

रामचन्द्रभूषण और रामचन्द्राभरणः—इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता हैं गोप कवि। यह ओरछानरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में रहते थे। मिश्रबन्धुओं ने इनका रचनाकाल वि० सं० १७७३ दिया है।[1] डा० भगीरथ मिश्र के कथनानुसार ये दोनों ग्रन्थ टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय में मौजूद हैं।[2]

रामचन्द्र भूषण में पहले अर्थालंकारों का और बाद में शब्दालंकारों का वर्णन है। लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में हैं। उदाहरण प्रायः रामचरित्र से सम्बन्ध रखते हैं। लक्षण संक्षिप्त और उदाहरण स्पष्ट हैं। अलंकार का लक्षण यहाँ इस प्रकार दिया गया है :—

शब्द अर्थ रचना रुचिर, अलंकार सो जान।
भाव भेद गुन रूप तें, प्रकट होत है आन॥

स्वभावोक्ति के जाति, क्रिया गुण और द्रव्य के आधार पर चार भेद बताए गए हैं। यह वर्णन केशव के सामान्य अलंकार जैसा है।

१— मिश्रबन्धु विनोद भाग २ पृष्ठ ६१३

२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास–डा० भगीरथ मिश्र पृष्ठ ११५

रामचन्द्राभरण, रामचन्द्र भूषण के समान ही अलंकारों का ग्रन्थ है। दोनों के वर्णनक्रम, लक्षण और उदाहरण में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना है कि यहां उदाहरण कवित्त, सवैया और छप्पय छन्दों में दिए गए हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने अपनी वंशावली भी दे दी है। इन दोनों ग्रन्थों के वर्णन में पुरानी परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है। उनमें कोई नवीनता या मौलिकता नहीं है।

रसिक रसाल :—

कविवर कुमारमणि शास्त्री ने वि० सं० १७७६ में रसिक-रसाल की रचना की थी। २६६ पृष्ठों का यह मुद्रित ग्रन्थ दस उल्लासों में पूर्ण हुआ है। इसमें काव्यस्वरूप, ध्वनि, व्यंग, रस, गुण, दोष तथा अलंकार आदि विविध काव्यांगों की विवेचना की गई है। इसका आधार-ग्रन्थ है मम्मट का काव्यप्रकाश। अलंकारों का वर्णन इस ग्रन्थ के सातवें और आटवें उल्लासों में हुआ है। अलंकार-निरूपण में कुवलयानन्द की शैली को अपनाया गया है। स्थल स्थल पर विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए गद्य वार्तिक भी लिख दिया गया है। पहले लक्षण और फिर उदाहरण दोहा तथा कवित्त-सवैया छन्दों में दिए गए हैं। उदाहरण शृंगार के अतिरिक्त वीर आदि रसों से भी सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः संस्कृत-ग्रन्थों पर आधारित होते हुए भी इस ग्रन्थ की गणना रस रहस्य, रसपीयूषनिधि आदि श्रेष्ठ ग्रन्थों में करने योग्य है।

काव्य-सरोज :—का प्रणयन वि० सं० १७७७ में कालपी निवासी श्रीपति द्वारा हुआ था। यह काव्य शास्त्र का प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें शब्द, अर्थ, दोष, गुण, रस आदि विविध अंगों के साथ अलंकारों का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। दसवें, ग्यारहवें और बारहवें दलों में क्रमशः शब्दालंकारों, अर्थालंकारों और उभयालंकारों का निरूपण हुआ है। शब्दालंकारों के अन्तर्गत तत्पर और अतत्पर-त्रिधान चित्र नामक नवीन अलंकारों की भी गणना की गई है। पर इनके लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। अर्थालंकारों के प्रसंग में वे लिखते हैं कि 'कविकल्पद्रुम' में मैंने ४० प्रकार की उपमा का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त अन्य उपमाओं का वर्णन 'काव्य सरोज' में हुआ हैं। यद्यपि वर्गीकरण और निरूपण में आचार्यत्व का गुण अवश्य है, पर वर्णन में स्पष्टता नहीं है। इसका मुख्य आधार-ग्रन्थ मम्मट का काव्यप्रकाश है।

इस ग्रन्थ की विषय-विवेचन-प्रणाली बड़ी सुलझी हुई है। प्रत्येक विषय पर विस्तार के साथ लिखा गया है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता इस बात में भी है कि यहाँ अन्य कवियों की कविताओं के दोष दिखाए गए हैं जिससे श्रीपति के विस्तृत अध्ययन और उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिल जाता है। इस ग्रन्थ का महत्व

इसी बात से जाना जा सकता है कि आचार्य भिखारीदास ने अपने 'काव्य-निर्णय' में अनेक बातें 'काव्यसरोज' से ही ग्रहण की हैं।[1]

अलंकार चन्द्रोदय :— की रचना आगरा निवासी रसिक सुमति ने वि० सं० १७८६ में की थी। इसमें कुल १८७ छन्द हैं। सुमति जी शब्द और अर्थ की अनेक विचित्रताओं को अलंकार कहते हैं। ग्रन्थ में सबसे पहले उपमालंकार का वर्णन है। उनके अनुसार उपमेय और उपमान के सम्बन्ध से अनेक अलंकार बनते हैं। इनमें लगभग १०० अर्थालंकारों का निरूपण हुआ है। इसका आधार कुवलयानन्द है। कवि ने स्वयं प्रारम्भ में और ग्रन्थ के अन्त में इस बात को स्वीकार किया है।

रसिक कुवलयानन्द लखि, असि मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाय ॥

भूषणदाम :—की रचना वि० सं० १७८७ में दिलीपनगर निवासी कायस्थ-कुलोत्पन्न मलूकचन्द के आत्मज खण्डन कवि द्वारा हुई थी। ग्रन्थ में कुल ४१६ छन्द हैं। इसमें सर्वप्रथम शब्दालंकारों में वक्रोक्ति को प्रधानता दी गई है, अतः सर्वप्रथम उसका वर्णन किया गया है। चित्रालंकार का विवेचन भी यहाँ विस्तार के साथ किया गया है। पुनरुक्तवदाभास को उभयालंकार के रूप में वर्णित किया गया है। अलंकारों की संख्या, नाम, भेद, क्रम और लक्षण सभी कुवलयानन्द के आधार पर हैं। लक्षण दोहा छन्दों में हैं, उदाहरण कवि के अपने हैं जो लक्षणों से संगति रखते हैं। लक्षण सरल और स्पष्ट हैं। कहीं कहीं तो ये लक्षण संस्कृत-लक्षणों से भी अधिक स्पष्ट और सरल हैं। इतना होने पर भी लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी का पालन करने के उद्देश्य से ही इस ग्रन्थ की रचना की गई थी, यह निश्चित तथ्य है।

इसी समय के आस पास भूपति द्वारा 'कण्ठाभूषण' (वि० सं० १७९१ के लगभग) तथा वंशीधर और दलपतिराय द्वारा 'अलंकार रतनाकर' (वि० सं० १७९२) नामक अलंकार ग्रन्थ लिखे गए। इनका आधार कुवलयानन्द या भाषा-भूषण हैं। ये सभी साधारण कोटि के ग्रन्थ हैं।

रस-पीयूष-निधि :—की रचना सोमनाथ ने वि० सं० १७९४ में भरतपुर के राजा बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के लिए की थी। इसमें पिंगल, काव्य-स्वरूप, काव्य-प्रयोजन, भेद, शब्द शक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण दोष आदि सभी विषयों का विस्तृत विवेचन है। यह ग्रन्थ दास जी के 'काव्य-निर्णय' से बड़ा है। काव्यांग-निरूपण में सोमनाथ जी श्रीपति तथा दास के ही समान हैं।

इस ग्रन्थ में कुल २२ तरंगें हैं। अन्तिम बाइसवीं तरंग में शब्दालंकार, चित्रालंकार और अर्थालंकार का विशद विवेचन है। लक्षण दोहा छन्द में और उदाहरण

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २७२

अन्य छन्दों में हैं। अलंकार-वर्णन की विशेषता इस बात में है कि यहाँ अन्य संस्कृत आचार्यों के मत भी दे दिए गए हैं। वस्तुत: यह वर्णन सामान्य रीति पर ही है।

रसिक-मोहन :—बन्दीजन रघुनाथ ने काशीनरेश महाराज बरवंडसिंह के आश्रय में रह कर वि०सं० १७९६ में इस ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ कुल ४८५ पदों में समाप्त हुआ है। यह अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त सवैयों में हैं। इसमें केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन है। ग्रन्थ के आरम्भ में वर्णित अलंकारों की सूची भी दे दी गई है। यहाँ कुल १०१ अलंकारों का उनके भेदों सहित वर्णन हुआ है। इनमें 'पूर्वरूप' और 'तद्गुण' अलंकारों को स्थान नहीं मिला। 'अपन्हव' और 'श्लेषाभास' नामक दो नए अलंकारों की विवेचना भी की गई है। 'व्याजोक्ति' अलंकार का दो स्थानों पर वर्णन हुआ है, पर पहला 'व्याजोक्ति' वास्तव में 'व्याजस्तुति' ही है। अलंकारों के नाम, भेद और क्रम आदि कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। लक्षण और उदाहरणों का सम्बन्ध केवल शृँगार रस से न होकर वीर आदि अन्य रसों एवं आश्रयदाता की प्रशंसा से भी है। उदाहरणों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनके प्राय: सभी चरण प्रस्तुत अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं।

कर्णाभरण :—गोविन्द कविकृत वि० सं० १७९७ की रचना है। यह भाषा भूषण के ढंग पर लिखा हुआ अलंकार-ग्रन्थ है। इसमें लक्षण और उदाहरण दोहा छन्द में हैं। अधिकांशत: दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण हैं। यह चन्द्रालोक की शैली पर लिखा गया है, पर उदाहरण मौलिक हैं। लक्षण और उदाहरण दोनों स्पष्ट हैं। इस ग्रन्थ में भेदों सहित १८० अलंकारों का वर्णन है। कहीं कहीं इसके वर्णन में नवीनता भी पाई जाती है। प्रकृत प्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृता-प्रकृत के भेद से श्लेष के तीन भेद किए गए हैं। कहीं कहीं लक्षण अस्पष्ट और भ्रमपूर्ण भी हो गए हैं।

काव्य निर्णय :—भिखारीदास का सर्वांगपूर्ण काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इसकी रचना प्रतापगढ़ के राजा पृथ्वीपति सिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में वि०सं० १८०३ में की गई थी। इसमें कुल २५ उल्लास हैं और उनमें काव्यलक्षण, काव्य-प्रयोजन, भाषा लक्षण, शब्दशक्ति, रस, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, दोषोद्धार, तुक एवं अलंकार आदि विभिन्न विषयों का सांगोपांग निरूपण हुआ है। अलंकारों का वर्णन दो स्थलों पर हुआ है। एक तो तीसरे उल्लास में जो अलंकार-मूल-वर्णन के नाम से अभिहित है और फिर आठवें से अठारवें तक के ११ उल्लासों में तथा बीसवें और इक्कीसवें उल्लासों में क्रमश: अर्थालंकारों, शब्दालंकारों एवं चित्रालंकारों का निरूपण है। चित्रालंकार और तुक के वर्णनों के लिए पूरा एक एक उल्लास दिया गया है। तुक वर्णन दास जी की मौलिकता का परिचायक है।

अलंकार के विषय में दास जी का दृष्टिकोण ध्वनिवादियों के अनुरूप है। वे रस को कविता का अंग और अलंकार को भूषणों के समान अलंकृत करने वाला साधन मानते हैं। अर्थालंकारों के वर्गीकरण में दास जी का प्रयास बड़ा स्तुत्य है। हिन्दी के किसी आचार्य ने (केशव को छोड़कर) इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया था। यद्यपि दास जी का वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता तथापि इसने वर्गीकरण की दिशा में मार्ग प्रशस्त कर दिया है। प्रत्येक वर्ग का नाम उस वर्ग में परिगणित प्रथम अलंकार के नाम पर है जैसे उपमा वर्ग, उत्प्रेक्षा वर्ग आदि। इस प्रकार के कुल ११ वर्गों में सभी अर्थालंकार रक्खे गए हैं।

काव्य-निर्णय में अलंकारों का निरुपण ग्रन्थ के आधे से अधिक भाग में हुआ। लगभग १०८ अलंकारों का विवेचन हुआ है। अनुप्रास, लाट, वीप्सा, यमक और सिंहावलोकन के अतिरिक्त श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालंकारों में परिगणित किया गया है। काव्यनिर्णय का मुख्य आधार तो चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और काव्यप्रकाश है, पर साहित्यदर्पण, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि अन्य संस्कृत-ग्रन्थों से भी सहायता ली गई है। लक्षणों में भाषा की सुरुचि का ध्यान रक्खा गया है। ये लक्षण अधिकांशत: बड़े ही संक्षिप्त और स्पष्ट हैं, पर कहीं कहीं उनमें दुरुहता भी आ गई है। उदाहरण कवित्त, सवैया छन्दों में हैं। लक्षणों की दृष्टि से उदाहरणों का प्रत्येक चरण उपयोगी है। उनकी उपयुक्तता और निर्दोषता उल्लेखनीय है।

कविकुलकण्ठाभरण :—अलंकार सम्बन्धी इस ग्रन्थ की रचना दूलह कवि ने वि० सं० १८०० से १८२५ के बीच की थी। इसमें ११७ अलंकारों का वर्णन बड़ी संक्षिप्त रीति एवं स्पष्टता के साथ किया गया है। अलंकारों के लक्षण बहुत ही संक्षिप्त और स्पष्ट है। उदाहरण प्रत्येक अलंकार के लक्षण के बाद ही रक्खे गए हैं। जान पड़ता है भाषा-भूषण की भांति इस ग्रन्थ की रचना भी अलंकार के विद्यार्थियों के हेतु कठंस्थ करने के लिए की गई थी।

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द इसके आधार-ग्रन्थ हैं। जिन रसवदादि तथा अनुमानादि पन्द्रह अलंकारों को प्राचीन कवियों ने छोड़ दिया था, उनका वर्णन भी यहाँ किया गया है। रसवदादि सात अलंकार तो रस, भाव से सम्बन्ध रखते हैं। शेष आठ को दूलह ने मीमांसा, तर्क आदि की शब्दावली लेकर अलंकारों के अन्तर्गत रक्खा है। संकर और संसृष्टि अलंकारों का वर्णन न्याय शब्दावली में किया है। कविकुलकण्ठाभरण अलंकार विषय का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। यह यथार्थ में कविकुलका कण्ठाभरण ही रहा है।

अलंकार दीपक :—सं०वि० १८०६ के आसपास लिखा हुआ शम्भुनाथ मिश्र का

ग्रन्थ अलंकार दीपक मिलता है। यह अधिकांश दोहों में लिखा गया है। उदाहरण प्रायः आश्रयदाता भगवंतराय की प्रशंसा से ही सम्बन्धित हैं।

तुलसीदास भूषण :—तुलसीदास के भक्त कवि रस रूप ने वि० सं० १८११ में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के पुस्तकालय में प्राप्त है, जिसमें कुल ८२ पृष्ठ हैं। यह अलंकार विषयक ग्रन्थ है, जिसमें दोनों प्रकार के अलंकारों की चर्चा की गई है। चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और काव्यप्रकाश इसके आधार-ग्रन्थ हैं। इसकी विशेषता है तुलसी के ग्रन्थों से उदाहरण देने में। वैसे काव्य-शास्त्र की दृष्टि से ग्रन्थ साधारण कोटि का ही है।

रूपविलास :—वि० सं० १८१३ में रूपसाहि द्वारा लिखा गया था। इसकी रचना बुंदेला हिन्दू नरेश हिन्दूसिंह के आश्रय में हुई थी। इसमें प्रायः सभी काव्यांगों का विवेचन संक्षिप्त शैली में हुआ है। इसमें कुल पन्द्रह विलास हैं। बारहवें और तेरहवें विलासों में क्रमशः अर्थालंकार तथा चित्रालंकार हैं। अलंकारों का वर्णन भाषा-भूषण की शैली पर हुआ है। अर्थालंकारों की विवेचना ६६ छन्दों में ही समाप्त हो गई है। यह ग्रन्थ काव्य-शास्त्र जिज्ञासुओं के लिए बड़ा उपयोगी है।

भाषा-भरण :—मिश्र बन्धुओं के अनुसार असनी निवासी ब्रह्मभट्ट बैरीसाल ने इसकी रचना वि० सं० १८२५ में की थी। यह अलंकारों का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें कुल ४८५ पद हैं और उनमें भी अधिकांश दोहे हैं। इसका आधार कुवलयानन्द है। इसकी शैली संक्षिप्त और उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। एक प्रकार से इस ग्रन्थ के वर्णन का ढंग भाषा-भूषण जैसा ही है। यहां पूर्णलुप्तोपमा को भी अलंकार माना गया है—पर इसका उदाहरण उपयुक्त नहीं है। अन्त में रसवत्, ऊर्जस्वित आदि को भी अलंकारों में स्थान दिया गया है।

इसी समय वि० सं० १८२६ में हरिनाथ ने 'अलंकार दर्पण' तथा वि० सं० १८३१ में बन्दीजन ऋषिनाथ ने 'अलंकार मणि मंजरी' नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखे थे। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से ये साधारण कोटि के ग्रन्थ हैं।

कवितारसविनोद :—की रचना वि० सं० १८३३ में दयाराम के पुत्र डडराज उर्फ जनराज ने जयपुर नरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में की थी। यह ग्रन्थ २४ विनोदों में विभक्त है जिनमें ४५०० शब्दों सहित २०२५ छन्द हैं। इसमें काव्य के प्रायः सभी अंगों की चर्चा की गई है। इसमें अलंकार-वर्णन का आधार-ग्रन्थ है कुवलयानन्द। अन्य अंगों के विवेचन में काव्यप्रकाश आदि संस्कृत-ग्रंथों का अनुकरण किया गया

है। लक्षण और उदाहरण दोहा छन्द में दिए गए हैं। भाषा-भूषण की भाँति यहाँ भी दोहे के अर्ध भाग में लक्षण और दूसरे अर्ध भाग में उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इस संक्षिप्त शैली को अपनाने के कारण कहीं कहीं लक्षणों में अस्पष्टता भी आ गई है। परन्तु विवेचन की दृष्टि से यह ग्रंथ बड़ा महत्वपूर्ण है। दृश्यकाव्य के सिद्धान्तों का विवेचन होने पर यह ग्रंथ वास्तव में काव्य-शास्त्र का संपूर्ण ग्रंथ बन जाता। वह यथार्थतः हिन्दी का एक सुन्दर श्रेष्ठ काव्य-शास्त्र का ग्रंथ है।

अलंकार दर्पण :—महाराज रामसिंह ने वि० सं० १८३५ में इसकी रचना की थी। इसमें १०१ अलंकारों का वर्णन ३९१ छन्दों में किया गया है। प्रारम्भ उपमालंकार से होता है। लक्षण दोहा, सौरठा, चौपई, चौपाई और गाथा छन्दों में हैं, पर उदाहरण केवल दोहों में है। इस ग्रंथ पर संस्कृत के कुवलयानन्द का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से यह एक साधारण ग्रंथ है।

फतेह भूषण और अलंकार दर्पण :—इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता हैं रतन कवि। अपने आश्रयदाता श्रीनगर (गढ़वाल) नरेश फतेहसिंह के नाम पर फतेह-भूषण की रचना की गई थी। इसमें लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का वर्णन है। उदाहरणों में शृंगार के ही पद्य न होकर अपने राजा की प्रशंसा के कवित्त भी बहुत हैं।[1]

अलंकार दर्पण की रचना शुक्ल जी के मतानुसार वि० सं० १८२७ में हुई थी, पर डा० भगीरथ मिश्र उसका रचनाकाल वि० सं० १८४३ मानते हैं।[2] इसमें अलंकारों के लक्षण और उदाहरण एक ही छन्द में दिए गए हैं। अलंकारों का निरूपण विशद और उदाहरण बड़े मनोहर एवं सरस हैं।

इसी समय के आसपास दत्त ने 'लालित्यलता' (वि० सं० १८३०) सेवादास ने 'रघुनाथ अलंकार' (वि० सं० १८४०), देवकीनन्दन ने 'सरफराजचन्द्रिका' (वि० सं० १८४३) चन्दन ने 'काव्याभरण' (वि० सं० १८४९), तथा वेनी प्रवीन ने 'नानाराव प्रकाश', मानकवि ने 'नरेन्द्र भूषण' (वि० सं० १८५५ के लगभग) गोकुलनाथ ने 'चेत्त चन्द्रिका' (वि० सं० १८५८) तथा ब्रह्मदत्त ने 'दीपप्रकाश' (वि० सं० १८६५) और संग्रामसिंह ने काव्यार्णव (वि० सं० १८६६ के लगभग) नामक अलंकार ग्रन्थ लिखे थे। ये सभी ग्रन्थ अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से साधारण कोटि के ही हैं।

पद्माभरण :—के प्रणेता हैं प्रसिद्ध कवि पद्माकर। रीतिकालीन अन्तिम

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास — रामचन्द्र शुक्ल पृ० २९५

२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास — डा० भगीरथ मिश्र पृ० ४२

कवियों में सबसे अधिक ख्याति पद्माकर को ही मिली थी। इसका कारण उनकी कवित्व-शक्ति ही है, आचार्यत्व नहीं। 'पद्माभरण' के अतिरिक्त इन्होंने एक और ग्रन्थ 'जगद्विनोद' भी लिखा है जो मतिराम के 'रसराज' के समान ही प्रसिद्ध है।

'पद्माभरण' एक अलंकार-ग्रन्थ है। लक्षण और उदाहरण प्रायः दोहों में ही हैं पर कहीं कहीं चौपाई छन्द का भी प्रयोग हुआ है। इस ग्रन्थ में कुल तीन प्रकरण हैं। अर्थालंकार प्रकरण, पंचदशालंकार प्रकरण और संसृष्टि संकर प्रकरण। इसमें कहीं कहीं बैरीसाल और बिहारी से उदाहरण लिए गए हैं। इसके आधार-ग्रन्थ हैं चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, भाषाभूषण, और भाषाभरण। परन्तु बैरीसाल के भाषाभरण का आदर्श अधिक ग्रहण किया गया है। यह वस्तुतः अलंकार सम्बन्धी एक साधारण ग्रन्थ है। इसमें न तो विवेचन की ही कोई विशेषता है और न उदाहरणों की मनोहरता ही। इसकी रचना वि० सं० १८६७ के आसपास बताई जाती है।[१]

रसिकगोविन्दानन्दघन :—निम्बार्क सम्प्रदाय के महात्मा हरिदास की गद्दी के शिष्य वृन्दावन निवासी रसिक गोविन्द ने इसकी रचना वि० सं० १८५८ में की थी। यह सात आठ सौ पृष्ठों का बड़ा भारी रीति-ग्रंथ है जिसमें रस, नायक, नायिका-भेद, अलंकार, गुणदोष आदि का विस्तृत वर्णन है। इसकी सबसे बड़ी विशषता गद्य में लक्षणों का होना है। रस के अतिरिक्त प्रश्नोत्तर द्वारा रस, अलंकार आदि से सम्बन्धित अनेक शंकाओं का समाधान भी किया गया है। उदाहरण ब्रजभाषा के पद्य में दिए गए हैं। स्थान स्थान पर संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों के मत उद्धृत किए गए हैं। कवित्व और विवेचन दोनों की दृष्टि से इस ग्रंथ का बड़ा महत्व है।

काव्योदय :—नरवरनरेश गजसिंह की आज्ञा से लीलाधर कवि ने इस ग्रंथ की रचना वि० सं० १८७४ में की थी। यह अलंकार विषयक ग्रन्थ है, जिसमें १०० अर्थालंकारों तथा रसवदादि सात—इस प्रकार कुल १०७ अलंकारों की चर्चा कुल ४६५ छन्दों में की गई है। इसका आधार-ग्रन्थ है कुवलयानन्द। यह ग्रंथ परम्परा पालन के अन्तर्गत ही आता है। विवेचन की दृष्टि से उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है।

काव्यरत्नाकर :—रणधीरसिंह ने इसकी रचना वि० सं० १८९७ में की। डा० भगीरथ मिश्र इसके सम्बन्ध में लिखते हैं:—लेखक (डा० भगीरथ) को इनका ग्रंथ काव्य रत्नाकर टीमकगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय में देखने को मिला, जिस में उसका रचनाकाल वि० सं० १८८७ ज्येष्ठ शुक्ला १२ गुरुवार दिया है।[२] उन

१—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृष्ठ ४२
२—वही पृष्ठ १६६

के अनुसार यह १३० पृष्ठों की पुस्तक है जिसके अन्त में सभी वर्णित विषयों की सूची दी गई है। इस ग्रंथ का आधार चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश और भाषा-ग्रंथ हैं:—

लखि गति चन्द्रालोक अरु काव्य प्रकाश सुदीप्त।
औरौ भाषा ग्रन्थ बहु, ताको संगत गीत॥

इसमें अलंकारों का वर्णन रस, भाव, अनुभव एवं नायिका भेद के वर्णन के पश्चात् हुआ है। अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण साफ और सुन्दर हैं। चित्रा-लंकार का वर्णन भी विशेष रूप से हुआ है और सुन्दर चित्रों द्वारा समझाया एवं सजाया गया है। अलंकारों का आधार चन्द्रोलोक है।[१]

साहित्य-सुधा-निधि:—सरदार कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १९०२ के आसपास की थी। इसमें काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। काव्य-प्रकाश और कुवलयानन्द इसके आधार-ग्रन्थ हैं, पर साहित्यदर्पण से भी यत्रतत्र सहायता ली गई है। विषय को हृदयंगम कराने का इसमें कवि ने पूर्ण प्रयास किया है। आचार्यत्व और कवित्व दोनों की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण जान पड़ता है। इस ग्रन्थ की केवल खंडित प्रति ही साहित्यसम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय में उपलब्ध है।

इसी समय के आसपास प्रतापसाहि ने 'अलंकार चिंतामणि' (वि० सं० १८९४) चतुर्भुज ने 'अलंकार आभा' (वि० सं० १८९६) लेखराज ने 'लघुभूषण' (वि० सं० १९०० के लगभग) नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखे थे।

इस प्रकार वि० सं० १९०० तक अलंकार-ग्रन्थ लिखने की परम्परा अविरल गति से प्रवाहित होती रही। परन्तु १९०० के पश्चात् यह यकायक अवरुद्ध नहीं हो गई, वरन् समय समय पर उसका अनुसरण होता रहा।

आधुनिक युग में आने पर इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली गद्य और पद्य का माध्यम बन गई। गद्य का प्रचलन अधिक होने लगा और वह अपने चतुर्मुखी विकास की दिशा में आगे बढ़ने लगा। अंग्रेजी, उर्दू, और बंगला-साहित्य का प्रभाव भी धीरे-धीरे हिन्दीसाहित्य पर पड़ने लगा। अलंकारों की ओर से साहित्यिकों की रुचि हटने लगी—फलस्वरूप काव्य के अन्य अंगों की भाँति अब काव्य में अलंकारों का प्रमुख स्थान नहीं रह गया। इनका पठन-पाठन अब केवल प्राचीन काव्य-शास्त्र के ज्ञानार्जन के हेतु ही होने लगा। इसी उद्देश्य को लेकर आधुनिक युग में भी कुछ अलंकार-ग्रन्थ लिखे गए। जैसे मुरारी दीन का जसवंतजसोभूषण, कन्हैयालाल पोद्दार का अलंकार प्रकाश, लाला भगवान-दीन का अलंकार मंजूषा, रामरतन का अलंकार प्रबोध, रामशंकर शुक्ल रसाल का अलंकार पीयूष आदि। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गए जिनमें अन्य काव्यांगों के साथ

१—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास-डा० भगीरथ मिश्र-पृष्ठ १७०

साथ अलंकारों को भी स्थान दिया गया। काव्यकल्पद्रुम, काव्यप्रभाकर, काव्यांग-चन्द्रिका आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। आज साहित्य के विद्यार्थियों को अपनी परीक्षाओं के निमित्त अलंकारों का अध्ययन करना पड़ता है। अत: उनकी सुविधा के लिए समय समय पर अलंकारों की छोटी मोटी पुस्तकें भी प्रकाशित होती रहती हैं जिससे हम अनुमान कर सकते हैं कि अलंकारों की महत्ता घट जाने पर भी आज अलंकार-ग्रन्थों का भविष्य अंधकारपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अलंकार-ग्रंथों के उपर्युक्त विवरण से हमें ज्ञात होता है कि ये अलंकार-ग्रंथ दो रूपों में प्राप्त हैं। एक तो शुद्ध-अलंकार-ग्रन्थ जिनमें केवल अलंकारों का ही निरूपण हुआ है, अन्य काव्यांगों का नहीं। अलंकार पंचाशिका, ललित ललाम, शिवराजभूषण, अलंकारमाला, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण, अलंकार चन्द्रोदय, रसिक मोहन, कर्णाभरण, कविकुलकण्ठाभरण, अलंकार दीपक, भाषाभरण, अलंकार दर्पण, अलंकार मणिमंजरी, पद्माभरण, रघुनाथ अलंकार, काव्याभरण, नरेन्द्र भूषण, दीप प्रकाश आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

दूसरे मिश्रित-अलंकार-ग्रन्थ जिनमें अलंकारों के साथ साथ अन्य काव्यांगों का भी विवेचन हुआ है। इन्हें भी दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—
१—वे ग्रन्थ जिनमें अलंकारों के साथ रस, नायिका-भेद आदि कुछ काव्यांगों का ही विवेचन पाया जाता है जैसेः—भाषा-भूषण, फतेहप्रकाश, भावविलास, शब्द-रसायन, काव्यरत्नाकर आदि।

२—वे ग्रन्थ जिनमें अलंकारों के साथ साथ काव्य के सभी अंगों का विस्तृत निरुपण किया गया है जैसे: कविकुलकल्पतरु, रस-रहस्य, काव्य-सरोज, रसपीयूषनिधि, काव्य-निर्णय, रसिकगोविन्दानन्दघन आदि।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी साहित्य में २०० वर्षों में इतने ही रीति-ग्रन्थ लिखे गए हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है परन्तु उनमें या तो अलंकारों का वर्णन है ही नहीं अथवा, वह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त या चलताऊ है। अतः उन ग्रन्थों की यहाँ चर्चा नहीं की गई।

काल-दृष्टि से विभाजन करने पर इन अलंकार-ग्रन्थों को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है :— १–प्रारम्भिक काल (वि० सं० १७०० के पहले) आचार्य चिन्तामणि से पूर्व लिखे गए ग्रन्थों को इस काल में रक्खा जा सकता है। २–मध्यम काल (वि० सं० १७०० से १८०० वि० तक) चिन्तामणि से लेकर भिखारी दास तक का काल, ३–अन्तिम काल (वि० सं० १८०० से १६०० वि० तक)।

आरम्भिक काल में शब्द-कौतुक पर विशेष ध्यान दिया जाता था। अर्थालंकारों का विशेष विस्तार न था। हाँ उपमा का प्रसार अवश्य अधिक था। परन्तु मध्यकाल में आते आते अर्थालंकारों की प्रधानता हो गई और भिखारी दास के समय तक उनके अनेक रूप प्रतिरूप बन गए। यद्यपि ये सभी संस्कृत-ग्रन्थों में विकसित होकर आ चुके थे, तथापि तत्कालीन जनता की अर्थालंकारों की ओर विशेष रूप से बढ़ती हुई रुचि को देखकर हमारे आचार्यों को भी संस्कृत-ग्रन्थों के आधार पर उनका विवेचन करना पड़ा। और भाषा काव्य की आवश्यकता को देखकर उन्हें बढ़ाना चढ़ाना भी पड़ा।

प्रथम काल में जिस प्रकार शब्दालंकारों का कुछ मौलिक विकास हुआ था उसी प्रकार मध्यकाल में अर्थालंकारों के क्षेत्र में भी कुछ मौलिक उन्नति हुई। चित्रालंकार का, जिसका पहले शब्दालंकारों के साथ बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया जाता था, अब प्रायः लोप सा होने लगा था। उसके स्थान पर अब रसभावादि सम्बन्धी अलंकारों को स्थान दिया जाने लगा। शब्दालंकारों को गौण स्थान मिलने लगा।

मध्यकाल के अन्त में फिर कुछ परिवर्तन दिखाई पड़ता है। अब सभी प्रकार के अलंकारों को समान रूप से देखा जाने लगा और इसी रूप में उनका वर्णन भी होने लगा।



३—विषय - विश्लेषण

भाषाभूषण (जसवंतसिंह) वि० सं० १७००

महाराज जसवन्तसिंह ने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। अपरोक्ष-सिद्धान्त, अनुभव-प्रकाश, आनन्द-विलास, सिद्धान्त-बोध और सिद्धान्त-सार उनके तत्वज्ञान विषयक ग्रन्थ हैं, प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक है, और भाषा-भूषण उनका रीति-ग्रन्थ है। उनकी ये सभी रचनाएं पद्यात्मक हैं। इनमें भाषा-भूषण ही हमारे प्रस्तुत प्रबन्ध का आलोच्य विषय है।

ग्रन्थ-परिचय :—भाषा-भूषण एक बहुत ही सुन्दर और संक्षिप्त शैली पर लिखा गया श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें चन्द्रालोक और कुवलायनन्द की संक्षिप्त शैली का अनुकरण किया गया है। हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में यही सर्व-प्रथम ग्रन्थ है जिसके द्वारा हिन्दी में चन्द्रालोक की शैली प्रतिष्ठित हुई। वैसे तो इस शैली का प्रारम्भ गोपा की 'अलंकार-चन्द्रिका से हो ही चुका था। इस ग्रन्थ की महत्ता का अनुमान इसी बात से हो जाता है कि परवर्ती आचार्यों ने इस ग्रन्थ के अनुकरण पर अपनी रचनाएं की और दूसरे इस पर अनेक टीकाएं भी लिखी गई। वंशीधर की 'अलंकार रत्नाकर' रणधीरसिंह शिरमौर की 'भूषण-कौमुदी', प्रतापसाहि की टीका गुलाब कवि की 'भूषण-चन्द्रिका और हरिचरणदास की टीका तो प्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त दो अन्य टीकाओं का नाम प्राचीन पुस्तकों की खोज रिपोर्ट में मिलता है। एक अंग्रेजी टीका ग्रियर्सन ने अपनी सम्पादित 'लाल चन्द्रिका' (लल्लू लालकृत बिहारी सतसई की टीका) के आदि में दी है।

वर्ण्य-विषय :—भाषा-भूषण के पांच प्रकाशों में कुल २१२ दोहे हैं। प्रथम प्रकाश में पांच दोहों में मंगलाचरण है। दूसरे प्रकाश में १७ दोहों में नायक-नायिका-भेद का वर्णन है। तृतीय प्रकाश में १९ दोहों में हाव-भाव का वर्णन है। चौथे प्रकाश में १५६ दोहों में अर्थालंकारों का विवेचन है और अन्तिम पांचवें प्रकाश में १० दोहों में शब्दालंकारों का वर्णन है। अन्त में ५ दोहों में ग्रन्थ का प्रयोजन दिखाया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में चन्द्रालोक के श्लोक की भांति ही दोहा जैसे छोटे छन्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यहाँ नायक-नायिका-भेद, हाव-भाव का भी विवेचन किया गया है। तथापि प्रधानतः यह अलंकार-विषयक ग्रन्थ है। क्योंकि लेखक ने १६६ दोहों में तो केवल अलंकारों का ही वर्णन किया है, और ३६ दोहों में अन्य काव्यांगों का। दूसरे अलंकारों के लक्षण, और भेदों के साथ साथ उनके उदाहरण भी प्रस्तुत किये गए हैं, पर नायक-नायिका के लक्षण और भेद ही दिए गए हैं, उदाहरण नहीं। रसों और भावों के नाम-मात्र ही गिनाए गए हैं। उनके न लक्षण लिखे गए और न उदाहरण ही। गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि अन्य काव्यांगों पर प्रकाश डालने की बात तो दूर रही, कोई संकेत तक भी उनकी ओर नहीं किया गया।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-भूषण प्रधानतया अलंकार-ग्रन्थ है और उसका रचयिता अलंकारवादी। ग्रन्थ-का नामकरण भी उसी तथ्य की ओर संकेत करता है। अलंकारों (भूषण) के संयोग से ही इस ग्रन्थका नाम भाषा-भूषण रक्खा गया है।[1]

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य :—भाषा-भूषण की रचना शैली को देखकर सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सौन्दर्य के उद्देश्य से ही इसकी रचना की गई है जिससे अलंकारों के लक्षण और उदाहरण सरलता से शीघ्र ही कण्ठस्थ किए जा सकें। अपना कवित्व दिखलाना जैसा कि परवर्ती कवियों का उद्देश्य रहा है, ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य नहीं है।

इस ग्रन्थ की रचना उस व्यक्ति के लिए की गई है जो भाषा में निपुण है (संस्कृत में नहीं) और कविता में प्रवीण है। संस्कृतविज्ञों के लिए तो अनेक संस्कृत-ग्रंथ थे ही। अतः भाषा के रसिक पण्डितों के लिए ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता का अनुभव करके ही इसकी रचना की गई।[2]

नायक-नायिका-भेद :—सर्व प्रथम नायक के भेद बताए गए हैं। ये भेद शृंगार के नायक की दृष्टि से किए गए हैं। गुणों की दृष्टि से होने वाले ललित, शान्त आदि भेदों का वर्णन यहाँ नहीं, भेदों के साथ ही साथ उनका स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। फिर तीन भेदों—पति, उपपति और वैशिकका विवेचन हुआ है।

इसके पश्चात् नायिका-भेद का विवेचन है। पहले नायिका के स्वकीया, परकीया और सामान्य ये तीन भेद दिखाकर अवस्था के भेद से मुग्धादि तीन भेद किए गए हैं। फिर परकीया के विदग्धा, लक्षिता आदि पाँच भेद बताए गए हैं। इसके आगे नवविध नायिका का कथन करके धीरा, अधीरा और धीराधीरा का लक्षण कहा गया है। तीन प्रकार के मान का भी निरूपण है।

यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है। नायिकाओं के गुणों आदि का विस्तृत विश्लेषण यहाँ नहीं है और न उनके उदाहरण ही दिए गए हैं।

तदनन्तर तृतीय प्रकाश में भाव-हाव एवं नवरस का निरूपण किया गया है। यहाँ भी कवि ने उनकी कोई विस्तृत व्याख्या नहीं की। लक्षण उदाहरण भी नहीं दिए हैं। केवल भेद और उनकी गणना मात्र कराई गई है। हाँ, हावों और विरह-दशाओं के लक्षण अवश्य दिए गए हैं।

रस के ९ भेद गिनाए गए हैं, पर स्थायी भाव आठ ही बताए गए हैं।

१—अलंकार संजोग तें, भाषा-भूषण नाम। २११। भाषा भूषण
२—ताही नर के हेतु यह, कीन्हीं ग्रन्थ नवीन
जो पंडित भाषा निपुन, कविता विषै प्रवीन॥ २१० भा० भू०।

दशरूपक में भी आठ स्थायी भाव गिनाए गए हैं, पर यह भी कह दिया गया है कि कोई कोई 'शम' को भी नवां स्थायी भाव मानते हैं, पर नाटकों में उसकी पुष्टि नहीं होती।[1] भाषा-भूषण में 'शम या निर्वेद' की गणना नहीं की गई है। सम्भवतः यह दशरूपक का ही प्रभाव हो। वीभत्स का स्थायी भाव यहाँ 'निन्दा' कहा गया है, पर वास्तव में उसका स्थायी भाव होता है 'घृणा या जुगुप्सा', निन्दा नहीं।

नायक, नायिका, रस, हाव, भाव आदि का वह अति संक्षिप्त एवं चलताऊ वर्णन इस बात का द्योतक है कि कवि की रुचि इनके वर्णन में नहीं थी, वह तो अलंकार-वर्णन को ही महत्व देना चाहते थे। अतः यह कहने में संकोच नहीं कि भाषा-भूषणकार अलंकारवादी थे, रसवादी या ध्वनिवादी नहीं।

अलंकार-वर्णन

शब्द और अर्थ की दृष्टि से अलंकारों के दो वर्ग किए गए हैं—शब्दालंकार और अर्थालंकार। संस्कृत आचार्यों ने शब्दालंकारों का वर्णन सबसे पहले किया है और होना भी यही चाहिए। क्योंकि अर्थ का मूर्त रूप ही तो शब्द होता है। अतः शब्द ही पहले हमारे समक्ष आता है और तत्पश्चात् उसका अर्थ। यद्यपि भाषा-भूषण के आधार-ग्रंथ चन्द्रालोक में शब्दालंकारों का वर्णन पहले किया गया है, और कुवलयानन्द में इनकी चर्चा अर्थालंकारों के बाद की गई है। वहाँ सर्वप्रथम अर्थालंकारों का ही विवेचन हुआ है। अतएव यहाँ पर पहले उन्हीं का विश्लेषण किया जायगा।

अलंकारों के नाम :—भाषा-भूषण में प्रायः वही हैं जो कुवलयानन्द में पाए जाते हैं। कतिपय अलंकारों के नामों में अवश्य थोड़ा परिवर्तन है। 'स्मृति' और 'भ्रान्ति' के लिए यहाँ 'स्मरण' और 'भ्रम' नाम दिया गया है। अप्पयदीक्षित के 'दीपकावृत्ति' को 'आवृत्ति दीपक', पर्यायोक्त को 'पर्यायोक्ति' कारणमाला को 'गुम्फ', अर्थापत्ति को 'काव्यार्थापत्ति', विषादन को 'विषाद' विशेष को 'विशेषक' एवं उत्तर को 'गूढ़ोत्तर' नाम से वर्णित किया गया है। अप्पयदीक्षित ने दो 'विशेष' अलंकारों का वर्णन पृथक् पृथक् किया है। उनके लक्षण भिन्न भिन्न हैं, परन्तु नाम एक ही हैं। इस कारण उनमें भ्रम हो जाने की संभावना होने के कारण जसवन्तसिंह ने दूसरे 'विशेष' का नाम 'विशेषक' रख कर उनमें सम्भावित भ्रम को दूर करने का प्रयास किया है।

इस प्रकार यहां भाषा-भूषण में १०० अलंकारों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त यहां 'चित्रालंकार' का भी विवेचन है। वस्तुतः यह 'चित्रालंकार कुवलयानन्द के 'उत्तरालंकार' के एक भेद 'चित्रोत्तर' का ही दूसरा नाम है। यह

१—शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य। ४-३५। दशरूपक।

काव्यप्रकाश या साहित्य दर्पण का शब्दालंकार नहीं है। इसको मिलाकर कुल १०१ अर्थालंकार हो जाते हैं। कुवलयानन्द में इनके अतिरिक्त रसवत् आदि १५ अलंकारों के साथ संसृष्टि और सकर अलंकारों का भी निरूपण मिलता है, परन्तु भाषा-भूषण में इन्हें स्थान नहीं मिला। बात यह है कि भामह ने रसवत्, ऊर्जस्वित्, प्रेय और समाहित को अलंकार माना था और दण्डी एवं उद्भट ने भी उन्हीं का अनुसरण किया था। आगे चलकर रुय्यक ने इन चारों के अतिरिक्त, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को भी अलंकार रूप में स्वीकार किया था।[1] अप्पयदीक्षित ने इनके अतिरिक्त आठ प्रमाणालंकारों का भी वर्णन किया है। रसवद् आदि को अलंकार स्वीकार करने में आचार्यों में मतभेद रहा है। अलंकारवादियों ने तो इन्हें अलंकार माना ही था, पर ध्वनिवादियों ने इन्हें तभी अलंकार रूप में स्वीकार किया जब वे अन्य वाक्यार्थ का अंग बन कर अप्रधान हो जाते हैं।[2] मम्मट ने गुणीभूत व्यंग्य के 'अपराङ्ग व्यंग' में उनका अन्तर्भाव किया है। उनके अनुसार तो रस-भाव आदि अप्रधान रूप से भी कहीं निबद्ध हैं तो भी उन्हें वहाँ अलंकार नहीं, अपितु 'गुणीभूतव्यंग' ही कहना उचित है।

रसादिक को अलंकार रूप में मानने का यही कारण था कि प्राचीन अलंकार शास्त्र में अलंकार और अलंकार्य का विवेचन नहीं हुआ था। अतः रसादिक में भी काव्य की शोभावर्धकता मान ली गई थी। दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में स्पष्ट कहा है :—

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढ़ाहङ्कारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ।। २-२७५ ।।

परन्तु अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट हो जाने के पश्चात् आचार्यों ने अलंकारों को काव्य का अनित्य धर्म स्वीकार कर लिया। अतः रस-भाव नित्य धर्म होने से अलंकार की कोटि में नहीं रखे गए।

चन्द्रालोक कार ने भी इन्हें अलंकार नहीं माना, परन्तु अन्य आचार्यों ने उन्हें अलंकार माना है, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ में उनके नामों की चर्चा भर कर दी है।[3] उनके लक्षण उदाहरण नहीं दिए। परन्तु संसृष्टि और संकर तथा

१—रसभाव तदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत् प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च पृथग्लंकाराः। अलंकार सर्वस्व पृ० २३२, २३८

२—प्रधानेऽत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ।। ध्वन्यालोक २-५ ।।

३—रसवत्प्रेयऊर्जस्वित्समाहितमयाभिधाः । १७७ ।
भावानामुदयः सन्धि शबलत्वमितित्रयः
अलंकारानिमान्सप्त केचिदाहुर्मनीषिणः ।। ११८ । चन्द्रालोक ।

शुद्धि की तो उन्होंने अलंकारों में गणना तक नहीं की।[1]

अतः भाषाभूषणकार ने भी चन्द्रालोक का अनुसरण करते हुए इन पन्द्रह अलंकारों तथा संसृष्टि और संकर को भी अपने भाषा-भूषण में कोई स्थान नहीं दिया।

अलंकारों के भेद :—भाषा-भूषण में प्रायः उन्हीं अलंकारों के उतने ही भेद किए गए जिनके जितने भेद कुवलयानन्द में हैं। पर कहीं कहीं अतिक्रमण भी पाया जाता है। प्रतीप, रूपक, उल्लेख, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपकावृत्ति, निदर्शना, विनोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विभावना, असंगति, विषम, सम, अधिक, विशेष, व्याघात, पर्याय, समुच्चय, प्रहर्षण पूर्वरूप, वक्रोक्ति और हेतु के भेद कुवलयानन्द के ही अनुसरण पर किए गए हैं।

चन्द्रालोक में प्रतीपोपमा और प्रतीप दो अलंकार हैं, कुवलयानन्द में प्रतीपोपमा नहीं हैं, प्रतीप के पाँच भेद हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी कुवलयानन्द का ही अनुसरण किया गया है। भाषा-भूषण में रूपक का लक्षण नहीं दिया गया है और न उसके भिन्न-भिन्न भेदों का स्पष्टीकरण किया गया है। केवल उदाहरण देकर उन्हें समझाया भर गया है। चन्द्रालोक में उल्लेख के भेदों की चर्चा नहीं है, पर कुवलयानन्द में इसके दो भेद बताए गए हैं, इसी के अनुकरण पर भाषा-भूषण में भी दोनों भेदों के लक्षण और उदाहरण पृथक्-पृथक् दिए गए हैं। प्रथम का लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द का शब्दशः अनुवाद है। यथा :—

सो उल्लेख जु एक कों, बहु समुझें बहु रीति।
अर्थिन सुरतरु, तिय मदन, अरि कौं काल प्रतीति ॥ ५८। भा० भू०
बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षिसः ॥ २२ कुवलयानन्द ॥

इसके द्वितीय भेद के उदाहरण में अवश्य कुछ स्वतंत्रता से काम लिया गया है। चन्द्रालोक में अपन्हुति के ५ भेद माने गए हैं। कुवलयानन्द में इनके अतिरिक्त 'हेत्वपन्हुति' एक और भेद माना गया है। अन्य पांचों के उदाहरण दोनों ग्रन्थों चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में शब्दशः ज्यों के त्यों हैं। प्रथम भेद का चन्द्रालोककार ने अलग नाम नहीं रक्खा, पर कुवलयानन्द में उसे 'शुद्धापन्हुति' कहा गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 'अपन्हुति' के नामों, और ६ भेदों में कुवलयानन्द को ही आधार बनाया गया है। हेत्वपन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, भ्रान्त्यपन्हुति और कैतवापन्हुति के लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द के अनुवादमात्र हैं, अन्य दो के उदाहरणों में तनिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है।

१—शुद्धिरेकप्रधानत्वं तथा संसृष्टिसंकरौ।
एतेषामेव विन्यासान्नालंकारान्तराण्यमी॥ ११६॥ चन्द्रालोक।

'अतिशयोक्ति' का यहाँ लक्षण नहीं दिया गया है। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में भी नहीं दिया गया। चन्द्रालोक में इसके ६ भेद हैं पर कुवलयानन्द में आठ हैं। भाषा-भूषण में भी आठ ही भेद हैं। 'सापन्हवा' और 'असम्बन्धा' ये दो नए भेद हैं। परन्तु यहाँ 'असम्बन्धातिशयोक्ति' को 'सम्बन्धातिशयोक्ति' का ही एक भेद मान लिया गया है।

'तुल्ययोगिता' के चन्द्रालोककार ने दो ही भेद बताए हैं। उन्होंने 'तुल्ययोगिता' वहाँ मानी है जहाँ क्रिया अथवा गुण के द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समानता का कथन होता है।[१] पर कुवलयानन्द ने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत के धर्मैक्यं को 'तुल्ययोगिता' कहा है।[२] वहाँ पर इसके चार भेद किए गए हैं। प्रत्येक के लक्षण और उदाहरण भी अलग अलग दिए गए हैं। इनमें प्रथम भेद 'सरस्वती कण्ठाभरण' का है, जहाँ हित और अहित (मित्र एवं शत्रु) में व्यवहारतुल्यता होती है। दूसरे भेद का उदाहरण चन्द्रालोक वाला है।[३] यही उदाहरण कुवलयानन्द में भी प्रथम भेद के उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। (१४४ वां श्लोक कुवलयानन्द)। तीसरा भेद काव्यादर्श से प्रभावित है। प्रथम और तृतीय उदाहरणों में कवि ने स्वतंत्रता का उपयोग किया है।

चन्द्रालोक में विभावना के भेद नहीं हैं, पर कुवलयानन्द में उसके ६ भेद बताए गए हैं। भाषा-भूषण में भी इसी के अनुकरण पर ६ भेद किए गए हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अलंकारों के भेद भी कुवलयानन्द के ही समान हैं।

परन्तु कुछ अलंकार ऐसे भी पाए जाते हैं, जिनके भेदों में कुवलयानन्द का पूर्ण अनुकरण नहीं किया गया। लुप्तोपमा के कुवलयानन्द में आठ भेद कहे गए हैं।[४] चन्द्रालोक में इसका कोई वर्णन नहीं है। वैसे तो प्रस्तार के हिसाब से लुप्तोपमाएं १४ हो सकती हैं। परन्तु चमत्कार केवल आठ में ही रहता है, अन्य में नहीं। उपमेयलुप्ता, धर्मोपमेयलुप्ता, उपमेयउपमानलुप्ता, धर्मोपमानोपमेयलुप्ता, वाचकोपमेयोपमानलुप्ता और वाचकधर्मोपमेयलुप्ता ये लुप्तोपमाएं नहीं बन सकतीं। इसी कारण केवल आठ भेद ही कुवलयानन्द ने बताए हैं। भाषा-भूषणकार ने बताया है कि जब उपमा के चार अंगों में से कोई एक, दो या तीन अंग नहीं रहेंगे तो

१—क्रियादिभिरनेकस्य तुल्यता तुल्ययोगिता ॥ ५-५१ । चन्द्रालोक

२—वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ॥ ४४ ॥ कुवलयानन्द

३—नवलवधू की वदन दुति, अरु सकुचित अरविंद ॥ ८० भा० भू०
संकुचन्ति सरोजानि स्वैरिणी वदनानि च ॥ ५२ ॥ चन्द्रालोक

४—वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्य च ।
एक द्वित्र्यनुपादानैर्भिन्नालुप्तोपमाष्टधा ॥ ७ ॥ कुवलयानन्द ।

'लुप्तोपमा' होगी। कुवलयानन्द के समान उनके भेदों की स्पष्ट संख्या का कथन उन्होंने नहीं किया।

'उत्प्रेक्षा' का वर्णन चन्द्रालोक में उपेक्षित सा हो गया है। वहाँ उसके भेद-प्रभेदों पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया। कुवलयानन्द में उसके भेद-प्रभेद सभी मिलते हैं। परन्तु भाषा-भूषण में इसके तीन भेद—वस्तु, हेतु और फल किए गए हैं। प्रत्येक का उदाहरण भी दिया गया है, लक्षण नहीं दिए गए। उपभेदों का भी कोई वर्णन नहीं है।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' के यहां केवल दो भेद हैं। एक वह जहाँ प्रस्तुत के बिना वर्णन होता है और दूसरा वह जहाँ प्रस्तुत का अंश रहता है। अलंकार का लक्षण नहीं दिया गया है। पर भेदों को उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। चन्द्रालोककार जयदेव ने कार्य रूप, हेतुरूप, सामान्य रूप, विशेष रूप और असदृशवस्तु रूप—ये पांच भेद अप्रस्तुतप्रशंसा के किए हैं। कुवलयानन्दकार ने केवल एक भेद ही मूल में रक्खा है, परन्तु वृत्ति में सामान्यनिबन्धना, विशेष निबन्धना, कारणनिबन्धना, और कार्य निबन्धना—इन चार भेदों के उदाहरण देकर उसके अन्य भेदों की ओर संकेत कर दिया है। पर भाषा-भूषण में उसके केवल दो ही भेद मिलते हैं।

'प्रस्तुतांकुरालंकार' अप्पयदीक्षित ने ही माना है। चन्द्रालोक में भी इसका वर्णन नहीं है। भाषाभूषणकार ने कुवलयानन्द के आधार पर ही इसका स्वतंत्र वर्णन किया है। अप्रस्तुत प्रशंसा और प्रस्तुतांकुर में भेद यही है कि प्रथम में अप्रस्तुत से प्रस्तुत का और द्वितीय में एक प्रस्तुत से दूसरे प्रस्तुत का बोध होता है।

इनके अतिरिक्त व्यतिरेक, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास, उल्लास, अवज्ञा और लेश—अलंकारों के भेद कुवलयानन्द में तो हैं पर भाषा-भूषण में नहीं हैं। काव्य प्रकाश में व्यतिरेक के २४ भेद माने गए हैं, कुवलयानन्द की वृत्ति में मूल के अतिरिक्त अन्य भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, पर भाषाभूषणकार ने केवल उसका लक्षण और उदाहरण भर दिया है। उसके भेद नहीं बताए। काव्य प्रकाश में 'परिसंख्या' के चार भेद किए गए हैं चन्द्रालोक में इसके भेद नहीं हैं, हाँ, "इयमनेकविधा इत्यन्यत्र स्पष्टम्", ऐसा कह कर टीकाकार ने संकेत भर कर दिया है। कुवलयानन्द में भी भेदों का कोई कथन नहीं है। प्रस्तुतग्रन्थकार ने भी उन्हीं का अनुकरण किया है। कुवलयानन्द में 'अर्थान्तिरन्यास' के ४ भेद हैं, प्रत्येक का लक्षण तो नहीं पर उदाहरण अवश्य दिए गए हैं। काव्य प्रकाश में भी ४ भेद किए गए हैं, और साहित्यदर्पण में आठ। परन्तु भाषा-भूषण में इसके कोई भेद नहीं बताए गए। उदाहरण भी केवल सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन का दिया गया है, अन्य का नहीं।

'उल्लास' के ४ भेद होते हैं, कुवलयानन्द में इन चारों के उदाहरण पाए

जाते हैं पर प्रस्तुत ग्रन्थ में इसके न तो भेद गिनाए गए और न उनके उदाहरण देकर उनकी ओर संकेत ही किया गया है। अवज्ञा और लेश के भेदों के उदाहरण आधार-ग्रंथ में तो हैं, पर भाषा-भूषण में नहीं। इसी प्रकार 'कारणमाला' के भेदों की ओर कुवलयानन्द की वृत्ति में उदाहरण देकर इंगित किया गया है। 'एकावली' के दूसरे भेद का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, परन्तु भाषाभूषणकार ने इनकी उपेक्षा कर दी है।

चन्द्रालोक में 'विरोध और 'विरोधाभास' का पृथक् पृथक् वर्णन पाया जाता है। पर प्राचीन ग्रंथों में इनमें भेद नहीं माना गया। इसी कारण शायद कुवलयानन्दकार ने केवल 'विरोधाभास' का ही वर्णन किया है। उसके भेदों पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला। काव्यप्रकाशकार ने इसके दस भेदों का वर्णन किया है। साहित्यदर्पणकार ने 'विरोधाभास' के स्थान पर 'विरोध' ही लिखा है। इसके भी यहाँ दस भेद किए गए हैं। परन्तु भाषाभूषणकार ने कुवलयानन्द के अनुकरण पर 'विरोधाभास' का लक्षण और उदाहरण भर दे दिया है। उसके भेदों का कोई वर्णन नहीं किया।

विशेषोक्ति, श्लेष और अल्प-अलंकारों के भेदों का कुवलयानन्द की भाँति भाषा-भूषण में भी कोई उल्लेख नहीं है।

वर्णन-शैली और अलंकारों का क्रम:—

भाषाभूषणकार ने अलंकारों के वर्णन में चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की शैली को ही अपनाया है। जिस प्रकार वहाँ श्लोक के पूर्वार्ध में अलंकार का लक्षण और उत्तरार्ध में उसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, उसी प्रकार भाषाभूषण में भी दोहे के प्रथम और द्वितीय चरणों (पूर्वार्ध) में लक्षण और तृतीय एवं चतुर्थ चरणों (उत्तरार्ध) में उदाहरण दिया गया है। जहाँ कहीं भेदों का वर्णन हुआ है वहाँ एक ही दोहे में अलंकार का लक्षण और फिर उसके भेदों का वर्णन है। इसके बाद पृथक् पृथक् दोहों में आधे भाग में भेद का लक्षण और आधे में उसका उदाहरण रक्खा गया है, यद्यपि कहीं कहीं मुख्य मुख्य अलंकारों के और कहीं कहीं उनके भेदों के लक्षण नहीं दिए गए हैं। उपमा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता जैसे मुख्य अलंकारों के लक्षण नहीं दिए गए, इनके भेदों का स्वरूप अवश्य स्पष्ट किया गया है, परन्तु 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण है उसके भेदों के लक्षण नहीं हैं। 'रूपक' में न तो रूपक का लक्षण है और न उसके भेदों के ही लक्षण दिए गए, हाँ उदाहरण अवश्य दिए गए हैं।

स्मरण, भ्रम, संदेह और दृष्टान्त अलंकारों के वर्णन में उनके नामों में ही लक्षण बताकर उदाहरण दे दिए गए हैं। उनके लक्षणों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। कुवलयानन्द में भी 'दृष्टान्त' को छोड़कर अन्य तीन अलंकारों के लक्षण

इसी भांति किए गए हैं। चन्द्रालोक में भी यही बात देखने को मिलती है।[1]

भाषा-भूषण में अलंकारों का क्रम भी कुवलयानन्द पर ही आधारित है। जिस क्रम से कुवलयानन्द में उनका वर्णन हुआ है, उसी क्रम से यहां भी उनका विवेचन किया गया है। चन्द्रालोक में ऐसा क्रम नहीं पाया जाता। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में अलंकारों के क्रम में व्यतिक्रम हो गया है।

अलंकारों के लक्षण :—

अलंकारों के वर्णन की यह संक्षिप्त शैली उन्हें कण्ठस्थ कर लेने के लिए बड़ी उपयोगी है और इसीलिए हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों में भाषा-भूषण का अधिक आदर रहा है। परन्तु इस संक्षिप्तता के कारण कहीं कहीं अलंकार का स्वरूप अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया और फलतः लक्षण दूषित हो गए हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं

१—चतुर्थ प्रतीप :—वहाँ होता है जहां उपमेय और उपमान के बीच दी जाने वाली समता ही असिद्ध ठहराई जाय।[2] परन्तु भाषाभूषण का लक्षण है :—"उपमेय को उपमान जब, समतालायक नाहिं"। ५१। अर्थात् जहां उपमान, उपमेय की समता के योग्य नहीं होता है वहां यह अलंकार होता है। यहां उपमान को अयोग्य ठहराया गया है, जबकि समानता (उपमा) को अयोग्य ठहराना चाहिए था। यदि इसी लक्षण को इस प्रकार कर दिया जाता :—

उपमेय की उपमान सों समतै लायक नाहिं,

तो लक्षण निर्दोष हो जाता।

२—पंचम प्रतीप :—तब होता है जब उपमेय उपमान का भी भार संभालने में समर्थ हो, इस प्रकार उपमा की व्यर्थता दिखाई जाय।[3] भाषा-भूषण में इसका लक्षण इस प्रकार किया है। :—

व्यर्थ होय उपमान जब, वर्ननीय लखि सार। ५२।

यह लक्षण इतना संक्षिप्त है कि पढ़ने के साथ ही समझ में नहीं आ पाता।

३—प्रतिवस्तूपमा :—जब दोनों समान वाक्यों में एक ही साधारण धर्म का

१—स्यात्स्मृतिभ्रान्तिसन्देहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम्। २४। कुवलयानन्द
स्यात् स्मृतिभ्रान्ति सन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम। ५-३१। चन्द्रालोक
सुमिरन, भ्रम, सन्देह, ये, लच्छन नाम प्रकास। ६०। भाषा-भूषण
अलंकार दृष्टान्त सो, लच्छन नाम प्रमान। ८६। वही

२—वर्ण्येनान्यस्योपमाया अनिष्पत्तिवचश्च तत्। १५। कुवलयानन्द

३—प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते। १६। कुवलयानन्द

पृथक् पृथक् शब्दों से कथन होता है तब यह अलंकार होता है।[१] परन्तु भाषा-भूषण में यह लक्षण अस्पष्ट हो गया है।

प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान। ८५।

यहाँ दोनों वाक्य समान होने पर ही 'प्रतिवस्तूपमा' कहा गया है जो उचित नहीं है। वाक्यों की समानता तो 'दृष्टान्त' में भी होती है। दोउ वाक्य समान कह देने से यहाँ साधारण धर्म का पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा निर्दिष्ट होने का भाव नहीं निकलता जो वास्तव में उसे अन्य अलंकार से स्पष्ट कर सके। अतः कुवलयानन्द के "वाक्योरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता, का अपूर्ण अनुवाद होने के कारण ही यह लक्षण भी अपूर्ण रह गया है।

४—दृष्टान्त :—में दोनों वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का होना आवश्यक होता है। भाषाभूषण कार ने "अलंकार 'दृष्टान्त सो, लच्छन, नाम प्रमान" कहकर उसके नाम में ही उसका लक्षण बता दिया। पर उसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का द्योतन नहीं होता। अतः भाषाभूषणकार का यह लक्षण उचित नहीं है और न उसके नाम में ही लक्षण बताना ठीक है। इस प्रकार का प्रयत्न हास्यास्पद ही समझा जायगा।

५—निदर्शना :—का लक्षण भाषा-भूषण में नहीं है। कुवलयानन्द के अनुसार इसके तीन भेद किए गए हैं। पहले इन भेदों को समझाया गया है, फिर बाद में उदाहरण दिए गए हैं। यह उचित नहीं है। प्रत्येक भेद का लक्षण और उदाहरण साथ साथ होना चाहिए। इसके तीसरे भेद का लक्षण इस प्रकार किया गया हैं :—

कहिए कारज देखि कछु, भलो बुरो फलभाव। ८८। भा० भू०

वस्तुतः 'तृतीय निदर्शना' वहां होती है जहाँ क्रिया द्वारा सत् असत् अर्थों के फल का बोध होता है। परन्तु यहां क्रिया के स्थान पर कारज कर देने से लक्षण में दूषण आ गया है। इसके लिए जो उदाहरण दिया गया है वह भी स्पष्ट नहीं है।[२]

६—७— व्याज स्तुति और व्याज निन्दा :—वस्तुतः 'व्याजस्तुति' के अन्तर्गत ही 'व्याजनिन्दा' आ जाती है। इसी कारण काव्यप्रकाशकार, साहित्यदर्पणकार और चन्द्रालोककार ने भी 'व्याजनिन्दा' को पृथक् अलंकार नहीं माना है। कुवलयानन्द-

---

१—प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्। १०-५०। सा० द०
.... प्रतिवस्तूपमा तु सा।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ॥ १०-१०२। का० प्र०

२—तेजस्वी सों निबल बल, महादेव अरु मैन। ८६। भा० भू०

कार ने अवश्य इन्हें पृथक् पृथक् रूप में वर्णित किया है। इसी के अनुकरण पर हमारे हिन्दी आचार्य ने भी उन्हें अलग अलग दिखाया है। परन्तु अनुकरण करने पर भी तनिक कमी रह ही गई। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द दोनों में लक्षण की शब्दावली एक ही है जिसका भाव है कि जहां निन्दा और स्तुति से क्रमशः, स्तुति और निन्दा का बोध होता है वहाँ 'व्याजस्तुति' अलंकार होता है।[1] काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में भी यही परिभाषा उक्त अलंकार की बताई गई है।[2] यहां 'व्याजेन स्तुतिः' अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुतिमात्र तथा 'व्याजरूपा स्तुतिः' अर्थात् स्तुति का बहाना मात्र किया जाता है। दूसरे शब्दों में जहाँ निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा व्यंग्य होती है वहीं 'व्याजस्तुति' अलंकार होता है। परन्तु भाषाभूषणकार ने—जहां निन्दा के बहाने स्तुति होती है वहीं यह अलंकार होता है—ऐसा माना है। स्तुति से निन्दा के व्यंग्य होने का कथन यहाँ नहीं है।[3] अतः भाषाभूषण का यह लक्षण अधूरा रह जाता है।

'व्याज निन्दा' का लक्षण भाषाभूषण में कहा गया है :—

व्याज निन्दा निंदा विषै, निन्दा औरे होय।

अर्थात् जहाँ निन्दा करने पर अन्य किसी की निन्दा हो। वस्तुतः यह लक्षण 'व्याजस्तुति' के स्तुति द्वारा निन्दा की ही कथनान्तर मात्र है। उसमें कोई नवीनता नहीं जिससे उसे पृथक् अलंकार मानने की आवश्यकता पड़े। यह केवल कुवलयानन्द का अनुकरणमात्र ही है। पर कुवलयानन्द में तो 'व्याजस्तुति' में निन्दा से स्तुति और स्तुति से निन्दा—इन दोनों के उदाहरण देकर दोनों में एक ही अलंकार माना था। और निन्दा से किसी अन्य की निन्दा में 'व्याजनिन्दा' बताया था। पर हमारे आचार्य ने केवल दो बातें कह कर तीनों बातों को मिला लिया, ऐसा जान पड़ता है। जो उचित नहीं है।

वास्तव में मम्मट के अनुसार 'व्याजस्तुति' अलंकार दो प्रकार का है। क्योंकि यहाँ केवल स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा ही विवक्षित नहीं, अपितु निन्दापर्यवसायिनी स्तुति भी अभिप्रेत है। अतः 'व्याजनिन्दा' को उन्होंने पृथक् अलंकार स्वीकार नहीं किया। परन्तु भामह, उद्भट आदि की दृष्टि में 'व्याजस्तुति' एक

१—उक्ति र्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः। ५-७१। चन्द्रालोक
.... । ७०। कुवलयानन्द

२—व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दास्तुतिर्वारूढ़ि रन्यथा। १०-११२। काव्यप्रकाश
उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः। १०-६०। सा० द०

३—व्याजस्तुति निन्दा मिसें, जहाँ बड़ाई होय। १०३। भा० भू०

मात्र निन्दा के ब्याज से स्तुति ही है। इसीलिए उद्भट ने इसका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है :—

शब्दशक्ति स्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता॥

इसका तात्पर्य है कि 'व्याजस्तुति' का चमत्कार इसी में है कि शब्दों की अभिधायक शक्ति भले ही निन्दा का बोध करावे किन्तु पदार्थ-पर्यालोचन के द्वारा जो वाक्यार्थ निकले वह स्तुतिपरक ही हो। इस प्रकार मम्मट के अनुसार तो 'व्याजस्तुति' दो प्रकार की है १—व्याजरूपा स्तुति और २—व्याज से (निन्दा व्याज से) स्तुति। परन्तु भामह एवं उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों की दृष्टि में वह केवल एक प्रकार की है व्याज से—निन्दा के बहाने से—स्तुति।

अतः सम्भव है कुवलयानन्दकार ने 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिन्दा'—ये दो पृथक् पृथक् अलंकार माने हैं। परन्तु 'व्याजस्तुति' के लक्षण में उन्होंने काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के प्रभाव से उन दोनों को सम्मिलित कर दिया। भाषा-भूषणकार ने यहां अनुकरण करते हुए भी समझदारी से काम लिया है। इसीलिए 'व्याजस्तुति, में उन्होंने केवल निन्दा के बहाने स्तुति का ही कथन किया है जैसा कि उद्भट ने कहा है। और 'व्याजनिन्दा' में निन्दा के द्वारा अन्य की निन्दा का होना बताया है।
८—विशेषोक्ति :—जब कारण होने पर भी कार्य नहीं होता, तब यह अलंकार होता है। भाषा-भूषण में जो लक्षण दिया गया है वह उपर्युक्त स्वरूप को सम्पूर्णतया स्पष्ट नहीं करता। पढ़ने के पश्चात् भी समझ मे आने योग्य नहीं है। देखिए :—

विशेषोक्ति जब हेतु सों कारज उपजे नाहिं।

यदि यही शब्दावली इस प्रकार होती है :—

विशेषोक्ति जब हेतु हो कारज उपजै नाहिं।

तो लक्षण में और भी स्पष्टता आ जाती है।

९—गुम्फ :—वस्तुतः यह 'कारणमाला' का ही नामान्तर है। 'कारणमाला' के लक्षण "गुम्फः कारणमालास्यात्"—में जो गुम्फ शब्द आया है, सम्भवतः उसी को लेकर हमारे आचार्य ने इसका नाम भी 'गुम्फ' ही कर दिया है। इसका लक्षण निर्दोष है।। हाँ इसके जो दो भेद -१- पूर्व पूर्व के पद कारण और उत्तर उत्तर के कार्य -२- पूर्व पूर्व पद के कार्य और उत्तर उत्तर के कारण बताए गए हैं, उनका वर्णन यहाँ नहीं हुआ है। केवल एक का उदाहरण तो दिया गया है, दूसरे का नहीं। कुवलयानन्द की वृत्ति में दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिया गया है।

१०—विकल्प :—तुल्यबल वाली वस्तुओं में जहां विरोध होता है वहां 'विकल्पालंकार' होता है। भाषा-भूषण ने जो इसका निम्नलिखित लक्षण किया है वह अपूर्ण है।

है विकल्प यह कै वहै, इह विधि को बिरतंत । १४५ ।

क्योंकि यहां तुल्यबल वाली वस्तुओं का कथन नहीं है । 'यह या वह' इस सामान्य कथन से ही लक्षण पूर्ण नहीं हो जाता ।

११ – प्रत्यनीक :—जब प्रबल शत्रु से जीत न सकने के कारण उसके मित्र पर बल दिखाया जाय, तब यह अलंकार होता है । भाषाभूषणकार ने इसके लक्षण में कुवलयानन्द का अनुवाद किया है यथा :—

प्रत्यनीक सो प्रबल रिपु ताहित सों करि जोर । १५० ।

प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः । ११६ । कुवलयानन्द

परन्तु यह अनुवाद कुछ दुरुह हो गया है । इसमें 'ताहित सों' पद तब तक समझ में नहीं आ सकता जब तक उसकी व्याख्या न की जाय । इसी कारण यह लक्षण ठीक होते हुए भी अनुवाद की दुरुहता के कारण अस्पष्ट हो गया है ।

१२—काव्यार्थापत्ति :—जब वह हो गया तो यह क्या है ऐसा कथन जहाँ होता है वहीं यह अलंकार होता है । इसमें 'दण्डपूपिका न्याय' या 'कैमुक्त न्याय' होता है । 'दण्डपूपिका न्याय'–डण्डा खींचने से उसमें बंधे हुए या रक्खे हुए पूए भी खिंच आते हैं । 'कैमुक्त न्याय–तब होता है जब यह कहा जाय कि उसका क्या कहना है (वह क्या है–कुछ नहीं) । भाषा-भूषण की जहाँ कुछ प्रतियों में इसके लक्षण में 'कैमुक्त न्याय' का कथन है वहाँ यह लक्षण निर्दोष है, परन्तु अन्यत्र उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

काव्यार्थापत्ति कौं सबै, इह विधि बरनत जात । १५१ । भा० भू०

पं० विश्वनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित प्रति

यहाँ न तो 'कैमुक्त न्याय' ही है और न 'दण्डपूपिका न्याय' ही । अतः लक्षण निर्दोष नहीं कहा जा सकता ।

१३—उदात्त :—का जो लक्षण भाषाभूषण में किया गया है, वह अपूर्ण ही है । वह इस प्रकार है :–

उपलच्छन दै सोधिए, अधिकाई सु उदात्त । १६१ । भा० भू०

यह वास्तव में कुवलयानन्द के "उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाध्यं चान्योपलक्षणम्" लक्षण का अस्पष्ट अनुवाद है । इसके लिए दिए गए उदाहरण[1] से भी इस लक्षण को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती । 'मिथ्यावध्यवसिति' का लक्षण भी अनुवाद की अस्पष्टता के कारण ही बिल्कुल अस्पष्ट हो गया है ।

इस प्रकार कुछ सदोष अथवा अस्पष्ट लक्षणों वाले अलंकारों का यह उपर्युक्त दिग्दर्शन कराया गया है । परन्तु सभी लक्षण इसी प्रकार के नहीं हैं ।

१—तुम जाके बस होतहो, सुनत तनिक सी बात । १६१ । भा० भू०

कुछ लक्षण तो आधार-ग्रंथ की अपेक्षा भी बड़े सरल और स्पष्ट हैं। अनन्वय, समासोक्ति, परिकर और परिकराङ्कुर अलंकार ऐसे ही हैं।

'अनन्वय' के लिए संस्कृत-ग्रन्थों में बताया गया है कि जहां एक ही वस्तु उपमेय और उपमान बन जाती है। वहीं 'अनन्वय' होता है। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उपमेय को ही उपमान बनाने वाली बात कहकर इसके लक्षण को और भी सरल बना दिया गया है।

समासोक्ति आदि के लक्षण कुवलयानन्द अथवा चन्द्रालोक के ही अनुवाद-मात्र हैं। ये अनुवाद बड़े सरल और सार्थक हुए हैं। अन्य परवर्ती आचार्यों ने ऐसे सुन्दर अनुवाद कम ही किए हैं।

१—समासोक्ति अप्रस्तुत जु, फुरै सु प्रस्तुत मांझ। ९४। भा० भू०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्। ६१। कुवलयानन्द
२—है परिकर आसय लिए, जहां विसेसन होय। ९५। भा० भू०
अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। ६२। कुवलयानन्द
३—साभिप्राय विशेष जब, परिकर अंकुर नाम। ९६। भा० भू०
४—साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः। ६३। कुवलयानन्द

यहाँ 'फुरै' और 'आसय लिए' जो क्रमशः 'परिस्फूर्ति' और 'साभिप्राय' के अनुवाद हैं, दर्शनीय हैं। 'परिकराङ्कुर' साभिप्राय शब्द को ज्यों का त्यों रख दिया गया है।

इस प्रकार अधिकांशतः भाषा-भूषण के लक्षण संक्षिप्त और समीचीन हैं, कहीं कहीं जहाँ अनुवाद के कारण कुछ दुरूहता आ गई है अथवा संक्षिप्त शैली अपनाने के कारण अस्पष्टता आ गई है वहाँ अवश्य कुछ विकृति अस्पष्टता के रूप में आ गई है। अन्यथा सभी लक्षण सरल और सुबोध हैं। इसी सरलता और सुबोधता के कारण ही भाषा-भूषण अलंकार के विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है।

अलंकारों के उदाहरण :—

वस्तुतः भाषा-भूषण के प्रायः सभी उदाहरण स्पष्ट और बोधगम्य हैं। हाँ, कतिपय उदाहरणों में अवश्य कुछ अस्पष्टता लक्षित होती है। दो एक उदाहरण देखिए :—

१—धर्मवाचकोपमानलुप्ता :—इसका जो उदाहरण दिया गया है वह शास्त्रीय विचार से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

कारन-मूरति पेखि। ४५।

यहाँ केवल उपमेय (कारनमूर्ति-नायिका) है, अन्य तीनों अंगों का लोप है। इस दृष्टि से उदाहरण ठीक कहा जा सकता है। परन्तु यहाँ ऐसा कोई शब्द

नहीं है जिससे यह मालूम हो सके कि कवि यहाँ कोई उपमा देना चाहता है। अन्यथा ऐसी त्रिलोपा उपमा सर्वत्र बनने लगेगी। इसी का शुद्ध उदाहरण देखिए :—

अति अनूप जहाँ जनक – निवासू।

यहाँ 'अनूप' शब्द उपमेय की समता दिखाने की कवि की इच्छा को प्रकट कर रहा है। परन्तु भाषा-भूषण के उदाहरण में ऐसा कोई शब्द नहीं है। अतः हम उसे शास्त्रीय दृष्टि से उचित उदाहरण नहीं कह सकते, भले ही वह लक्षण के अनुकूल हो।

२—विशेषोक्ति :—कारण के होने पर भी कार्य के न होने में यह अलंकार होता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित है :–

नेह घटत हैं नहिं तऊ, काम-दीप घट माहिं। ११५

यहाँ काम दीप में जलते रहने पर भी स्नेह (तेल) कम नहीं होता है। अतः जलते रहने का कारण होते हुए भी तेल घटने का काम न होने से 'विशेषोक्ति' है। परन्तु यहाँ जलते रहने रूप कारण का उल्लेख न होने से उदाहरण अपूर्ण रह गया है। यह कुवलयानन्द के "हृदि स्नेहक्षयोनाभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि" इस उदाहरण का अपूर्ण अनुवाद है। इसका शुद्ध रूप यों हो सकता था :—

नेह घटत नहिं, जले पर, काम-दीप-घट माहिं।

३—माला दीपक :—'दीपक' और 'एकावली' के संयोग से यह अलंकार होता है। उदाहरण है :—

काम-धाम तिय-हिय भयौ, तिय-हिय को तू धाम।

यहाँ 'काम का धाम तिय हिय' और 'तिय-हिय का धाम तू' कहने में दो वाक्यों का एक पद (धाम) से अन्वय होने से 'दीपक' है और गृहीत-मुक्त रीति होने से 'एकावली भी है, अतः इन दोनों का संयोग होने से 'माला दीपक' अलंकार है। परन्तु इस उदाहरण में दूसरा 'धाम' शब्द निरर्थक है। इस कारण अलंकार का लक्षण इसमें ठीक ठीक घटित नहीं हो पाता।

४—लोकोक्ति :—जहाँ किसी लोक-प्रवाद (कहावत) का कथन होता है, वहाँ यह अलंकार होता है। इमका उदाहरण इस प्रकार कहा गया है :—

नैन मूंदि षट्मास लौं, सहि यों विरह विषाद। १२६।

यहाँ 'नैन मूंद कर सहना' वास्तव में मुहावरा है, लोकोक्ति या कहावत नहीं है। अतः लोकोक्ति की अनुपस्थिति में इसे सुष्ठु उदाहरण नहीं कहा जा सकता।

५—प्रतिषेध :—का उदाहरण है।

मोहन कर मुरली नहीं, है कछु बड़ी बलाय। १६४।

यह उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि यहां किसी निषिद्ध अर्थ का पुनः निषेध किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के विचार से किया जाता है। ऊपर के उदाहरण में यदि यह होता कि 'यह बन्ना नहीं मुरली है', तो प्रतिषेध बन जाता। पर वैसी दशा में दोहे का अर्थ असंगत हो जाता।

परन्तु ऐसे अस्पष्ट उदाहरण नगण्य ही हैं। वस्तुतः सभी उदाहरण सुन्दर सरल और संक्षिप्त हैं। कतिपय उदाहरणों में उस युग की शृंगारपरक वृत्ति की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है देखिए :—

क—शुद्धापन्हुति :—उर पर नाहिं उरोज ये, कनकलताफल मानि। ६२।

ख—छेकापन्हुति :—करत अधर छत, पिय ! नहीं, सखी सीत रितु वाय। ६६।

विषादन का उदाहरण तो अश्लील ही हो गया है :—

नीवी परसत स्रुति परी चरनायुध धुनि आय। १६२।

अर्थात् नायिका की धोती की नीवी (गांठ) का स्पर्श करते ही नायक के कानों में मुर्गे की आवाज सुनाई पड़ी।

भाषा-भूषण के प्रायः सभी उदाहरण संस्कृत-ग्रन्थों से अनूदित हैं। कुछ उनके स्वतंत्र उदाहरण भी हैं, ये स्वतंत्र उदाहरण अनूदित की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं। अनन्वय, तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम प्रतीप, शुद्ध एवं छेकापन्हुति, उत्प्रेक्षा, भेदकातिशयोक्ति, तृतीय निदर्शना, व्यतिरेक, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, व्याजनिन्दा, विरोधाभास, तृतीय एवं चतुर्थ विभावना, असंगति, विषम, सम, प्रथम विशेष, प्रथम पर्याय, विकल्प, अर्थान्तरन्यास, विकस्वर, मिथ्याध्यवसिति, अवज्ञा, मुद्रा, अनुगुण, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और निरुक्ति अलंकारों के उदाहरण कवि के अपने ही हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ उदाहरणों में अनुवाद होते हुए भी स्वतंत्रता से काम लिया गया है। रूपक, द्वि० उल्लेख, स्मृति, सन्देह, निदर्शना, सहोक्ति, प्रस्तुताङ्कुर सामान्य और द्वितीय हेतु अलंकारों के उदाहरण ऐसे ही हैं। कुछ की बानगी भी देख लीजिए :—

अधिक तद्रूप रूपक—मुख ससि वा ससि तें अधिक, उदित जोति दिनरात।

५४। भा० भू०

अयं कलंकिनश्चन्द्रान्मुखचन्द्रोऽतिरिच्यते ॥ २०। कु०

स्मरण :—सुधि आवति वा बदन की, देखें सुधानिवास । ६० । भा० भू०
पंकजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः । २४ । कुवलयानन्द

सहोक्ति :—कीरति अरिकुल संग ही, जलनिधि पहुँची जाई । ६१ । भा० भू०
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह । ५८ । कुवलयानन्द

प्रस्तुताङ्कुर :—कहाँ गयो अलि केवरे, छाँड़ि सुकोमल जाइ । १०० । भा० भू०
किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टककेद्धया । ६७ । कु०

इनके अतिरिक्त अन्य सभी अलंकारों के उदाहरण कुवलयानन्द के उदाहरणों के शब्दशः अनुवादमात्र हैं, उनमें कोई विशेषता नहीं है ।

कुछ स्थलों पर जहाँ अलंकारों के भेद किए गए हैं वहाँ उन भेदों के लक्षण एक साथ दे दिए गए हैं और फिर पृथक रूप से उदाहरण भी एक साथ रख दिए गए हैं । जहाँ तीन भेद हैं वहां तीसरे भेद के लक्षण के साथ प्रथम भेद का उदाहरण एक ही दोहे में रख दिया गया है, जो और भी भ्रम उत्पन्न कर देता है । असंगति, विषम, सम इत्यादि के भेदों के लक्षण और उदाहरण इसी रूप में हैं । वास्तव में यह प्रणाली स्वस्थ नहीं कही जा सकती । होना यह चाहिए कि एक भेद के लक्षण के साथ ही उसका उदाहरण भी दे दिया जाय । ऐसा करने से भेदों के समझने में बड़ी सरलता रहती हैं । 'अपन्हुति' और 'अतिशयोक्ति' के भेदों के लक्षण और उदाहरण इसी भांति वर्णित किए गए हैं ।

शब्दालंकार

शब्दालंकारों का वर्णन अन्तिम पांचवें प्रकाश में अर्थालंकारों के पश्चात् किया गया है । वैसे तो शब्दालंकार अनेक हैं जो अक्षरों के संयोग से बन जाते हैं, परन्तु कवि की दृष्टि में भाषा के योग्य केवल 'अनुप्रास' ही है जो छह प्रकार का बताया गया है, उसी का विवेचन कवि ने किया है, अन्य का नहीं[१] । इससे ऐसा जान पड़ता है कि कवि की रुचि शब्दालंकारों के वर्णन की नहीं रही है, उसका चित्त अर्थालंकारों के विवेचन में ही अधिक रमा है ।

'अनुप्रास' का लक्षण कवि ने नहीं लिखा है, परन्तु यमक को भी इसका भेद मान लेने से कवि ने इसे व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है, ऐसा प्रतीत होता है । 'अनुप्रास' के वास्तव में चार भेद किए गए हैं :—

१—छेकानुप्रास, २—लाटानुप्रास, ३—यमकानुप्रास तथा ४—वृत्यनुप्रास ।

१—सब्दालंकृत बहुत है, अच्छर के संजोग ।
अनुप्रास षट्विध कहे, जे हैं भाषा जोग ।। २०६ ।।

वृत्यनुप्रास के तीन भेद बताए गए हैं। १—उपनागरिका वृत्यनुप्रास, २—परुषा वृत्यनुप्रास और ३—कोमला वृत्यनुप्रास। इस प्रकार कुल मिलाकर छह भेद हो जाते हैं।

अनुप्रासों का वर्णन कवि के आधार-ग्रन्थ चन्द्रालोक में भी है, परन्तु वहां अनुप्रास के अतिरिक्त पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक और चित्र का भी विवेचन किया गया है। 'यमक' को यहाँ 'अनुप्रास' का भेद नहीं बताया गया। इसके अतिरिक्त वहाँ 'अनुप्रास' के 'स्फुटानुप्रास' और 'अर्थानुप्रास'—ये दो और भी भेद बताए गए हैं, उनकी यहाँ चर्चा तक भी नहीं है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने अनुप्रासों के वर्णन में चन्द्रालोक से तनिक भी सहायता नहीं ली। हां; मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव अवश्य उन पर परिलक्षित होता है।

छेकानुप्रास :—का लक्षण इस प्रकार किया गया है :—

आवृत्ति धर्म अनेक की, दोय दोय जब होय।
है छेकानुप्रास, स्वर-समता बिनहू सोय। १६८।

इस लक्षण में काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण का सम्मिलित प्रभाव दिखाई पड़ता है। काव्यप्रकाशकार ने "वर्णसाम्यमनुप्रासः—सोऽनेकस्य सकृत-पूर्वः" कहकर जो लक्षण किया है उसके 'अनेकस्य' एवं 'वर्णसाम्यं' की छाया हमें प्रकृत लक्षण 'आवृत्ति वर्न अनेक की' में स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। काव्यादर्श में भी यही बात कही गई है। वर्णावृत्तिरनुप्रासः। साहित्यदर्पण के "अनुप्रासः शब्द-साम्यं वैषम्ये पि स्वरस्य यत्" 'में के वैषम्ये पि स्वरस्य' की छाया 'स्वर-समता बिनहू' में लक्षित हो रही है। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों का सार लेकर भाषा-भूषणकार ने उपर्युक्त लक्षण बनाया है जो सर्वथा निर्दोष है। चन्द्रालोक के लक्षण की शब्दावली बिल्कुल भिन्न है[1] उसका तनिक भी प्रभाव यहाँ नहीं है।

लाटानुप्रास :—सो लाटानुप्रास जब पद की आवृत्ति होय।
सब्द अर्थ के भेद सों भेद बिनाहू सोय॥

यहाँ भी काव्य प्रकाश का ही प्रभाव है। काव्यप्रकाशकार ने "शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः" कहकर लाट के समानार्थक शब्दों में तात्पर्यमात्र से भेद का कथन किया है। साहित्यदर्पणकार ने भी मम्मट के आधार पर "शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः" कहकर उक्त कथन का समर्थन किया है। भाषाभूषणकार ने इसी को लेकर अपना लक्षण बनाया। उनके "शब्द अर्थ के भेद सौं भेद बिनाहू सोय" में यह तात्पर्यमात्र से भेद वाले कथन की छाया स्पष्ट

१—स्वरव्यंजनसन्दोहव्यूहा सन्दोहदोहदा।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रास भासुरा॥ ५-२॥ चन्द्रालोक

है। उनका यह लक्षण साहित्यदर्पण के लक्षण से बहुत साम्य रखता है। चन्द्रालोक का लक्षण तो बड़ा दुरूह है। देखिए :—

लाटानुप्रासभूर्भिन्नाभिप्राया पुनरुक्तता। ५-४। चन्द्रा०

यमकानुप्रास :—

जमक, सब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि। २०२।

यहां 'शब्द को फिरि स्रवन' में काव्य प्रकाश के "वर्णानां सा पुनः श्रुतिः", की छाया स्पष्ट है।

वृत्यनुप्रास :—

काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण तथा चन्द्रालोक में छेकानुप्रास के पश्चात् ही 'वृत्यनुप्रास' आया है, पर भाषा भूषण में इसे सबसे अन्त में रक्खा गया है। इसका कोई कारण समझ नहीं पड़ता, कवि की रुचि विशेष ही जान पड़ती है। यहां उपनागरिका, परुषा और कोमला तीनों वृत्तियों का भी वर्णन है। चन्द्रालोक तथा साहित्यदर्पण में इनका विवेचन नहीं हैं। हाँ, काव्यप्रकाश में अवश्य है। अतः इस विषय में भाषा-भूषणकार मम्मट से प्रभावित जान पड़ते हैं।

इस प्रकार इन शब्दालंकारों के वर्णन में चन्द्रालोक का प्रभाव तनिक भी नहीं है। हां, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का प्रभाव अवश्य कहा जा सकता है।

भाषाभूषणकार जसवन्तसिंह और संस्कृत आचार्यः—

भाषा-भूषणकार ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि शब्द और अर्थ सम्बन्धी जो १०८ अलंकार हैं, उन्हें मैंने संस्कृत-ग्रन्थ देखकर भाषा (हिन्दी-ब्रज) में लिखा है।[1] इससे स्पष्ट विदित होता है कि भाषाभूषण मौलिक रचना नहीं है, अपितु संस्कृत-ग्रन्थों को देखकर ही इसकी रचना की गई है। अतः संस्कृत-ग्रन्थों का प्रभाव उस पर होना स्वाभाविक ही है। जैसा कि शब्दालंकार शीर्षक में दिखाया जा चुका है, भाषाभूषण के शब्दालंकारों पर मम्मट के काव्यप्रकाश और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का प्रभाव स्पष्ट है। अर्थालंकार भी कुवलयानन्द और चन्द्रालोक से इतने अधिक प्रभावित हैं, यदि कहा जाय कि भाषा-भूषण कुवलयानन्द का एक प्रकार से अनुवाद ग्रन्थ है तो अतिशयोक्ति न होगी। क्योंकि कुछ अलंकारों को छोड़कर सर्वत्र उसके लक्षण यहां तक कि उदाहरण भी उसके अनुवाद ही हैं। यह बात दूसरी है कि यह अनुवाद कहीं २ अस्पष्ट और दुरूह हो गया है, और कहीं उस अनुवाद में कवि ने स्वतंत्रता से

१— अलंकार शब्दार्थ के कहे एक सौ आठ।
किए प्रकट भाषा विषै, देखि संस्कृत पाठ॥ २०८॥

भी काम लिया है, पर अधिकतर कुवलयानन्द का शब्दशः अनुवाद ही है। यहां तक की वृत्ति में दिए हुए उदाहरण का अनुवाद भी एक स्थल पर दिया गया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-भूषण की रचना करते समय कुवलयानन्द अवश्य ही उनके समक्ष था।

अलंकारों की वर्णन-शैली, उनके नाम, क्रम एवं भेद तो प्रायः वैसे ही ज्यों के त्यों हैं जैसे कि कुवलयानन्द में हैं, यह तत्सम्बन्धी शीर्षकों में पीछे बताया जा चुका है। यहाँ अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों की बानगी भी देख लीजिए :—

१—उल्लेख :—सो उल्लेख जु एक कौं, बहु समुझैं बहु रीति। ५८। भा० भू०
बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। २२ कु०

२—शुद्धापन्हुति :—धर्म दुरै आरोप तें, सुद्धापन्हुति जानि। ६२। भा० भू०
शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हव :। २६। कु०

इसी प्रकार हेत्वपन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, कैतवापन्हुति के लक्षण भी दर्शनीय हैं।

३—सम्बन्धातिशयोक्ति :—सम्बन्धातिसयोक्ति जहं, देत अजोगहि जोग। ७३। भा० भू०
सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयागे योगकल्पनम्। ३९। कु०

४—अक्रमातिशयोक्ति एवं चपलातिशयोक्ति के लक्षण भी दृष्टव्य हैं।

५—सहोक्ति :—सो सहोक्ति दुहुँ (सब) साथ ही, वरनै रस सरसाइ। ९१। भा० भू०
सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः। ५८। कु०

६—समासोक्ति :—समासोक्तिः अप्रस्तुत जु फुरै सु प्रस्तुत मांझ। ९४। भा० भू०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्। ६१। कु०

७—परिकर :—है परिकर आसय लिए, जहाँ विसेसन होय। ९५। भा० भू०
अलंकारः परिकरः, साभिप्राये विशेषणे। ६२। कु०

८—परिकराङ्कुर :—साभिप्राय विशेष्य जब, परिकर अंकुर नाम। ९६। भा० भू०
साभिप्राये विशेष्ये तु, भवेत्परिकराङ्कुरः। ६३। कु०

९—प्रस्तुतांकुर :—प्रस्तुत अंकुर है किए, प्रस्तुत में प्रस्ताइ। १००। भा० भू०
प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। ६७। कु०

१०—अल्प :—अल्प अल्प आधेय तें, सूछम होय अधार। १२९। भा० भू०
अल्पं तु सूक्ष्माधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता। ९७। कु०

उपर्युक्त इन अलंकारों के लक्षण कुवलयानन्द के शब्दशः अनुवाद ही हैं। इसी प्रकार अन्योन्य, विशेष, गुम्फ, एकावली, मालादीपक, सार, पर्याय, परिसंख्या, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, विकस्वर, प्रौढ़ोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण, विषादन, उल्लास, लेश, रत्नावली, तद्गुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, लोकोक्ति,

छेकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि तथा हेतु आदि अलंकार इसी दृष्टि से दृष्टव्य हैं। अन्य अलंकार या तो छायानुवाद हैं या भावानुवाद।

उदाहरण :—अलंकारों के उदाहरण शीर्षक में कुछ अलंकारों के उदाहरणों पर प्रकाश डाला जा चुका है। कुछ के उदाहरण यहाँ भी तथ्य-निर्णय के लिए दिए जाते हैं।

१—उल्लेख :—अर्थिन सुरतरु, तिय मदन, अरि कौं काल प्रतीति। ५८। भा० भू०
स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वर्द्रुः कालः शत्रुभिरैक्षिसः। २२ कु०।

२—हेत्वपन्हुति :—तीव्र चन्द नहिं रैन रवि, बड़वानल ही जोय। ६३। भा० भू०
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः, सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः। २७। कु०

३—कैतवापन्हुति :—तीछन तीय-कटाछ मिसु, बरसत मन्मथ बान। ६७। भा० भू०
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात्। ३१। कु०

४—असम्बन्धातिशयोक्ति :—तो कर आगे कलपतरु, क्यों पावै सनमान। ७४। भा० भू०
त्वयि दातरि राजेन्द्र! स्वर्द्रुमान्नाद्रियामहे। ४०। कु०

५—दीपक :—गज मद सौं नृप तेज सौं, सोभा लहत बनाय। ८१। भा० भू०
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः। ४८। कु०

६—दीपकावृत्ति :—मत्त भये हैं मोर अरु, चातक मत्त सराहि। ८४। भा० भू०
माद्यन्ति चातकास्तृप्ता माद्यन्ति च शिखावलाः। ५०। कु०

७—प्रतिवस्तूपमा :—आभा सूर प्रताप तें, सोभा सूर कमान। ८५। भा० भू०
तापेन भ्राजते शूरः, शूरश्चापेन राजते। ५१। कु०

८—व्याजस्तुति :—स्वर्ग चढ़ाए पतित ले, गंग कहा कहों तोय। १०३। भा० भू०
कः स्वर्धुनि विवेकस्ते पापिनो नयसे दिवम्। ७०। कु०

९—विभावना :—बिनु जावक दीनै चरन, अरुन लखे हैं आज। १०९। भा० भू०
अप्यलाक्षारसासिक्तं रक्तं तच्चरणद्वयम्। ७७। कु०

१०—अन्योन्य :—ससि सों निसि नीकी लगे, निसि ही सौं ससि सार। १३०। भा० भ०
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया। ९८। कु०

११—विकल्प :—करिहै दुख को अंत अब, जम कै प्यारो कन्त। १४५। भा० भू०
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति।
"विकल्प की वृत्ति का उदाहरण। कु०

यह 'विकल्प' का उदाहरण कुवलयानन्द की वृत्ति में दिए गए श्लोक का अविकल अनुवाद है। इसके अतिरिक्त रूपक, परिणाम, स्मरण, पर्यस्तापन्हुति, भ्रान्त्य-

पन्हुति, फलोत्प्रेक्षा, सापन्हवातिशयोक्ति, सम्बन्धातिशयोक्ति, अक्रमातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, प्रथम निदर्शना, दृष्टान्त, सहोक्ति, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, प्रथम एवं द्वितीय आक्षेप, असम्भव, प्रथम द्वितीय विषम, सम, विचित्र, प्रथम अधिक, अल्प, व्याघात, गुम्फ, एकावली, मालादीपक, सार, यथासंख्य, द्वितीय पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, समुच्चय, कारक दीपक, समाधि, अर्थापत्ति, काव्यलिंग, प्रौढ़ोक्ति, सम्भावना ललित, प्रहर्षण, उल्लास, अनुज्ञा, लेख, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित, विशेषक, गूढ़ोत्तर, सूक्ष्म, पिहित, लोकोक्ति, अत्युक्ति, प्रतिषेध, विधि एवं हेतु अलंकारों के उदाहरण भी कुवलयानन्द के उदाहरणों के अनुवाद मात्र हैं। इनमें से कतिपय उदाहरणों में कवि ने यत्र तत्र अपनी स्वतंत्रता का उपयोग भी किया है। बहुत ही थोड़े उदाहरण ऐसे हैं जो कवि के अपने कहे जा सकते हैं।

लक्षणों के अनुवाद की बात दूर रही, उदाहरणों के अनुवाद देखकर तो यह धारणा सी बन जाती है कि भाषाभूषणकार ने एक प्रकार से कुवलयानन्द का भाषा में उलथा भर कर दिया है। अपना कहने को उसमें इतना स्वल्प है कि उसे प्रभावित मात्र ग्रंथ कहने को जी नहीं करता। वृत्ति तक में दिए गए उदाहरणों का अनुवाद तो इस तथ्य की और भी पुष्टि कर देता है।

मतिराम, भूषण और पद्माकर आदि अन्य परवर्ती हिन्दी आलंकारिकों ने अलंकारों के लक्षण तो अवश्य ही संस्कृत-ग्रन्थों से अनूदित किए हैं, पर उदाहरण उन्होंने अपने ही दिए हैं किन्तु भाषाभूषणकार ने तो उदाहरणों तक के, केवल मूल अलंकारों के उदाहरणों के ही नहीं, अपितु उनके भेदों तक के उदाहरणों के अनुवाद करके अपने भाषा-भूषण को एक प्रकार से अनूदित ग्रन्थ ही बना डाला। सम्भवत: उनके "किए प्रगट भाषा विषै, देखि संस्कृत पाठ", का यही आशय रहा हो। संस्कृत में तो इस प्रकार के अलंकार ग्रन्थों की कमी थी ही नहीं, हाँ; भाषा में यह कमी अवश्य थी। शायद उसी कमी को पूरा करने के लिए ही उन्होंने यह प्रयत्न किया हो। ऐसे ग्रंथ की भाषा में बड़ी कमी थी जिसके द्वारा अलंकारों के लक्षण और उदाहरण सरलता से कण्ठस्थ किए जा सकें। इस प्रकार का ग्रंथ संस्कृत में कुवलयानन्द के अतिरिक्त और कौन हो सकता था, जिसमें इतने अधिक अलंकारों का विवेचन ऐसी सरल शैली में किया गया हो। अत: इसी ग्रंथ का एक प्रकार से अनुवाद करके उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की तथा उसमें शब्दालंकारों की जो कमी थी, उसे भी यथाशक्ति काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण जैसे संस्कृत-ग्रंथों से सहायता लेकर पूरा करने का प्रयास किया।

इस प्रकार मेरी धारणा के अनुसार एक प्रकार से अनूदित ग्रन्थ (अनुवाद-मात्र नहीं, क्योंकि यत्र-तत्र कवि ने अपनी स्वतंत्रता का भी परिचय दिया है) होते हुए भी भाषा-भूषण में 'तुल्ययोगिता' के प्रथम भेद (जहाँ हित और अहित में

व्यवहारतुल्यता होती है) में सरस्वतीकण्ठाभरण का, 'व्याजस्तुति' के लक्षण में उद्भट का प्रभाव भी जान पड़ता है।

इतना ही नहीं, अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से भी भाषा-भूषण अछूता नहीं रह पाया। कतिपय उदाहरणों में उस युग की शृंगारिकता की छाया स्पष्ट है (देखो-शुद्धापन्हुति, छेकापन्हुति, कैतवापन्हुति, एवं विषाद)।

मूल्यांकन :—भाषा-भूषण हिन्दी-भाषा का अपने ढंग का अकेला और अनोखा ग्रंथ है। यद्यपि इसमें नायकनायिकाभेद एवं रस भाव आदि का भी वर्णन है, पर यह वर्णन इतना थोड़ा और चलताऊ है कि उसे ध्वनिवादी या रसवादी आचार्यों का दृष्टिकोण रखने वाला ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। यह तो वस्तुतः अलंकार-सम्प्रदाय का ग्रंथ है क्योंकि इसमें जो अलंकारों का विस्तृत वर्णन है, वह इसी बात की ओर सकेत करता है। अतः चन्द्रालोक से परिचित होते हुए भी कवि ने सामान्यतः कुवलयानन्द का ही अनुकरण किया है। मूल में चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का आधार होते हुए भी संस्कृत के दूसरे ग्रन्थों—काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण—का भी उस पर प्रभाव है।

भाषा-भूषण में कुछ अलंकारों के भेदों का तो पूर्ण वर्णन है, पर उनके मूल का कोई लक्षण आदि नहीं है। यह एक बड़ी कमी है। उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति और निदर्शना आदि ऐसे ही अलंकार हैं। यद्यपि कहीं कहीं लक्षणों के अनुवाद में मूल की शब्दावली को रखने के प्रयास में कुछ दुरूहता एवं अस्पष्टता भी आ गई है (देखो एकावली, प्रत्यनीक, मिथ्याध्यवसिति, उदात्त आदि) तथापि कुछ लक्षण बड़े सरल और स्पष्ट हैं (दे० अनन्वय, परिणाम आदि)।

अनेक लक्षण और उदाहरण कवि ने अपने स्वतंत्र रूप में भी दिए हैं, (देखो उपमा, अप्रस्तुत प्रशंसा, पर्यायोक्ति, विरोधाभास आदि के उदाहरण)। ये स्वतन्त्र लक्षण एवं उदाहरण भी बड़े सरल और स्पष्ट हैं। जहाँ उदाहरणों में आधार-ग्रन्थ की छायामात्र है, वहाँ वे मूल से भी अधिक सरस और आकर्षक हुए हैं।

लक्षण और उदाहरणों में दो प्रकार का समन्वय दिखाई पड़ता है, एक तो लक्षण और उदाहरण का कथन एक ही दोहे में (जैसे व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर आदि अनेक अलंकार) दूसरे अलंकार के अनेक भेदों और उनके लक्षणों का वर्णन एक दोहे में तथा उनके उदाहरण अन्य दोहों में (जैसे :— विनोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति आदि)। इस दूसरे प्रकार के समन्वय में एक बात और दृष्टव्य है। वह यह कि जहाँ तीन भेद किसी अलंकार के हैं वहाँ एक दोहे में दो भेदों और उनके लक्षण तथा दूसरे दोहे की प्रथम पंक्ति

में तीसरे भेद का लक्षण और उसी की दूसरी पंक्ति में पहले भेद का उदाहरण (दे० निदर्शना, आक्षेप, असंगति आदि)। इस प्रकार के लक्षण-उदाहरण-समन्वय में अलंकारों को समझने में भ्रम हो जाने की सम्भावना अधिक है। परन्तु जहाँ तीन से अधिक भेद हैं वहाँ प्रथम प्रकार का ही समन्वय देखने में आता है। अपन्हुति अतिशयोक्ति और विभावना में ऐसा ही समन्वय पाया जाता है।

इस प्रकार भाषा-भूषण अनुवाद और मौलिकता का मिश्रण (अनुवाद अधिक, मौलिकता नाममात्र को है) होते हुए भी अपने ढंग का अद्वितीय ग्रंथ है। इसकी रचना वास्तव में लक्षण और उदाहरणों के सौकर्य के लिए की गई है। इसी कारण उसकी सरल, सुबोध और संक्षिप्त शैली ने उसे अलंकार-जिज्ञासु-विद्यार्थियों के लिए बड़ा ही उपयोगी बना दिया। इसी उपयोगिता के फलस्वरूप यह ग्रंथ हिन्दी-अलंकार-जगत में इतना लोक-प्रिय बन सका।

कविकुल कल्पतरु : चिन्तामणि (वि० सं० १७०७)

रीतिकाल के प्रथम आचार्य श्री चिन्तामणि ने वि० सं० १७०७ में[१] 'कविकुलकल्पतरु' नामक काव्यशास्त्र का प्रणयन किया था। इस ग्रन्थ में आठ प्रकरणों में गुण, दोष, शब्दशक्ति, अलंकार आदि काव्य के विविध अंगों का विवेचन पाया जाता है। प्रथम प्रकरण में काव्य के स्वरूप और गुणों का वर्णन ८१ छन्दों में किया गया है, द्वितीय प्रकरण में ३७ छन्दों में शब्दालंकारों का, तृतीय में ३२० पदों में अर्थालंकारों का, चतुर्थ में ९७ छन्दों में काव्यदोषों का, पंचम प्रकरण में २४ छन्दों में वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्यार्थ आदि शब्दार्थ का, २५३ छन्दों में नायिकादि का, ५३ छन्दों में नायक का, षष्ठम प्रकरण में ८९ छन्दों में संचारी भावों का, सप्तम में ६४ छन्दों में हाव भाव आदि का तथा अष्टम प्रकरण के १६९ छन्दों में रसादिक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल आठ प्रकरण और और लगभग ११८७ छन्द हैं।

'कविकुलकल्पतरु' की रचना का आधार अनेक संस्कृत-ग्रन्थ हैं, पर विशेषतः काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण का प्रभाव उस पर अधिक है। संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करने के पश्चात् ही चिन्तामणि ने उन्हीं के आधार पर इस भाषा-ग्रन्थ की रचना की है :—

जो सुरवानी ग्रन्थ हैं तिनको समुझि विचार।
चिंतामनि कवि कहत हैं भाषा कवित्त विचार ॥ १-३ । क० कु० क०

१—हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृष्ठ ७४।

चिन्तामणि ने अपने इस ग्रन्थ में सर्व प्रथम मंगलाचरण आदि करने के पश्चात् काव्य स्वरूप का निर्धारण किया है। उनके अनुसार :—

वत कहाउ रसमै जु है कवित कहावै सोइ ।। १–४ क० कु० क०

यह काव्य लक्षण साहित्यदर्पण के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" का आधार लेकर ही कहा गया है। आगे चलकर पुनः इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं :— सगुनालंकारन सहित दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ ताकौ कवि कहत विबुध सब कोइ ।। १-७ क० कु० क०

यह काव्य परिभाषा निश्चय ही मम्मट की छाया में लिखी गई है[1]। अन्तर इतना ही है कि मम्मट 'अनलंकृती पुनः क्वापि' कहकर अलंकारहीन को भी काव्य मानते हैं, पर चिन्तामणि उसे सालंकार ही बताते हैं। इस प्रकार वे काव्य में गुण (रस) और अलंकार दोनों का महत्व स्वीकार करते हैं।

पुनः आगे चलकर उन्होंने काव्य के गद्य और पद्य दो भेद बताए हैं :—

गद्य पद्य द्वै भांति सों सुरवानी में होइ । ४ ।
छन्द निबद्ध सुपद्य कहि गद्य होत बिन छंद ।
भाषा छन्द निबद्ध सुनि, सुकवि होत सानंद ।। ५ ।।
मेरे पिंगल ग्रन्थ तें समुझो छन्द विचार ।
रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार ।। ६ ।। कु० क०

कवित्व के ये दो भेद संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हैं। इससे अनुमान होता है कि चिन्तामणि के समय तक हिन्दी में गद्य काव्य लिखने का विशेष प्रचलन नहीं था। जो कुछ गद्य था भी, वह काव्य की कोटि में नहीं समझा जाता था। इसी कारण छन्दोबद्ध काव्य को सुनकर सुकवियों को आनन्द प्राप्त होता था।

यहां छन्दों का अध्ययन करने के लिए उन्होंने संकेत किया है कि मेरे पिंगल ग्रन्थ का अध्ययन कीजिए। इससे स्पष्ट है कि 'कविकुलकल्पतरू' में पिंगल या छन्द का विवेचन नहीं किया गया है।

आगे चलकर उन्होंने पुरुष का रूपक बांधकर उसका वर्णन किया है :—

सबै अर्थ तनु वर्णिये जीवित रस जिय जानि ।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि ।। ९ ।।
श्लेषादि गुन सूरतादिक से मानौ चित्त ।
बरनौ रीति सुभाव ज्यौ वृत्ति वृत्ति सी मित्त ।। १० ।।
पद अनगुन विश्राम सो सज्जा सज्जा जानि ।

१—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। १-१। काव्यप्रकाश

रस आस्वादन भेद जे पाक पाक से मानि ॥ ११ ॥
कवित पुरुष की साज सब समझ लोक की रीति ।
गुन विचार सब करत हौं सुनौ सुकवि करि प्रीति ॥ १२ ॥ क०कु०क०

इस प्रकार लोकरीति के रूप में यहां 'काव्य-पुरुष' की विवेचना की गई है। यहां चिन्तामणि के समक्ष विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण नामक संस्कृत-ग्रन्थ रहा जान पड़ता है, जिसको आधार बनाकर उन्होंने काव्यस्वरूप निर्धारण किया है।[1] परन्तु दोनों आचार्यों में कुछ थोड़ा सा अन्तर जान पड़ता है। वह यह कि विद्यानाथ व्यंग्य को काव्य का जीवित मानते हैं। पर चिन्तामणि विश्वनाथ के अनुसार रस को मानते हैं। पर इस बात की पुष्टि उनके ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती, प्रत्युत, मम्मट के समान रसध्वनि को ही वे अभीष्ट मानते हैं, क्योंकि रस का निरूपण उन्होंने ध्वनि प्रकरण में ही किया है, उससे पहले नहीं। दूसरे विद्यानाथ ने शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, रीति, वृत्ति आदि को काव्यसम्पद् माना है जबकि चिन्तामणि, विश्वनाथ की भांति इस सब सामग्री को 'काव्य-पुरुष' के रूपक में बांधकर लोकरीति के रूप में वर्णित करते हैं।

इन्हीं उपर्युक्त उद्धरणों से हमें चिन्तामणि की अलंकार विषयक धारणा का भी पता लग जाता है। वे रस को काव्य का जीवित मानते हुये भी अलंकार को कविता के लिये आवश्यक मानते हैं। मम्मट के समान वे अलंकार विहीन कविता को कविता नहीं मानते। इसी कारण काव्य की परिभाषा करते समय उन्होंने 'सगुनालँकारन' तो कहा है। अलंकार-विहीन भी कहीं कहीं काव्य हो सकता है—ऐसा निर्देश नहीं किया इससे ज्ञात होता है कि चिन्तामणि की दृष्टि में काव्य के लिए रस और अलंकार दोनों का होना आवश्यक है।

इसके पश्चात् सर्व प्रथम गुणों का वर्णन किया गया है जो बड़ा ही स्पष्ट और सुबोध है। इस वर्णन में प्रायः मम्मट के काव्यप्रकाश का प्रभाव अधिक है। इसके पश्चात् अलंकार-वर्णन प्रारम्भ होता है।

१—शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम् ।
हारादिवदलंकारास्तत्र स्युरुपमादयः ।
श्लेषादयो गुणास्तत्र शौर्यादय इव स्थिताः ।
आत्मोत्कर्षवहस्तत्र स्वभावा इव रीतयः ॥
शोभामाहार्यकीं प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा ।
पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता ।
रसास्वादप्रभेदाः स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः ।
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसम्पदः ॥ २-२५ ॥ प्र० रु० य०

अलंकार-वर्णन

अलंकारों का विवेचन द्वितीय और तृतीय प्रकरणों में हुआ है। द्वितीय में शब्दालंकारों का और तृतीय में अर्थालंकारों का। चिन्तामणि के विचार से शब्द और अर्थ की गति के भेद से अलंकार भी दो प्रकार के होते हैं :—

शब्द अर्थ गति भेद सों अलंकार द्वै भांति।
अलंकारादिक शवद अलंकार की पांति ।। २-१ ।।

उभयालंकार की चर्चा उन्होंने कहीं पर भी नहीं की। शब्दालंकारों में उन्होंने केवल सात की ही गणना कराई है। ये शब्दालंकार इस कारण कहलाते हैं कि शब्दों के कारण ही इनमें चमत्कार रहता है, उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक शब्द रख देने पर वह चमत्कार समाप्त हो जाता है :—

वक्रोक्ति अनुप्रास पुनि कहि लाटानुप्रास।
जमक स्लेषौ चित्र पुनि पुनरुक्तवदाभास ।। २-२ ।।
सात शब्द अलंकार ये तिनमें शब्द जो होइ ।।
ताही तैं पर्जय पदादिये न भासै कोइ ।। २-३ ।। क० कु० क०

चिन्तामणि का यह शब्दालंकार-निरुपण विशेषतः मम्मट पर आधारित है। यथाहि :—

यमकः— अरथ होत अन्यारथक बरनन को जहँ होइ।
फेर श्रवन सो जमक कहि बरनत यों सब कोई। २-२१।। क०कु०क०
अर्थे सत्यर्थ भिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकम्........................ ।। ९-८३ ।। काव्यप्रकाश

लाटानुप्रासः—

तात्पर्य के भेद तें दीन्हो जो पद देइ।
सो लाटानुप्रास है........................ । २-१९ ।। क० कु० क०
शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ।। ९-८१ ।। काव्यप्रकाश

वक्रोक्तिः—

और भांति को वचन जो और लगावै कोइ।
कै स्लेष कै काक सो वक्रोकति है सोइ ।। २–५ ।। क० कु० क०

यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथाद्विधा ।। ९–७८ । का० प्र०

मम्मट की भांति चिन्तामणि नेभी अनुप्रास के 'छेक' और 'वृत्ति' दो भेद ही किए हैं। 'वृत्यनुप्रास' की उपनागरिका, कोमला और परुषा वृत्तियों का भी विवेचन

किया है। चित्रालंकार को 'बहुतविधि' वाला कहकर खड्गबन्ध, कपाट बन्ध, कमलबन्ध अश्वगति, गोमूत्रिकाबंध, कामधेनु और सर्वतोभद्र के उदाहरण मात्र प्रस्तुत किए गए हैं।

अर्थालंकार वर्णन

'कविकुलकल्पतरु' में कुल' ६७ अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। इन अलंकारों का क्रम विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के बहुत कुछ अनुरूप है। परन्तु कहीं कहीं पर कुछ अन्तर आ गया है। 'रशनोपमा' और 'परिवृति' अलंकार चिन्तामणि में तो हैं। पर प्रतापरुद्रयशोभूषण में नहीं हैं। साथ ही प्रतापरुद्रयशोभूषण के आक्षेपान्तर, विकल्प और माला दीपक अलंकार चिन्तामणि में नहीं हैं। 'वक्रोक्ति' को विद्यानाथ ने अर्थालंकार माना है जबकि चिन्तामणि ने मम्मट के अनुरूप उसे शब्दालंकारों में स्थान दिया है।

अलंकारों के भेद और स्वरूपादि के लिए चिन्तामणि काव्यप्रकाशकार मम्मट के विशेष ऋणी हैं। भेदों के लिए मम्मट के अतिरिक्त उन्होंने विद्यानाथ, विश्वनाथ और अप्पयदीक्षित से भी सहायता ली है। अतिशयोक्ति, विरोध, सम, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास आदि के भेद मम्मट के अनुकरण पर हैं। उपमा के श्रौती और आर्थी भेदों का स्वरूप विश्वनाथ से ग्रहण किया गया है। 'उत्प्रेक्षा' के भेद विद्यानाथ और अप्पयदीक्षित के आधार पर रक्खे गए हैं तथा 'समासोक्ति', और 'उल्लेख' के भेद विद्यानाथ को आधार बनाकर लिखे गए हैं।

लक्षण और उदाहरण :—

अलंकारों के लक्षण प्रायः दोहा सोरठा छन्द में तथा उदाहरण दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्दों में दिए गए हैं। वस्तुतः चिन्तामणि की अलंकारों की परिभाषाएं और उदाहरण दोनों ही स्पष्ट और सुन्दर हैं। परन्तु कहीं कहीं सरलता लाने के प्रयास में कुछ लक्षण अव्यवस्थित और शिथिल भी हो गए हैं। यथा :—

आक्षेपः— जहाँ विशेष अभिधान की इच्छा कथन निषेध।
चिन्तामनि कवि कहत हैं सो आक्षेप निषेध ।। ३-२१५ । क०कु०क०

काव्यलिंगः— हेतु वाक्य को अरथ कै अरथ पदन को होइ ।। ३-२४४ । क०कु०क०

अतद्गुणः— और वस्तु गुन को ग्रहन जहं न करै कछु बात।
ताहि अतद्गुन कहत हैं, जो कवि मति अधिकात ।। ३-१३५ ।। क०कु०क०

वास्तव में 'अतद्गुण' में अलंकार-चमत्कार तब आता है जब कारण होते हुए भी न्यूनगुण वाली वस्तु अपने से अधिक गुणवाली वस्तु का गुण ग्रहण नहीं करती। पर यहाँ उस हेतु वाली बात का कथन नहीं है, इसी कारण यह लक्षण शिथिल है।

तुल्ययोगिता :—

कै प्रकृत तिन होइ के अप्रकृतन को कोइ ।
तुल्य धर्म इक बारही तुल्यजोगता होइ ॥ ३-१७९ ।

'तुल्ययोगिता' में औपम्य का गम्य होना अनिवार्य है पर यहाँ इस अनिवार्यता की उपेक्षा कर दी गई है। इसी प्रकार 'प्रतिवस्तूपमा' में भी यही दोष दृष्टव्य है।

परन्तु सर्वत्र सभी लक्षणों में इस प्रकार की शिथिलता नहीं पाई जाती। अधिकांश लक्षण स्पष्ट और सुन्दर हैं। चिन्तामणि ने अलंकारों के अधिकांश लक्षण संस्कृत आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद मात्र करके रख दिए हैं। पर अनुवाद में भी सरलता लाने का उनका प्रयास वास्तव में श्लाघ्य है। भले ही इस सरलता के प्रयास में कतिपय लक्षण निष्प्राण बन गए हैं। पर जहाँ शब्दशः अनुवाद किया गया है वहाँ लक्षण कुछ दुरूह और अस्पष्ट भी हो गए हैं। समासोक्ति, प्रथम निदर्शना आदि के लक्षण इसी प्रकार के हैं। कहीं कहीं ये परिभाषाएँ अपूर्ण भी रह गई हैं। प्रयोजन यह कि चिन्तामणि ने इन लक्षणों में अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, केवल संस्कृत आचार्यों से लेकर अनुवाद के रूप में उन्हें उपस्थित कर दिया है। विशेषता इतनी अवश्य है कि इसे उन्होंने सरल और सुबोध बनाने का प्रयास किया है।

चिन्तामणि के उदाहरण सरस और सरल हैं। उनमें कवित्व झलकता है। उदाहरणों और लक्षणों में पूर्ण अन्विति है। एक लक्षण के पश्चात् ही उसका उदाहरण भी दे दिया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

क— अति मनोहर दंपति के आलिंगन पर वारियत
त्रिभुवन सुखमा सुवेख है।
चिंतामणि कहै कवि कैसे कहि सके कोऊ,
अद्भुत कुरूप रचना अलेख है।
सुवरन लता है तमाल सुर तरु संग,
घनस्याम संग थिर दामिनि विसेख है।
राधा जू को देखि देववनिता बखानति हैं,
हरि उर निरख पखान हेम रेख हैं॥ ३७४ क०कु०क०

ख— ललित अलक मुख चंद पर मनकी यही अगोट।
विहसोंहैं चंचल नयन झीने अंचल ओट ॥ ३-९१ ॥ क०कु०क०

चिन्तामणि और संस्कृत आचार्य:— चिन्तामणि ने यह तो ग्रंथ के प्रारम्भ में ही कह दिया है कि उन्होंने संस्कृत-ग्रंथों को देखकर ही कविकुलकल्पतरु की रचना की है। स्थल स्थल पर उन्होंने उन संस्कृत आचार्यों के नाम देकर अपनी कृतज्ञता भी प्रकट

की है । शब्दालंकारों के अंत में तथा 'उत्प्रेक्षा' और 'पर्यायोक्ति' के प्रसंग में विद्यानाथ का उल्लेख किया है :—

क– अलंकार इहि विधि गए विद्यानाथ बखानि ।। २-३७ ।। क० कु० क०
ख– यों उत्प्रेक्षा में कियो विद्यानाथ प्रकार ।। ३-६७ ।। वही
ग– पर्जायोकति कहत यों विद्यानाथ सुजान ।। ३-२३६ ।। वही

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, विरोध और परिसंख्या के वर्णन में मम्मट का नामोल्लेख किया गया और उत्प्रेक्षालंकार के प्रसंग में कुवलयानन्द ग्रन्थ का नाम दिया गया है ।

अ– यों विरोध दश भांति सों मम्मट गए बखानि ।। ३-१३६ ।।
आ– अतिशयोक्ति ए चारि विधि मम्मट कथन प्रकार ।। ३-१११ ।।
इ– मम्मट आचारज इहां ऐसो कियों विवेक ।। ३-२६२ ।।
ई– सिद्धासिद्धास्पद बहुरि द्विविध और निरधारि ।
सुगम कुवलयानन्द में यह क्रम कियो विचारि ।। ३-६८ ।। क० कु० क०

विश्वनाथ का नाम कहीं नहीं दिया गया, पर श्रौती और आर्थी उपमा, रशनोपमा, और परिणाम अलंकारों के लक्षणों के लिए चिन्तामणि ने विश्वनाथ से सहायता अवश्य ली है । इस प्रकार कविकुलकल्पतरु की रचना के लिए चिन्तामणि ने विश्वनाथ, मम्मट, अप्पयदीक्षित और विश्वनाथ को अपना आधार बनाया है । फिर भी वे मम्मट और विद्यानाथ से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित हैं ।

रूपक, समासोक्ति, दीपक और पर्यायोक्ति अलंकारों के कविकुलकल्पतरु में दो दो लक्षण मिलते हैं, उनमें पहला मम्मट के अनुसार और दूसरा विद्यानाथ के अनुकरण पर है । देखिए :—

रूपक :—जह विषई अरु विषय को वरन्यों होइ अभेद ।। ३-७७ । क०कु०क०
तद्रूपकमभेदो या उपमानोपमेययोः ।। १०-९३ । काव्यप्रकाश
जो अतिरोहित विषय को उपकारक जो होइ ।
विषई सों रूपक वरन ··· ·············· ।। ३-७८ । क०कु०क०
आरोपविषयस्य स्यादति रोहित रूपिणः । उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्र्पकं मतम् । प्र० रु० य० । पृष्ठ ३७१ ।

इसी प्रकार विशेषोक्ति, सहोक्ति आदि के लक्षण मम्मट के अनुसार तथा विभावना, विनोक्ति आदि के लक्षण विद्यानाथ के अनुकरण पर रक्खे गए हैं ।

संक्षेप में चिन्तामणि ने काव्यांग विवेचन में विविध संस्कृत-ग्रन्थों को अपना आधार बनाया और उन्हीं के अनुकरण पर अपने ग्रंथ की रचना की है फिर भी संस्कृत आचार्यों में वे मम्मट, विश्वनाथ और विद्यानाथ से विशेष रूप से प्रभावित जान पड़ते हैं ।

मूल्यांकन :—चिन्तामणि की यह कृति कविकुलकल्पतरु हिन्दी-रीति-साहित्य के लिए अमूल्य और महत्वपूर्ण है। यद्यपि इस ग्रंथ में अधिकतर काव्यप्रकाश आदि जैसे संस्कृत-ग्रंथों का प्रायः अनुवाद सा ही करके रख दिया गया है, और मौलिकता का एक प्रकार से उसमें अभाव ही है, तथापि इस कृति का मूल्य कम नहीं हो सकता। क्योंकि रीतिकाल की यही सर्वप्रथम रचना ऐसी है जिसमें काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण की पद्धति पर काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है। अतः इसने परवर्ती काव्यशास्त्रियों के लिए इस प्रकार के ग्रंथों की रचना करने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। विषय की गहनता, उदाहरणों की सरसता और शास्त्रानुकूलता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्यिकों के लिए उपादेय है।

ललित ललामः मतिराम

(वि० सं० १७१६ और १७४५ के बीच)

मतिराम ने अपने जीवन काल में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें से अधिकांश ग्रंथ रीतिशास्त्र के विषयों से ही सम्बन्धित हैं। रसराज, ललित ललाम, साहित्य सार, लक्षण शृंगार, छन्दसार पिंगल ऐसे ही ग्रंथ हैं। मिश्र बन्धु के अनुसार इनके एक और ग्रंथ का पता चला था। वह है अलंकार पंचाशिका।[1]

रसराज :—इसके नाम से ही अनुमान हो जाता है कि इसमें रसराज शृंगार का वर्णन होना चाहिए। शृंगार के अन्तर्गत आने वाले नायिकाभेद का वर्णन इसमें विशेष रूप से हुआ है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इसका रचनाकाल सं० १७६५ के बाद माना जाता है।[2] पर यह रचनाकाल विवाद का विषय है! कोई इसे ललित ललाम से पहले की और कोई उसके बाद की रचना बताते हैं।

साहित्यसार और लक्षणशृंगार :—ये दोनों छोटे छोटे ग्रन्थ हैं। साहित्यसार में नायिकाभेद का वर्णन है। यह दस पृष्ठों का एक छोटा सा ग्रंथ है। मिश्र जी के अनुसार सं० १८३७ की लिखी हुई एक हस्तलिखित प्रतिलिपि दतिया राज्य के पुस्तकालय में है।[3] लक्षणशृंगार चौदह पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें भावों और विभावों का वर्णन है। इसकी भी सं० १८२२ की लिखी हुई हस्तलिखित प्रति विजावर राज्य पुस्तकालय में है।[4]

छन्दसार पिंगल :—यह पिंगल या छन्द पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। इसकी रचना श्रीनगर के फतेहसिंह बुंदेला के लिए की गई थी।

---

१. मिश्रबन्धु विनोद भाग २ पृ० ४४६। द्वितीय संस्करण सं० १९८४।
२. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका—कृष्ण बिहारी मिश्र कृत पृष्ठ २२२
३. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका—कृष्ण बिहारी मिश्र कृत पृष्ठ २२४
४. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका—कृष्ण बिहारी मिश्र कृत पृष्ठ २२४

अलंकार पंचाशिका :—इसकी रचना मिश्र जी के अनुसार सं० १७४७ में कुमायूं के राजा उदोतचन्द के पुत्र ज्ञानचन्द के लिए की गई थी। इसमें अलंकारों का वर्णन है। इसमें अलंकारों के लक्षण संस्कृत-ग्रंथों के आधार पर दोहों में दिए गए हैं।[1] और उदाहरण कवित्तों में लिखे गए हैं। इसमें दिए गए लक्षण स्पष्ट और उदाहरण बड़े सुन्दर हैं।

ललित ललाम

यह अलंकरों पर लिखा हुआ ग्रंथ है। इसकी रचना का उद्देश्य बून्दी नरेश भावसिंह की प्रशंसा करना था[2]। इसका रचना-काल कृष्ण बिहारी मिश्र के[3] अनुसार सं० १७१८-१७१६, तथा डा० भागीरथ मिश्र[4] के अनुसार सं० १७१६ और १७४५ के बीच है। पं० कृष्ण बिहारी मिश्र के विचार से इस ग्रन्थ की रचना रसराज के बाद की है[5]।

यह ललित ललाम और रसराज दोनों ग्रंथ मतिराम के सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथों में हैं। शुक्ल जी अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में इस ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं "रसराज और ललित ललाम मतिराम के ये दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के यह अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। रसराज का तो कहना ही क्या है। ललित ललाम में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत ही सरल और स्पष्ट हैं[6]।"

ग्रन्थ परिचय :—

ललित ललाम में कुल ४०१ पद हैं जिनमें २७० पद दोहों में, १२३ कवित्त सवैयों में और ८ छप्पय छन्द में लिखे गए हैं। प्रथम पाँच पदों में मंगलाचरण के पश्चात् १७ दोहों में बूंदी वर्णन किया गया है। फिर १५ पदों में नृपवंश वर्णन है। ३६ वें पद से ग्रंथ का मुख्य विषय प्रारम्भ होता है। ग्रंथ के अन्त में ३६६ वें

१—संसक्रिरित को अर्थ लै भाषा शुद्ध विचार।
उदाहरण क्रम ए किए, लीजो सुकवि सुधार॥

२—भावसिंह की रीझि को कविता भूषन काम।
ग्रंथ सुकवि मतिराम यह, कीन्हों ललित ललाम॥ ३८॥ ललित ललाम

३—मतिराम ग्रंथावली की भूमिका—कृष्ण बिहारी मिश्र कृत पृष्ठ २२३

४—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृ० ८५

५—मतिराम ग्रन्थावली भूमिका पृष्ठ २३२

६—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २५३

दोहे में कवि ने स्पष्ट लिख दिया है कि इस ग्रन्थ में जितने अर्थालंकार हैं उन सब का वर्णन किया गया है [१]। समाप्ति पर आश्रयदाता को चिरंजीव होने का आशीर्वाद दिया गया है [२] और पाठक को आकर्षित करने के लिए यह कहा गया है कि जो भी इसको कंठस्थ कर लेगा वह सभाओं में शोभित होगा। इस ग्रंथ की रचना सकल संसार के हित की गई है [३]।

वर्ण्य विषय :

ललित ललाम में केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन है। शब्दालंकारों और रसवत्, भावोदय तथा प्रमाणादि पन्द्रह अलंकारों की कोई चर्चा नहीं है। उसमें वर्णित अर्थालंकारों की संख्या १०० है। अलंकारों की यह संख्या और क्रम कुवलयानन्द के अनुसार ही है। परन्तु 'काव्यलिंग' अलंकार यहाँ नहीं है। भाषा भूषण के समान चित्रालंकार और रसनोपमा का वर्णन इसमें भी है, हां, कुवलयानन्द में ये दोनों अलंकार नहीं है। स्मृति, भ्रम और सन्देह का वर्णन कुवलयानन्द की ही भाँति एक ही दोहे में किया गया है।

अलंकारों के नाम और भेद :

ललित ललाम में अलंकारों के प्रायः वही नाम हैं, जो कुवलयानन्द में पाए जाते हैं, तथापि कवि ने कहीं कहीं स्वतंत्रता का भी उपयोग किया है और कुछ नामों में परिवर्तन किया है। 'भ्रांति' अलंकार को भ्रम के रूप में वर्णित करना तो हिन्दी आलंकारिकों में साधारणतया प्रचलित ही था। इसके अतिरिक्त कवि ने कुछ और नामों में भी परिवर्तन किया है। भ्रान्तापन्हुति को भ्रान्त्यपन्हुति, कैतवापन्हुति को छलापन्हुति, आवृत्तिदीपक को दीपकावृत्ति, पर्यायोक्त को पर्यायोक्ति, अन्योन्य को परस्पर, कारणमाला को हेतुमाला, अर्थापत्ति को काव्यार्थापत्ति, विषादन को विषाद, उत्तर को गूढ़ोत्तर, अलंकार के रूप में लिखा गया है। साहित्य दर्पण में वर्णित 'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा' को 'गुप्तोत्प्रेक्षा' कहा गया है। 'स्वभावोक्ति' के लिए संस्कृत-ग्रंथों में 'जाति' को पर्यायवाची बताया गया है। दण्डी ने 'जाति' के रूप में ही उसका वर्णन किया है। हिन्दी में केशवदास ने भी उनका ही अनुसरण किया है। मतिराम ने भी उन्हीं की भांति 'जाति' ही 'स्वभावोक्ति' का नाम रक्खा है।

कुवलयानन्द की ही भांति मतिराम ने दो विशेष अलंकारों का पृथक् पृथक्

१—रुचिर अर्थ भूषन जिते, रचि जानै मतिराम। ३६९।

२—नृप सत्रुसाल नंदन नवल भावसिंह भूपालमनि।
जग चिरंजीव तब लगि सुखद, कहत सकल संसार धनि॥ ४००।

३—कंठ करै सो सभनि में, सोभै अति अभिराम।
भयो सकल संसार हित, कविता ललित ललाम। ४०१।

वर्णन किया है। इस कारण इन दोनों में भ्रम हो जाने की पर्याप्त संभावना है। अन्य हिन्दी कवियों ने एक 'विशेष' को 'विशेषक' कह कर अभिहित किया है, पर मतिराम ने ऐसा नहीं किया।

अलंकारों के भेदों में कवि ने कुवलयानन्द का पूर्णतया अनुकरण नहीं किया। परन्तु-प्रतीप, रूपक, उल्लेख, अपन्हुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दीपकावृत्ति, निदर्शना, श्लेष, पर्यायोक्ति, आक्षेप, विभावना, असंगति, विषम, सम, अधिक, विशेष, व्याघात, पर्याय, समुच्चय, प्रहर्षण, उल्लास, लेश, पूर्वरूप, वक्रोक्ति, और हेतु अलंकारों के भेद कुवलयानन्द के ही अनुसार ज्यों के त्यों हैं।

हेतुमाला और उदात्त के भेद मतिराम में हैं, पर कुवलयानन्द में नहीं पाए जाते। अप्रस्तुत प्रशंसा के भेद कुवलयानन्द में नहीं हैं, पर उसके भेदों के उदाहरण उनके नामों सहित वृत्ति में अन्य ग्रंथों से उद्धृत किए गए हैं। मतिराम ने इस अलंकार का केवल लक्षण और उदाहरण ही दिया है। न तो उसके भेदों का ही वर्णन किया है और न उदाहरण देकर भेदों की ओर संकेत ही किया है। समझ में नहीं आता कि मतिराम ने ऐसे प्रसिद्ध अलंकार के भेदों पर क्यों ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त व्यतिरेक, अल्प, विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास और भाविक के भेदों की चर्चा भी मतिराम में नहीं है। परन्तु विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास और भाविक के दो दो उदाहरण देकर उनके भेदों की ओर संकेत भर कर दिया गया है। साहित्य दर्पण और काव्यप्रकाश में जिस व्यतिरेक के ४८ और विरोधाभास के १० भेद किए गए हैं, उनके भेदों की चर्चा का यहाँ न होना आश्चर्यजनक ही है। 'तुलययोगिता' के केवल दो भेद ही किए गए हैं।

कुवलयानन्द में 'उत्तरालंकार' का एक भेद 'चित्रोत्तर' बताया गया है। जसवंतसिंह के 'भाषाभूषण' में इसी को पृथक् रूप से 'चित्रालंकार' के नाम से वर्णित किया गया है। मतिराम ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है और उसके 'प्रथम चित्र' तथा 'द्वितीय चित्र' करके दो भेद भी किए हैं।

अलंकारों के लक्षण :

मतिराम ने अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में ही लिखे हैं। उनके उदाहरण दोहों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया और छप्पय छन्दों में प्रस्तुत किए गए हैं। लक्षण के साथ उसी दोहे में उस अलंकार के भेदों का निर्देश भी कर दिया गया है। भाषा भूषण में भी यही शैली अपनाई गई है।

वैसे तो मतिराम के लक्षण बड़े सुन्दर हैं, पर कहीं कहीं उन्हें इतना संक्षिप्त और संकीर्ण कर दिया गया है जिससे उसमें स्पष्टता नहीं आने पाई। कुछ उदाहरण दृष्टव्य है।

पूर्णोपमा :—कवि ने इस अलंकार के लक्षण में ऐसी शब्द-योजना की है जिससे उसके स्वरूप में भ्रम हो सकता है यथा :

वाचक अरु उपमेय जहं, साधारन उपमान।
पूरन उपमा कहत है, तहं मतिराम सुजान। ४३।

यहाँ साधारन शब्द का प्रयोग साधारण धर्म के लिए है, पर 'धर्म' शब्द के अभाव में वह उपमान का विशेषण सा जान पड़ता है और यह भ्रम होने लगता कि कवि साधारण उपमान के विषय में कहना चाहता है।

अनन्वय : जहाँ उपमेय को ही उपमान बनाया जाता है, वहाँ इस अलंकार की स्थिति होती है। पर मतिराम ने "जहां एक ही बात को उपमेयो उपमान" कहकर जो लक्षण प्रस्तुत किया है उसमें स्पष्टता का अभाव है। क्योंकि 'यह स्त्री उस स्त्री के समान सुन्दर है' कहने में एक ही बात (स्त्री) को उपमेय और उपमान बनाया गया है। परन्तु यहां 'अनन्वयालंकार' नहीं है। क्योंकि 'अनन्वयालंकार में उसी वस्तु को उपमेय और उपमान बनाने का आग्रह होता है, एक ही वस्तु को नहीं। परन्तु कवि ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह बिलकुल उपयुक्त है।

समासोक्ति : मतिराम ने जो यह लक्षण किया है :
जहं प्रस्तुत में होत हैं, अप्रस्तुत को ज्ञान

यह वास्तव में चन्द्रालोक के "समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्" का अनुवाद है, पर इसमें कुछ शिथिलता आ गई है। परिस्फूर्ति शब्द के भाव को मतिराम का 'ज्ञान' शब्द व्यक्त करने में असमर्थ है। अतः 'परिस्फूर्ति' की व्यंजना उस 'ज्ञान' शब्द से प्रकट नहीं होती है।

विरोधाभास : 'जहं विरोध सो लगत है, होत न सांच विरोध'
यह लक्षण अस्पष्ट है। इसमें 'विभावना' और विशेषोक्ति' आदि भी समा सकते हैं।

एकावली : का लक्षण भी अस्पष्ट ही है। देखिए :

एक अर्थ ले छोड़िए, और अर्थ ले ताहि।
अर्थ पांति इमि कहत है, एकावली सराहि॥

वास्तव में यह लक्षण की अस्पष्टता चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के "गृहीतमुक्तरीत्यर्थ श्रेणिरेकावलीमता" का शब्दशः अनुवाद करने के फलस्वरूप आई है। इन संस्कृत-ग्रंथों में जो सूत्रवाली संक्षिप्त शैली अपनाई गई है, उसी कारण उनमें विशदता एवं सुबोधता नहीं आने पाई। हिन्दी ग्रंथकारों ने भी उसी शैली को अपनाया। अतः इस अस्पष्टता का आना स्वभाविक ही था। स्पष्टता के लिए अवकाश होते हुए भी मतिराम अनुवाद करने की झोंक में ही बह गए।

इसी प्रकार इस संक्षिप्त शैली का अनुकरण करने के कारण 'काव्यार्थापत्ति' 'विकस्वर' आदि अलंकारों के लक्षणों में भी अस्पष्टता आ गई है। 'विकस्वर' का लक्षण देखिए।

कहि विशेष सामान्य पुनि, कहिए बहुरि विशेष।
कहत विकस्वर नाम तहं जे कवि अति मति लेष। २६२।

यह भी कुवलयानन्द और चन्द्रालोक के निम्नांकित श्लोक का ही अनुवाद मात्र है।

यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषः स विकस्वरः। १२४। कुवल०

फिर भी मतिराम ने कुवलयानन्द की अपेक्षा अपने लक्षण को स्पष्ट बनाने का प्रयास किया है।

अप्रस्तुत प्रशंसा :—में मतिराम ने प्रशंसा शब्द का प्रचलित अर्थ लेकर उसका लक्षण विकृत कर दिया है। उनके अनुसार।

अप्रस्तुतै प्रसंसिए, प्रस्तुत लीने नाम। १७३। ललित ललाम

संस्कृत-ग्रन्थों में प्रशंसा का अर्थ कथन या वर्णन करना है। प्रशंसा करना या यशोगान करना नहीं। परन्तु मतिराम ने इसे नहीं समझा। उन्होंने जो उदाहरण दिया है, उसमें अप्रस्तुत की प्रशंसा मात्र है।

ते धनि जे ब्रजराज लखें, गृहकाज करें अरु लाज संभारैं।

परन्तु मतिराम में इस प्रकार के शिथिल और अस्पष्ट लक्षण अधिक नहीं हैं। अधिकांश अलंकारों के लक्षण बड़े ही अच्छे बन पड़े हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक, दृष्टांत, व्यतिरेक, अपन्हुति, आक्षेप आदि अलंकारों के लक्षण सुन्दर और स्वस्थ है।

अलंकारों के उदाहरण :

मतिराम ने अपने अलंकारों के उदाहरण अधिकतर कवित्त सवैयों में ही दिए हैं। दोहों में बहुत ही कम हैं। दोहो में प्रायः उन्हीं अलंकारों के उदाहरण हैं जिनमें उनकी चित्तवृत्ति अधिक नहीं रम सकी। ऐसे अलंकार हैं : तृतीय प्रतीप, प्रथम उल्लेख, हेत्वपन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, गुप्तोत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति, सापन्हव एवं भेदकातिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति, निदर्शना, विनोक्ति, परिकरांकुर श्लेष, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, द्वितीय आक्षेप, तृतीय एवं षष्ठ विभावना, विशेषोक्ति द्वितीय एवं तृतीय असंगति, सम, विषम, अल्प, प्रथम अधिक, विशेष, द्वितीय व्याघात, पर्याय, कारक दीपक, प्रत्यनीक, विकस्वर, प्रौढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, प्रहर्षण, उल्लास, लेश, मुद्रा, पूर्वरूप, अतद्गुण, उन्मीलित, विशेषक, गूढ़ोत्तर, चित्र, गूढ़ोक्ति, श्लेषवक्रोक्ति एवं द्वितीय हेतु।

अन्य अलंकारों के उदाहरण कवित्त सवैयों में लिखे गए हैं। कुछ अलंकारों के दो दो उदाहरण भी दिए गए हैं जैसे : उपमा, पूर्णोपमा, मालोपमा, पंचम प्रतीप, सन्देह, छेकापन्हुति, रूपक, सम्बन्ध एवं चंचल अतिशयोक्ति, शब्दार्थावृत्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, विनोक्ति, परिकर, प्रकृताप्रकृतश्लेष, प्रथम पर्यायोक्ति, तृतीय आक्षेप, चतुर्थ विभावना, विशेषोक्ति, प्रथम असंगति, प्रथम विषम, अर्थान्तरन्यास, प्रहर्षण, अनुज्ञा, भाविक, अत्युक्ति, निरुक्ति, हेतु। भ्रम और अवज्ञा, अलंकारों के तो तीन तीन तक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें कुछ अलंकारों के उदाहरण (पूर्णोपमा, मालोपमा, छेकापन्हुति, सन्देह, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत आदि) तो दोहा और कवित्त दोनों छन्दों में, कुछ के उदाहरण कवित्तों में और कुछ के दोहों में दिए गए हैं।

इनमें से कतिपय उदाहरण रसराज में भी पाए जाते हैं। ललित ललाम के ४२, ४४, ८३, १०४, १०७, १२१, १२७, १३२, १४१, १८४, १८८, १९२, १९३, २०४, २०६, २२३, २३१, २३३, २५२, २९०, ३०७, ३११, ३१३, ३१८, ३२३, ३४२, ३४४, ३६३, ३७१, संख्याओं वाले उदाहरण मतिराम के रसराज में क्रमशः २२१, ४०७, २९७, १८१, १७२, ३०४, ७८, १६, ३७८, ९९, २९०, २०६, २११, ३२२, ४१०, ३७२, ३७३, ४१, २८२, १२९, ३२, २७८, २३८, १२९, ६०, १९९, २०१, ७२, ४४ संख्या वाले पदों में उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। ललित ललाम में २९० वां तथा ३१८ वां उदाहरण एक ही पद है जो अर्थान्तरन्यास और अवज्ञा इन दोनों अलंकारों के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किया गयाहै।

जहाँ एक से अधिक उदाहरण हैं, वहां प्रायः यह देखने में आता है कि एक उदाहरण तो आश्रयदाता के विषय में है तो दूसरा श्रृंगार से सम्बन्धित है। परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है। कहीं कहीं दोनों उदाहरण श्रृंगार के हैं। चंचलातिशयोक्ति, तृतीय आक्षेप, चतुर्थ विभावना, प्रथम विषम आदि के उदाहरण ऐसे ही हैं। 'भ्रमालंकार' क तो तीनों उदाहरण श्रृंगारपरक हैं।

एक बात और विचारणीय है, वह यह कि इन कवित्त और सवैयों के उदाहरणों के अन्तिम चरण ही प्रायः अलंकार को स्पष्ट करते हैं। अन्य तीन चरण तो अनावश्यक से ही जान पड़ते हैं। सवैयों की इस वर्णनात्मकता से कवि की कवित्व शक्ति का बोध अवश्य होता है पर आचार्यत्व में तो उससे बाधा ही पड़ती है।

वैसे तो मतिराम के उदाहरण बड़े सरस और कवित्व की दृष्टि से बड़े ही सुन्दर हैं, परन्तु कहीं कहीं काव्यशास्त्र की दृष्टि से उनमें दोष भी आ गए हैं। कहीं यदि लक्षण ठीक है तो उदाहरण दूषित हो गया है। और कहीं उदाहरण यदि निर्दोष है तो लक्षण में कुछ दूषण आ गया है। कुछ उदाहरण देखिए।

उपमा:—

ऐसे सब खलक तें सकल सकिलि रही,
राव में सरम जैसें सलिल दरयाव में । ४१ ।
यों मतिराम भयो हिय में सुख, बाल के बालम सों दृग जोरे ।
ज्यों पट में अति ही चटकीलो, चढ़ै, रंग तीसरी बार के बोरे । ४२ ।

इन दोनों उदाहरणों में साधारण धर्म भिन्न भिन्न दो वाक्यों में वर्णित होने से उपमालंकार समाप्त हो जाता है ।

पूर्णोपमा :—

आलस बलित कोरै काजर कलित मति............
गाड़े ह्वै गड़े हैं न निसारे निसरत
मैन बान से बिसारे न बिसारे बिसरत हैं । ४४ ।

यहाँ 'नेत्र' उपमेय हैं, 'मैनवान' (कामदेव के बाण) उपमान है, 'से' वाचक शब्द और 'बिसारे' साधारण धर्म है । इस प्रकार उपमा के चारों अंगविद्यमान होने से पूर्णोपमा अवश्य है । पर फिर भी यह इस अलंकार का स्वस्थ उदाहरण नहीं है क्योंकि पूर्णोपमा के अतिरिक्त इसमें अन्य अलंकारों का चमत्कार भी है । इन अलंकारों की चमक में 'पूर्णोपमा' पर यकायक ध्यान नहीं जा सकता । अंतिम चरण में आए हुए 'विशेषोक्ति' का चमत्कार ही पाठक का ध्यान आकर्षित कर लेता है ।

अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा :—

तेरे अंग अंग में मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रकट यह पाइए ।
नायक के नैननि में नाइए सुधा सो सब,
सोतिन के लोचननि लौन सो लगाइए । १०४ ।

यहाँ 'सुधा सो' तथा 'लौन सो' में अनुक्तविषया संभव है, पर ऊपर की पंक्तियों को ध्यान में रखने पर 'क्रम' और 'उल्लेख' पर दृष्टि चली जाती है । मिठाई और लुनाई के क्रमानुसार ही सुधा और लौन का वर्णन होने से 'क्रमालंकार' हो जाता है । इसी प्रकार एक ही नायिका द्वारा एक की आँख में अमृत की वर्षा करने तथा दूसरे की आँखों में नमक छिड़कने का वर्णन होने से 'उल्लेखालंकार' भी यहाँ बन जाता है । अतः हम उपर्युक्त उदाहरण को 'अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा' का शुद्ध एवं स्वस्थ उदाहरण नहीं कह सकते ।

रूपकातिशयोक्ति :—इसके लिए दो उदाहरण दिए गए हैं, पर दोनों उदाहरण अस्पष्ट हैं ।

इन्द्रजाल कन्दर्प को, कहैं कहा मतिराम ।
आग लपट, वर्षा करै, ताप धरै घनश्याम । ११२ ।

यहाँ आग लपट, वर्षा तथा ताप किसी के उपमान रूप में प्रसिद्ध नहीं है। अतः उपमेय का शीघ्र ही ज्ञान नहीं हो सकता। फलस्वरूप यह उदाहरण अस्पष्ट हो गया है।

यही अवस्था दूसरे उदाहरण की भी है

सम्बन्धातिशयोक्ति :—के दो भेद 'योग में अयोग' और 'अयोग में योग' कहकर असम्बन्धातिशयोक्ति' को इसी में मिला दिया गया है। लक्षण[1] में 'योग में अयोग' और 'अयोग में योग' को जिस क्रम से बताया गया है, उनके उदाहरण उसी क्रम से नहीं दिए गए। पहले 'अयोग में योग' का और बाद में 'योग में अयोग' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। दूसरे उदाहरण में 'सम्बन्धातिशयोक्ति' की अपेक्षा अत्युक्ति का चमत्कार अधिक होने से उदाहरण शिथिल हो गया है। देखिए।

कैसें वह बाल लाल बाहर विजन आवै,
विजन बयारि लागे लचकत लंक है। १२१।

समासोक्ति :—

कहा कहों लाल, तलबेली तलफत परयो।
बाल अलबेली को वियोगी मन लाज को। १६३।

यहां अप्रस्तुत का ज्ञान न हो सकने के कारण ही उदाहरण दूषित हो गया है। क्योंकि 'समासोक्ति'[2] अलंकार वहीं होता है. जहां प्रस्तुत में अप्रस्तुत का ज्ञान होता है।

प्रथम विभावना:—बिना कारण के ही जहां कार्य हो जाता है, वहां 'प्रथम विभावना' होती है। इसके लिए मतिराम ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

लाज भरी अंखियां बिहंसी बलि, बोल कहें बिन उत्तर दीनों। १६७।

यहां 'बिहंसने' कार्य के कारण का अभाव नहीं है। क्योंकि इस पंक्ति के पूर्व की दो पंक्तियों में वह कारण निर्दिष्ट है। अतः यह 'विभावना' का निर्दोष उदाहरण नहीं कहा जा सकता।

अवज्ञा :—जहाँ एक के गुण या दोष से दूसरे को लाभ या हानि न होने का कथन होता है, वहाँ यह अलंकार होता है। यह 'उल्लास' अलंकार का उल्टा है। इसके लिए मतिराम ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वही 'अर्थान्तरन्यास' का भी उदाहरण है। 'अर्थान्तरन्यास में सामान्य विशेष भाव आवश्यक होता है, परन्तु 'अवज्ञा' में सदैव ऐसा नहीं होता।

१—जहं अजोग है जोग में, जहं अजोग में जोग।
सम्बन्धातिशयोक्ति यह, भाषत सब कवि लोग। ११८।

२—जहं प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान। १६२। ललित ललाम

प्रथम चित्र :—जहाँ पूछी हुई बात ही, पूछी गई बात का उत्तर बन जाती है, वहाँ प्रथम चित्र होता है।[1] इसके लिए निम्नांकित उदाहरण दिया गया है :

सरद चंद की चांदनी, को कहिए प्रतिकूल।
सरद चंद की चांदनी, को कहिए प्रतिकूल। ३५१

यह वास्तव में 'लटानुप्रास' का उदाहरण हो गया। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण भी 'चित्र' का न होकर 'अन्तर्लापिका' या 'श्लेष' का उदाहरण बन गया है। यथा :

को हरि वाहन, जलधि सुत, को है ज्ञान जहाज।
तहाँ चतुर उत्तर दियो, एक वचन द्विजराज। ३५३।

यहाँ 'द्विजराज' शब्द श्लिष्ट है। इस कारण उसके क्रमशः गरुड़, चन्द्रमा और ब्राह्मण अर्थ होते हैं। फलतः 'द्विजराज' में श्लेष होने के कारण यहाँ 'श्लेष' का चमत्कार मुख्य हो गया। क्योंकि इस श्लिष्ट पद के अभाव में प्रथम चरण में प्रयुक्त बातों का उत्तर नहीं निकल सकता। 'अन्तर्लापिका' के 'व्यस्त समस्तोत्तर' में भी यही बात पाई जाती है। अतः इस प्रकार यहाँ यह 'चित्रालंकार' अर्थालंकार (जैसा कि यहाँ अभिप्रेत है) न होकर शब्दालंकार ही बन गया है।

इसी प्रकार से और भी कतिपय उदाहरण जिनमें कोई न कोई दोष आ गया है, प्रस्तुत किए जा सकते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि मतिराम के सभी उदाहरण दोषपूर्ण हैं। अनेकों उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जो पूर्णतया निर्दोष और सफल कहे जा सकते हैं।

गुप्तोत्प्रेक्षा :—जहाँ उत्प्रेक्षा वाचक शब्द नहीं होता वहाँ यह अलंकार होता है।[2] इसके लिए कवि ने जो उदाहरण रक्खा है वह बड़ा ही सुन्दर है।

बाल रही इकटक निरखि, ललित लाल मुख इन्दु।
रीझ भार अंखियाँ थकीं, झलके श्रमजल बिन्दु। ११।

इकटक देखते रहने से यहाँ नायिका में सात्विक भावों का उदय हुआ है। श्रमजल बिन्दु उभर आए और दृष्टि स्थिर हो गई। 'रीझि भार' में कवि इन सात्विक भावों के कारण की संभावना करता है। अतः 'उत्प्रेक्षालंकार' है। परन्तु मनु, मनहुँ आदि वाचक शब्दों का यहाँ अभाव है। अतः यह 'गुप्तोत्प्रेक्षा' का उदाहरण हो गया।

१—जहं बूझित कछु बात को, उत्तर सोई बात।
चित्र कहत मतिराम कवि.......................। ३५०। ल० ल०

२—उत्प्रेक्षा वाचक जहाँ, शब्द कह्यो नहिं होय।
गुप्तोत्प्रेक्षा कहत हैं,.............................॥ १०६॥

इसी प्रकार रूपक, दीपक, दृष्टांत, व्यतिरेक, अपन्हुति और आक्षेप जैसे प्रमुख अलंकारों के उदाहरण तो सुन्दर हैं ही, पर विषम, विकल्प, यथासंख्य, निरुक्ति आदि अप्रधान अलंकारों के उदाहरण भी मनोहर और दर्शनीय हैं।

विषम— जहां कारण के विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है, वहां द्वितीय विषम होता है[1]। यथा :—

वारने सकल एक रोरि ही की आड़ पर,
हा हा !! न पहिरि आभरन और अंग में।

× × × × ×

सेत सारी ही सों सब सौतें रंगी स्याम रंग,
सेत सारी ही सों रंगे स्याम लाल रंग में। २२५।

यहां नायिका के श्वेत साड़ी पहिनने से सपत्नियों में श्यामलता छा गई है। श्वेत हेतु के विरुद्ध श्याम कार्य होने से यहां 'द्वितीय विषम' अलंकार है। एक बात और यहां घटित हो रही है कि इसी श्वेत साड़ी के प्रभाव से ही श्याम लाल रंग (अनुराग) में रंग गए हैं।

यथासंख्य :—जहाँ वर्णित पदार्थों का फिर उसी क्रम से वर्णन होता है वहां यह अलंकार होता है[2]। यथा :—

महावीर सत्रुसाल नंदराव भावसिंह,
तेरी धाक अरिपुर जात भय भोय से।
कहे मतिराम तेरे तेज पुंज लिए गुन,
मारुत और मार्तण्ड मण्डल विलोय से।
उड़त नवत टूटि फूटि, मिटि फाटि जात,
विकल सुखात वैरी दुखन समोय से।
तूल से तिनूका से तरोवर से तोयद से,
तारा से तिमिर से तमीपति से तोय से॥ २६६॥

कवि अपने आश्रयदाता के आतंक का वर्णन कर रहा है। उसके तेजपुंज में मारुत (वायु) और मार्तण्ड (सूर्य) के सभी गुण विद्यमान हैं। यहां मारुत और मार्तण्ड जिस क्रम से आए हैं, उसी क्रम से अन्तिम चरण में उनकी क्रियाओं का वर्णन है। उड़ना, नवना (झुकना), टूटना, फूटना आदि क्रियाएं 'मारुत' की हैं,

१—जहां बरनिए हेतु तें उपजत काज विरूप।
और विषम तहं कहत हैं.................॥ २२४। ल० ल०

२—यथा संख्य क्रम सों कहैं, क्रम ही बहुरि बखान। २६४। ल० ल०

तथा अन्य क्रियाएँ मार्तण्ड की। इन्हीं क्रियाओं को जिस क्रम से वर्णित किया गया है, उसी क्रम से आगे चलकर तूल तिनूका आदि का भी कथन हुआ है। मारुत तूल के समान किसी चीज को उड़ा सकता है, तृण के समान झुका सकता है, वृक्ष के समान तोड़ देता है, बादलों के समान फोड़ (तितर बितर) सकता है। मार्तण्ड भी इसी प्रकार तारों के समान मिटा सकता है, अंधकार के समान फाड़ देता है, चन्द्र के समान व्याकुल कर देता और जल के समान सुखा देता है। कवि का नायक भावसिंह भी इस मारुत और मार्तण्ड के सामन शत्रुओं को उड़ाने, झुकाने आदि की सामर्थ्य रखता है। अतः उसके तेजपुंज में मारुत और मार्तण्ड के गुण पाए जाते हैं। यहाँ मारुत और मार्तण्ड की जिन क्रियाओं का क्रमशः वर्णन है, उसी क्रम से तूल, तिनूका आदि का भी कथन है। अतः यहाँ यथासंख्य अलंकार है। तोषनिधि कवि ने भी इसी उदाहरण का अनुकरण करने का प्रयास किया है, पर उसमें न तो क्रम का निर्वाह ही वैसा हो पाया है और न यह चमत्कार ही आ पाया है।

विकल्प :—जहाँ समान बल वाली वस्तुओं का विरोध चतुरतापूर्वक दिखाया जाता है, वहाँ विकल्पालंकार होता है[1]। यथा :—

विपिन सरन कै चरन तकौ राव ही के,
चढ़ौ गिरि पर कै तुरंग परवर में।

× × × × ×

वैर तो बढ़ायो कह्यो काहू को न मान्यो,
अब दांतिन तिनूका, कै कृपान गहौ कर में। २७६।

यहाँ कवि ने अपने आश्रयदाता के आतंक का वर्णन किया है। अरि-स्त्रियां अपने पतियों से कहती हैं—पहले हमारा कहना नहीं माना। अब या तो दांतों तले तिनका दबाओ (पराजय स्वीकार करो) या तलवार धारण करो। यहाँ सन्धि करने या युद्ध की सूचना इन दो विरोधी बातों का कथन है। क्योंकि संधि और युद्ध दोनों एक ही समय में नहीं हो सकते। अतः सम्पूर्ण छन्द में समान बल वाली वस्तुओं के विरोध का कथन होने से विकल्प अलंकार है। यहाँ वर्णित विरोधों में से किसी में भी तनिक शिथिलता नहीं है। इसीलिए यह एक सफल उदाहरण कहा जाता है।

अर्थान्तरन्यास :—जहाँ विशेष से सामान्य का और सामान्य से विशेष का समर्थन किया जाता है, वहाँ यह अलंकार होता है।[2] इसके आठ भेद होते हैं, पर मतिराम

१—सम बलजुत द्वै बात को, बनरत जहाँ विरोध।
......................तहां विकल्प श्रुति सोध॥ २७५। ल० ल०

२—कहि विशेष सामान्य पुनि, कै सामान्य विशेष।
सो अर्थान्तरन्यास है..............................॥ २८६॥ ल० ल०

ने केवल दो भेद ही किये हैं। उनका भी कथन नहीं किया, केवल उदाहरण देकर इस ओर संकेत भर कर दिया है। इसका जो पहला उदाहरण है वह बड़ा ही सुन्दर है।

रावरे नेह को लाज तजी, अरू गेह के काज सबै बिसराए ।
डारि दियो गुरु लोगनि को डरू, गांव चबाय में नाम धराए ।।
हेत कियो हम जो तो कहा, तुम तौ मतिराम सबै बहराए ।
कोऊ कितेक उपाय करौ, कहूँ होत हैं आपने पीव पराए ।। २९० ।

यहाँ नायिका मृदुल फटकार देती हुई नायक से कह रही है :—
तुम्हारे स्नेह के लिए मैंने लज्जा, गुरुजनों का भय, गृह काज, लोक निन्दा आदि सभी त्याग कर दिया, परन्तु आपने सब कुछ भुला दिया। सत्य है, पराया प्रिय कभी अपना हो सकता है । यहाँ अन्तिम पद (जिसमें सामान्य कथन है) का उपर्युक्त पदों में वर्णित विशेष कथन से समर्थन किया गया है। यहाँ विशेष कथन को वक्ता के अनुभव का फल बताने से समर्थन में विशेषता आ गई है। इसीलिए यह समर्थन बड़ा प्रभावोत्पादक बन गया है।

इसी प्रकार शब्दार्थावृत्ति, सहोक्ति और प्रौढ़ोक्ति आदि के उदाहरण भी सफल एवं निर्दोष उदाहरणों के रूप में दिए जा सकते हैं।

मतिराम और संस्कृत आचार्य :—

जहाँ तक अलंकारों के क्रम और लक्षणों का प्रश्न है, वहाँ मतिराम ने निस्सन्देह अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द को अपना आधार बनाया है । अलंकारों के नामों में अवश्य कहीं कहीं कुछ परिवर्तन किया है, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है। यह परिवर्तन कवि की रुचि का परिचायक मात्र है, अन्य कोई उसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। अलंकारों के भेदों में भी प्रायः कुवलयानन्द का ही अनुसरण किया गया है। हाँ; कहीं कहीं अवश्य उन्होंने स्वतंत्रता का उपयोग किया है। मतिराम के पूर्ववर्ती जसवन्तसिंह के भाषा भूषण में भी अलंकारों के नाम, क्रम, भेद, लक्षण आदि कुवलयानन्द के आधार पर ही हैं। यहाँ तक कि चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की वर्णन शैली भी ज्यों की त्यों उसमें पाई जाती है। अतः यह बहुत संभव है कि मतिराम ने जसवन्तसिंह से बहुत कुछ ग्रहण किया हो। अलंकारों के लक्षणों की भाषा यद्यपि दोनों कवियों की भिन्न भिन्न है, तथापि यह कहने में संकोच नहीं कि मतिराम ने लक्षण लिखना जसवन्तसिंह से ही सीखा होगा। मालोपमा, रसनोपमा और चित्र जैसे अलंकारों का, जिनका वर्णन कुवलयानन्द में नहीं है, वर्णन यही सूचित करता है कि मतिराम ने इन अलंकारों को भाषाभूषण से ही लिया होगा। अप्रस्तुतप्रशंसा, व्यतिरेक, अल्प, भाविक जैसे अलंकारों के भेदों पर मतिराम द्वारा प्रकाश न डाला जाना भाषाभूषण के अनुसरण की ओर

संकेत करता है। क्योंकि 'भाषाभूषण' में भी इनके भेदों का उल्लेख नहीं है। रसवदादि पन्द्रह अलंकारों के वर्णन का अभाव भी यही प्रकट करता है कि मतिराम ने भाषाभूषण का अनुसरण अवश्य किया है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि 'भाषा-भूषण' में उसका वर्णन होने पर मतिराम ने काव्यलिंग जैसे प्रसिद्ध अलंकार को क्यों छोड़ दिया।

इतना सब कुछ होते हुए भी 'भाषा भूषण' मतिराम का आधार ग्रंथ नहीं कहा जा सकता क्योंकि अलंकारों के लक्षणों की भाषा अधिकतर कुवलयानन्द से ही साम्य रखती है। कहीं तो कुवलयानन्द का शब्दशः अनुवाद दिखाई पड़ता है। अपने कथन के समर्थन में यहां कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं। देखिए :—

अनन्वय :— ज़हाँ एक ही बात को, उपमेयो उपमान। मति०
उपमानोपमेयत्वं यदेकस्यैव वस्तुनः। १०। कुवल०

द्वितीय प्रतीपः— जहां और उपमेय लहि, वर्न्य अनादर होइ। ५६। मतिराम०
अन्योपमेय लाभेन, वर्ण्यस्यानादरश्चतत्। १३। कुवल०

शुद्धापन्हुति :— औरे को आरोप करि, सांच छपावत धर्म। ८७। मति०
शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः। २६। कुवल०

छेकापन्हुति :— जहां और की संकते, सांच छपावत बात। ६५। मति०
छेकापन्हुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिन्हवे। ३०। कुवल०

दीपक :— वर्न्य अवर्न्यन को जहां, धरम होत है एक। १२५। मति०
वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः। ४८। कुवल०

निदर्सना :— सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहां एक आरोप। १४८। मति०
वाक्यार्थयोः सदृश्योरैक्यारोपो निदर्शना। ५३। कुवल०

समासोक्ति :— जहं प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान। १६२। मतिराम
समासोक्तिः परिस्फूर्ति प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्। ६१। कुवल०

परिकर परिकरांकुर :—

साभिप्राय बिशेषननि, सो परिकर मतिराम।
साभिप्राय विशेष्यतें, परिकर अंकुर नाम। १६४। मतिराम
अलंकारः परिकर : साभिप्राय विशेषणे। ६२।
साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः। ६३। कुवल०

प्रस्तुताङ्कुर :— प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहाँ, प्रकट होत मतिराम। १७५
प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः। ६७। कुवल०

विभावना :— बिना हेतु जहं बरनिए, प्रकट होत है काज। १९६। मति०
विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यजन्म चेत्। ७७। कुवल०

द्वितीय असंगति :—और ठौर करनीय जो, करत और ही ठौर। २१७। म०
अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्रकृतिश्च सा। ८६। कुवल०

सम :— जहाँ दुहूँ अनुरूप को, कविजन करत बखान। २८८। म०
समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयो:। ९१। कुवल०

अधिक :— जहां बड़े आधार तें, बरनत बढि आधेय। २६३। मति०
अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्। ९५। कुवल०

अल्प :— जहं सूछम आधेय तें अति सूछम आधार। २४०। मति०
अल्पं तु सूक्ष्माधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता। ९७। कुवल०

विशेष :— जहाँ अधेय बखानिए, बिन प्रसिद्ध आधार। २४५। मति०
विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्। ९९। कुवल०

मालादीपक :— जहं दीपक एकावली होत दुहुनि को जोग। २६१। म०
दीपकैकावली योगान्मालादीपकमिष्यते। १०७। कु०

सार :— उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। २६४। मति०
उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते। १०८। कुवल०

समुच्चय :— बहुत भये इकबारगी, तिनको गुंफ जु होय। २७७। मति०
बहूनां युगपद्भावभाजां गुम्फः समुच्चयः। ११५। कुवल०

कारक दीपक : – एकहि में क्रम सों भये, तिनको गुंफ जु होय। २८१। मति०
क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम्। ११७। कुवल०

प्रत्यनीक :— प्रबल सत्रु के पक्ष पर, जहं विक्रम उल्लास। २८५। मति०
प्रत्यनीयकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः। ११९। कुवल०

प्रौढोक्ति :— जो अहेतु उत्कर्ष को, ताहि बखानत हेत। २९४। मति०
प्रौढोक्तिरुत्कर्षा हेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम्। १२५। कुवल०

प्रहर्षण :— जहं उत्कंठित अर्थ की बिन उपाय ही सिद्धि। ३०२। मति०
उत्कण्ठितार्थ संसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्। १२९। कुवल०

विषाद :— मन इच्छित के अर्थ की, प्रापति जहाँ विरुद्ध। ३१०। मति०
इच्यमाणविरुद्धार्थ संप्राप्तिस्तु विषादनम्। १३२। कुवल०

सूक्ष्म :— जानि पराए चित्त की ईहा जो आकूत। ३५४। मतिराम
सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम्। १५१। कुवल०

विवृतोक्ति :— जहां श्लेष सों गुप्त सों, सुकवि प्रकासत अर्थ। ३६२। मति०
विवृतोक्तिः श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि। १५५। कुवल०

प्रतिषेध :— जहां प्रसिद्ध निषेध को, अनुकीरतन प्रकास । ३८७ । मति०
प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् । १६५ । कुवल०

इन उपर्युक्त उदाहरणों में कवि ने केवल शब्दशः अनुवाद ही नहीं किया है, वरन् अनुकीर्तन, आकूत, उत्कंठितार्थ, गुम्फ, करणीय, वर्ण्य, अवर्ण्य आदि जैसे संस्कृत शब्दों को भी उसी रूप में अपने अनुवाद में रख दिया है। इनके अतिरिक्त अन्य लक्षण भी कुवलयानन्द के अनुवाद ही जान पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यह कथन सर्वथा उचित ही है कि लक्षण लिखते समय कुवलयानन्द अवश्य ही मतिराम के सामने मौजूद था। अन्यथा इस प्रकार शब्दशः अनुवाद संभव नहीं हो सकता। भाषा भूषण में लक्षणों की ऐसी भाषा नहीं है। अतः यह निश्चित है कि कुवलयानन्द ही ललित ललाम का मूल आधार ग्रन्थ है। यह बात दूसरी है कि यत्र तत्र उसमें काव्य प्रकाश और साहित्यदर्पण का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। चन्द्रालोक के कतिपय अलंकारों के लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द में शब्दशः ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। अतः चन्द्रालोक का परोक्ष प्रभाव भी उस पर है।

उपमा :— जहां बरनिए दुहनि की, सम छवि को उल्लास । मतिराम
उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मी रुल्लसति द्वयोः । चन्द्रालोक ।
उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मी रुल्लसति द्वयोः । कुवल ।

समासोक्ति :— जहं प्रस्तुत में होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान । मतिराम ।
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत् । चन्द्रालोक ।

काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण का प्रभाव भी देख लीजिए। मालोपमा, रसनोपमा और उपमेयोपमा के लक्षणों में उपर्युक्त ग्रंथों की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है :—

मालोपमा :— जहाँ एक उपमेय कौ, होत बहुत उपमान । मतिराम
मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते । साहित्य दर्पण

रसनोपमा :— जहाँ प्रथम उपमेय सो होत जात उपमान । ललित ललाम
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता । सा० द०

उपमेयोपमा :— जहाँ होत है परस्पर उपमेयो उपमान । ल० ल०
पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता । साहित्य दर्पण
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः । काव्य प्रकाश

अनन्वय :— जहाँ एक ही बात कों, उपमेयो उपमान । ललित ललाम
उपमानोपमेयत्वमेकस्यैवत्वन्वयः । साहित्य दर्पण

उत्प्रेक्षा का लक्षण भी इन्हीं दोनों ग्रंथों पर आधारित जान पड़ता है। यथाहि :—

जहँ कीजै सम्भावना, सो उत्प्रेक्षा जानि। ललित०
सम्भावनमथोत्प्रेक्षा। काव्य प्रकाश।
भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा। साहित्य दर्पण।

इतना ही नहीं, हेतुमाला, सार तथा परिवृत्ति अलंकारों के लक्षण भी इन ग्रन्थों से प्रभावित हैं। यथाहि:—

हेतुमाला : पूरब पूरब हेतु जहं, उतर उत्तर काज। ललित ललाम
यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता। काव्य प्रकाश।
परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता। साहित्य दर्पण।

परिवृत्ति : घाटि बाढि द्वै बात को, जहां पलटिबो होय। ल० ल०
परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः। काव्य प्रकाश।
परिवृत्तिर्विनिमयो समन्यूनाधिकैर्भवेत्। सा० द०।

सार : उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। ल० ल०
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः। का० प्र०
उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। सा० द०

परन्तु यहां भी 'सार' और 'परिवृत्ति' के लक्षणों में कुवलयानन्द का प्रभाव ही अधिक जान पड़ता है। क्योंकि सार के लक्षण में कुवलयानन्द के शब्दों का शब्दशः अनुवाद है, जबकि काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण की छाया मात्र ही है। इसी प्रकार 'परिवृत्ति' की शब्दावली भी दृष्टव्य है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि चन्द्रालोक, काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण का प्रभाव होते हुए भी कुवलयानन्द ही मतिराम के ललित ललाम का मूल आधार है और उसी का सर्वाधिक प्रभाव उस पर पड़ा है।

मतिराम और हिन्दी कवि :

मतिराम ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों को अवश्य ही देखा होगा। जसवन्तसिंह के भाषा भूषण का अध्ययन तो उन्होंने किया ही है। यह हम पहले बता चुके हैं कि वे भाषा भूषण से अवश्य ही प्रभावित थे। अलंकारों की संख्या, क्रम और शैली उन्होंने भाषा भूषण से ही ग्रहण की है। कहीं-कहीं उदाहरणों में भी अन्य कवियों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैसे :

१. मानत लाज लगाम नहिं, नेक न गहत मरोर।
होत तोहि लखि बाल के, दृग तुरंग मुँह जोर। मतिराम
लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँह जोर तुरंग लौं, ऐंचत हूँ चलि जाहिं। बिहारी

२. बाल रही इक टक निरखि, ललित लाल मुख इन्दु ।
रीझ भार अँखियाँ थकीं, झलके श्रमजल बिन्दु । मति०
रस भिजए दोऊ दुहुन, यकटक रहे टरै न ।
छबि सौं छिरकत प्रेम रंग, भरि पिचकारी नैन । बिहारी

मूल्यांकन

ललित ललाम में कवि ने केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है। शब्दालंकारों तथा अन्य रसवदादि पंचदश अलंकारों का निरूपण उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त काव्य में अन्य अंगों जैसे काव्य का स्वरूप, उद्देश्य, शब्दशक्ति, अलंकारों का महत्व आदि पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। इससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ रचना का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को रिझाना मात्र ही था, परम्परा का पालन करना ही था। आचार्यत्व प्रदर्शित करना नहीं। यदि ऐसा होता तो उन्होंने अवश्य ही किसी सिद्धान्त का प्रतिपालन या समर्थन किया होता, खण्डन मण्डन या तर्क वितर्क किया होता और साथ ही काव्य के अन्य महत्वपूर्ण अंगों पर भी प्रकाश डाला होता।

कतिपय लक्षण और उदाहरण दूसरों से प्रभावित होने पर भी शुद्ध और निर्दोष नहीं हो सके। अवकाश होते हुए भी वे उन लक्षणों को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर सके। उदाहरण भी आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए। फलस्वरूप इन उदाहरणों के कुछ चरण निरर्थक से हो गए। इतना सब कुछ होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से उन उदाहरणों का बड़ा महत्व है। जैसी सरसता और रसिकता उसमें मिलती है, वैसी उस युग के कम कवियों में ही पाई जाती है। अतः आचार्यों में भले ही उनकी गणना न होवे, परन्तु उस युग के सहृदय कवियों में उनका स्थान अवश्य ही महत्वपूर्ण है।

रस रहस्य : कुल पति मिश्र

(वि० सं० १७२७)

आगरा निवासी परसराम के सुपुत्र कुलपति मिश्र[१] ने जयपुर के महाराज

१—बसत आगरे आगरे, गुनियन की जहं रास ।
विप्र मथुरिया मिश्र हैं, हरि चरनन के दास । २०८ ।
अभुवं मिश्र तिन वंश में, परसराम जिमि राम ।
तिनके सुत कुलपति कियो, रस रहस्य सुख धाम । २०९ ।

रार्मासिंह के आश्रय में[१] वि० सं० १७२७ में[२] 'रस रहस्य'[३] नामक काव्य शास्त्र की रचना की थी। इस ग्रन्थ में मम्मट के मत का सार ही भाषा में वर्णित किया गया है, कोई नई बात नहीं कही गई है। इस तथ्य को स्वयं कवि ने अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है :

मम्मट मत को सारु, सब, बरनत भाषा भाखि। १६॥
भाषा में यातें नमैं कहौं नई नहिं कांति। १७॥

ग्रन्थ परिचय :—

इस ग्रन्थ में कुल आठ वृतान्त हैं। प्रत्येक वृतान्त के अन्त में "इति श्री कुलपति मिश्र विरचिते रस रहस्ये—वृतान्तः" ऐसा लिखा गया है। प्रथम वृतान्त में काव्य लक्षण, प्रयोजन कारण, और भेद की चर्चा है, द्वितीय में शब्दशक्ति, तृतीय में ध्वनि, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, रस भाव आदि, चतुर्थ में गुणीभूत व्यंग्य, पञ्चम में दोष, छठवें में गुण, सातवें में शब्दालंकारों तथा आठवें में अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन पाया जाता है। लक्षण और उदाहरण के बाद गद्यवार्तिक देकर स्पष्टीकरण भी किया गया है जो इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है।

ग्रन्थ का नाम करण : 'रस रहस्य' नाम से तो यही प्रगट होता है कि इस ग्रन्थ में केवल रसों के रहस्य का ही उद्घाटन किया गया होगा, पर यहाँ तो रस के अतिरिक्त काव्य के और भी अगों का विवेचन हुआ है, अतः 'रस रहस्य' शब्द से ग्रन्थ के सभी विषयों का बोध नहीं होता। परन्तु रस काव्य की आत्मा है, और रस काव्यांगों का आधार है। इस कारण प्रधानता को ध्यान में रखते हुए ही इसका नाम 'रस रहस्य' रक्खा गया है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि कुलपति जी काव्य में रस को ही अधिक महत्व देते हैं अर्थात् वे रस-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

अलंकार वर्णन

'रस रहस्य' में उसके सातवें और आठवें वृतान्तों में अलंकारों का वर्णन हुआ है, सातवें वृतान्त में शब्दालंकारों का और आठवें में अर्थालंकारों का। शब्द और अर्थ

१—सो पुनि राम कुमार को आयसु उर में राखि।
मंमट मत को सारु सब, बरनत भाषा भाखि। १६।
मैं विचार सागर मथ्यो, कीन्हों अमृत विकास।
रस रहस्य यह सबुनि की, हरै रसन की प्यास। १८।

२—संवत सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादसी, बार बरनि बानीस। २११।

३—ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति संख्या ८१२ कु० २ तथा हस्तलिखित प्रति संख्या ५३-१७ के आधार पर।

२. बाल रही इक टक निरखि, ललित लाल मुख इन्दु ।
रीझ भार अँखियाँ थकीं, झलके श्रमजल बिन्दु । मति०
रस भिजए दोऊ दुहुन, यकटक रहे टरै न ।
छवि सौं छिरकत प्रेम रंग, भरि पिचकारी नैन । बिहारी

मूल्यांकन

ललित ललाम में कवि ने केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन किया है। शब्दालंकारों तथा अन्य रसवदादि पंचदश अलंकारों का निरूपण उसमें नहीं है। इसके अतिरिक्त काव्य में अन्य अंगों जैसे काव्य का स्वरूप, उद्देश्य, शब्दशक्ति, अलंकारों का महत्व आदि पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है । इससे विदित होता है कि इस ग्रन्थ रचना का उद्देश्य अपने आश्रयदाता को रिझाना मात्र ही था, परम्परा का पालन करना ही था । आचार्यत्व प्रदर्शित करना नहीं । यदि ऐसा होता तो उन्होंने अवश्य ही किसी सिद्धान्त का प्रतिपालन या समर्थन किया होता, खण्डन मण्डन या तर्क वितर्क किया होता और साथ ही काव्य के अन्य महत्वपूर्ण अंगों पर भी प्रकाश डाला होता ।

कतिपय लक्षण और उदाहरण दूसरों से प्रभावित होने पर भी शुद्ध और निर्दोष नहीं हो सके । अवकाश होते हुए भी वे उन लक्षणों को पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं कर सके । उदाहरण भी आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गए । फलस्वरूप इन उदाहरणों के कुछ चरण निरर्थक से हो गए । इतना सब कुछ होते हुए भी कवित्व की दृष्टि से उन उदाहरणों का बड़ा महत्व है । जैसी सरसता और रसिकता उसमें मिलती है, वैसी उस युग के कम कवियों में ही पाई जाती है । अतः आचार्यों में भले ही उनकी गणना न होवे, परन्तु उस युग के सहृदय कवियों में उनका स्थान अवश्य ही महत्वपूर्ण है ।

रस रहस्य : कुल पति मिश्र

(वि० सं० १७२७)

आगरा निवासी परसराम के सुपुत्र कुलपति मिश्र[१] ने जयपुर के महाराज

१—बसत आगरे आगरे, गुनियन की जहं रास ।
विप्र मथुरिया मिश्र हैं, हरि चरनन के दास । २०८ ।
अभुवं मिश्र तिन वंश में, परसराम जिमि राम ।
तिनके सुत कुलपति कियो, रस रहस्य सुख धाम । २०९ ।

रामसिंह के आश्रय में[1] वि० सं० १७२७ में[2] 'रस रहस्य'[3] नामक काव्य शास्त्र की रचना की थी। इस ग्रन्थ में मम्मट के मत का सार ही भाषा में वर्णित किया गया है, कोई नई बात नहीं कही गई है। इस तथ्य को स्वयं कवि ने अपने शब्दों में स्पष्ट कर दिया है :

मम्मट मत को सारु, सब, बरनत भाषा भाखि। १६ ॥
भाषा में यातें नमैं कहौं नई नहिं कांति। १७ ॥

ग्रन्थ परिचय :—

इस ग्रन्थ में कुल आठ वृतान्त हैं। प्रत्येक वृतान्त के अन्त में "इति श्री कुलपति मिश्र विरचिते रस रहस्ये—वृतान्तः" ऐसा लिखा गया है। प्रथम वृतान्त में काव्य लक्षण, प्रयोजन कारण, और भेद की चर्चा है, द्वितीय में शब्दशक्ति, तृतीय में ध्वनि, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, स्थायी भाव, रस भाव आदि, चतुर्थ में गुणीभूत व्यंग्य, पञ्चम में दोष, छठवें में गुण, सातवें में शब्दालंकारों तथा आठवें में अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन पाया जाता है। लक्षण और उदाहरण के बाद गद्यवार्तिक देकर स्पष्टीकरण भी किया गया है जो इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग हुआ है।

ग्रन्थ का नाम करण : 'रस रहस्य' नाम से तो यही प्रगट होता है कि इस ग्रन्थ में केवल रसों के रहस्य का ही उद्घाटन किया गया होगा, पर यहाँ तो रस के अतिरिक्त काव्य के और भी अंगों का विवेचन हुआ है, अतः 'रस रहस्य' शब्द से ग्रन्थ के सभी विषयों का बोध नहीं होता। परन्तु रस काव्य की आत्मा है, और रस काव्यांगों का आधार है। इस कारण प्रधानता को ध्यान में रखते हुए ही इसका नाम 'रस रहस्य' रक्खा गया है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि कुलपति जी काव्य में रस को ही अधिक महत्व देते हैं अर्थात् वे रस-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

अलंकार वर्णन

'रस रहस्य' में उसके सातवें और आठवें वृतान्तों में अलंकारों का वर्णन हुआ है, सातवें वृतान्त में शब्दालंकारों का और आठवें में अर्थालंकारों का। शब्द और अर्थ

१—सो पुनि राम कुमार को आयसु उर में राखि।
मंमट मत को सारु सब, बरनत भाषा भाखि। १६।
मैं विचार सागर मथ्यो, कीन्हों अमृत विकास।
रस रहस्य यह सबुनि की, हरै रसन की प्यास। १८।

२—संवत सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस।
कातिक बदि एकादसी, बार बरनि बानीस। २११।

३—ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति संख्या ८१२ कु० २ तथा हस्तलिखित प्रति संख्या ५३-१७ के आधार पर।

की चित्रता के कारण कुलपति ने शब्द चित्र (शब्दालंकार) और अर्थ चित्र (अर्थालंकार) के नाम से अलंकार के दो भेद बताए हैं, पर पुनरुक्तवदाभास को उन्होंने शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) बताया है :

अर्थ शब्दार्थालंकार पुनुरुक्तवदाभास लक्षण ।
भासै पद पुनरुक्तवदाभास सो, पै पुनरुक्त न सोय ।
सो पुनरुक्तवदाभास है, शब्द अर्थ तें होय ।। ७-४२ । र० र०

अतः इस प्रकार कुलपति के अनुसार अलंकार के तीन भेद हो जाते हैं। इस वर्णन में सबसे पहले उन्होंने शब्दालंकारों का ही विवेचन किया है। शब्द पहले आता है, इसलिए उनको सजाने वाले साज का वर्णन पहले होना चाहिए[1]। शब्दालंकारों में भी सबसे पहले वे 'वक्रोक्ति' का वर्णन करते हैं। क्योंकि :

उक्ति भेद तें होत हैं, अलंकार यह जानि ।
वक्र उक्ति यातें कहीं, द्वै विधि प्रथम वखानि । ७-३ । र० र०

यहाँ कुलपति ने 'उक्ति' को अलंकार या समानार्थक माना है और वक्रोक्ति को उसका प्राण मानकर सर्वप्रथम उसी का वर्णन किया है। काव्य प्रकाश में भी पहले शब्दालंकारों का और उनमें भी सर्वप्रथम 'वक्रोक्ति' का कथन है, पर उसको प्राथमिकता देने का वहाँ कोई कारण नहीं दिखाया गया। कुलपति ने दोनों को प्राथमिकता देने के कारणों का कथन स्पष्ट रूप में कर दिया है।

'वक्रोक्ति' का लक्षण और भेद करने में मम्मट का ही अनुसरण है। देखिए :

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया, सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ।९-७८। का० प्र०
कहै बात औरे कछू अर्थ करैं कछु और
वक्र उक्ति ताको कहैं, श्लेष शुद्ध द्वै ठौर ।७-४। र० र०

कुलपति का यह लक्षण कुछ सदोष हो गया है। क्योंकि किसी के कथन को उससे भिन्न अर्थ में समझने की बात का तो कथन यहाँ है, पर किसी अन्य के द्वारा समझने का कथन नहीं है। यहाँ मम्मट के लक्षण के 'अन्येन योजयेत्' की उपेक्षा करने के कारण ही कुलपति के लक्षण में दोष आ गया है, पर उदाहरण ठीक है।

'वक्रोक्ति' के अतिरिक्त अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास का निरूपण इस प्रकरण में किया गया है। 'अनुप्रास' का भी लक्षण और भेद मम्मट के ही समान हैं।

वर्णसाम्यमनुप्रासः, छेकवृत्तिगतो द्विधा । काव्य प्रकाश । ९-०९
वर्ण एक से फिरैं जहाँ, अनुप्रास है सोय ।

१—प्रथम शब्द यातें कहैं, प्रथम शब्द के साज । ७-२ ।। र० र०

छेक विदग्धा वृत्ति करि, सो पुन द्वै विधि होय ।७–७। र० र०

इसके पश्चात् 'लाटानुप्रास' आता है । मम्मट की भाँति इसके भी पाँच भेद यहाँ किए गए हैं ।

पदानां सः पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः सः वृत्त्यवृत्तयोश्च, तदेवं पंचधा मतः ।। का० प्र० । ९–८२
फिरै अर्थ पद जुत जहाँ, अर्थ भेद नहिं कोय ।
सो लाटानुप्रास पुनि, भाव भेद तैं होय ।। ७–१३ । र० र०
एक शब्द बहु शब्द को, एक रु भिन्न समास ।
बरने वचन समास हू, पाँच भांति सुप्राश ।। ७–१४ । र० र०

यहाँ कुलपति काव्य प्रकाश के समास, असमास और समासासमास नामक आवृत्ति वाले भेदों को स्पष्ट नहीं कर पाए ।

यमक : मम्मट की भाँति कुलपति ने भी 'यमक' के अनन्त भेद बताए हैं :

जमक कहत तासौं सबै, भेद अनन्त विचार । ७–१६ । र० र०

'परन्तु होय ग्रन्थ विस्तार' के कारण उनका निर्देश नहीं किया गया । मम्मट ने उसे 'काव्यान्तर्गडुभूत[1]' कहकर उसके भेद, लक्षण नहीं किए, केवल दिङ्मात्र ही उनका निरूपण कर दिया था । पर कुलपति ने केवल विस्तार भय से ही नहीं, वरन् उसमें रस का हुलास न होने के कारण भी उसका विस्तृत विवेचन नहीं किया ।

जमक चित्र अरु श्लेष में, रस को नाहिं हुलास ।
यातें याके स्वल्प ही, वरने भेद प्रकाश । ७-४४ । र० र०

यहां कवि ने 'यमक' के साथ साथ 'चित्र' और 'श्लेष' को भी सम्मिलित कर लिया है जिससे कवि की स्वतंत्र चिंतन-शक्ति का परिचय मिलता है । कुलपति ने 'यमक' का जो लक्षण किया है, वह मम्मट की ही छाया में लिखा जान पड़ता है । देखिए :

अर्थ होय भिनै जहां, शब्द एक अनुहार । ७-१६ । र० र०
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।।
यमकम् .... ९-८३ । का० प्र०

यहां कुलपति का पूर्वार्ध मम्मट के पूर्वार्ध से मिलता है, पर उत्तरार्ध स्वतंत्र है ।

१—प्रभूततमभेदम् । तदेतत्काव्यान्तर्गडुभूतम् इति नास्य भेद लक्षणं कृतम् । दिङ्मात्रमुदाह्रियते । ९-८३ वृत्ति भाग-काव्य प्रकाश ।

श्लेष : मम्मट का लक्षण अपेक्षाकृत कठिन है, पर कुलपति ने उसे सरल एवं स्पष्ट रूप देने का स्तुत्य प्रयास किया है। इससे जान पड़ता है कि उन्होंने ग्रन्थानुसरण नहीं किया। यथा :

वाच्यभेदेन भिन्ना यत् युगपद् भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ।। ६-८४ । का० प्र०
स च वर्ण पदलिंग भाषा प्रकृति, प्रत्यय विभक्ति वचनानां
भेदादष्टधा । वृत्ति भाग–का० प्र०

अर्थात् जहां एक ही उच्चारण के विषय होकर जो शब्द वाच्य अर्थ के भेद होने के कारण भिन्न भिन्न होकर भी श्लिष्ट होते हैं, वहीं पर श्लेष होता है।

कहे जु अरथ अनेक को, रहै एक ही रूप।
शब्द तहां सुसलेश हैं, आठ भांति सुअनूप। ७–२७। र० र०
वरन वचन अरु लिंग पुनि, कहि विभक्ति पदकान्ति।
भाषा अरु प्रत्यय प्रकृति, वरन आठ इहि भांति। ७–२८। र० र०

मम्मट के अनुकरण पर यहां भी श्लेष के आठ भेद कहे गये हैं। पर इनमें वर्ण श्लेष का उदाहरण हिन्दी में दुर्लभ है, अतः यहां उस पर प्रकाश नहीं डाला गया।

चित्र : चित्र में लिखने की चतुराई होती है, उसमें रस का हुलास तो होता नहीं है। इस कारण यहां केवल षड्ग बंध, गोमूत्रका, शातधेनु तथा रंग वरन चित्रों का ही विशेष वर्णन किया गया है, वैसे तो वह 'बहुविधि' होता है।

'पुनरुक्तवदाभास' को कुलपति ने शब्दार्थालंकार मानकर उसका लक्षण किया है। उसे केवल शब्दालंकार नहीं बताया।

इस प्रकार सातवें वृतान्त में शब्दालंकारों का वर्णन हुआ है, जो बिलकुल मम्मट के ही अनुकरण पर है। लक्षणों में कहीं कहीं साम्य है।

अर्थालंकार निरूपण :

'रस रहस्य' में लगभग ६५ अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है। इनकी संख्या, नाम, भेद और क्रम प्रायः मम्मट के ही समान है। कुछ स्थलों पर अवश्य भिन्नता हो गई है। संख्या में तो कोई अन्तर नहीं है। काव्य प्रकाश में ६० मूल अलंकारों का वर्णन है, वहां मालोपमा, रसनोपमा, एकदेशविवर्तिनी उपमा, परिणाम और उल्लेख का वर्णन नहीं है, पर साहित्य दर्पण में है। संभवतः 'रस रहस्य' में वहीं से पाँचों को लेकर सम्मिलित कर लिया गया है। डा० ओमप्रकाश ने अपने "हिन्दी अलंकार साहित्य" नामक ग्रन्थ के ११४ पृष्ठ पर जो यह लिखा है कि अधिक, एकावली, सामान्य, विशेष, संसृष्टि और संकर 'रस रहस्य' में हैं ही नहीं, सर्वथा भ्रमपूर्ण है। क्योंकि हस्तलिखित प्रति में ये सभी अलंकार मोजूद हैं और मुद्रित प्रति

में भी अधिक और विशेष अलंकार दिए हुए हैं। 'संसृष्टि' और 'संकर' के लक्षण भी इसी हस्तलिखित प्रति में हैं जो इस प्रकार हैं :

अथ संसृष्टि : अलंकार द्वै मुख्य जहं सो संसृष्ट कहाइ।
सब्द अरथ पुनि दुहुनि करि, ताके तीन सुभाइ। ८-२२० र० र०

अथ संकर लछन : पोष्यौ पोषक भाव पुनि अलंकार संदेह ।
अलंकार दोऊन के रहे एक पद गेह ॥ ८–२२४ ॥ र० र०
इह विधि तीन प्रकार को संकर कही बखानि।

यहाँ संकर का लक्षण न देकर उनके भेदों की संख्या गिना दी गई है। पर प्रत्येक के उदाहरण अवश्य लिखे गए हैं। मुद्रित प्रति में 'व्याघात' के उदाहरण की टीका में 'अब इन अलंकारों से संकर और संसष्टि होती है' लिखकर उन अलंकारों की ओर संकेत मात्र कर दिया गया है।

नामों में मम्मट के 'ससन्देह' को यहां 'सन्देह' और 'परिवृत्ति' को 'विनिमय' नाम दिया गया है। पर इस 'विनिमय' में नवीनता नहीं है क्योंकि इसका बीज काव्य प्रकाश तथा साहित्य दर्पण के लक्षणों में विद्यमान हैं[1]। अन्य शेष नामों में कोई अन्तर नहीं है।

अलंकारों के भेदों की दृष्टि से भी मम्मट और कुलपति में प्रायः समानता ही है। अन्तर है तो इतना कि उन्होंने 'उपमा' के पूर्णा और लुप्ता, पूर्णा के श्रौती एवं आर्थी तथा लुप्तोपमा के ६ भेदों के अतिरिक्त अन्य भेदों की चर्चा नहीं की। इसी प्रकार 'उत्प्रेक्षा' के फल और हेतु, उन्होंने दो भेद किये हैं, पर मम्मट में इन भेदों की चर्चा नहीं है। 'व्यतिरेक' के प्रसंग में मम्मट की ही भांति यहां भी २४ भेद बताए गए, पर उनकी गणना नहीं कराई गई। 'अतिशयोक्ति' के मम्मट ने चार और कुलपति ने केवल तीन ही भेद कहे हैं। शब्दालंकारों में प्रायः सभी भेद मम्मट से ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गए पर, 'श्लेषगत वक्रोक्ति' के सभंग और अभंग भेदों को छोड़ दिया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य अलंकार भेद दोनों में प्रायः समान हैं।

अलंकारों का क्रम भी प्रायः मम्मट के ही अनुरूप है। मम्मट ने प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, स्मरण, भ्रान्तिमान अलंकारों को साम्य मूलक अलंकारों के साथ स्थान नहीं दिया था। यह एक कमी थी; उसे कुलपति ने पूरा कर दिया। अतः इन्हीं अलंकारों के क्रम में तो अवश्य दोनों में अन्तर है, अन्यत्र समानता ही है।

अर्थालंकारों के वर्णन का प्रारम्भ 'उपमालंकार' से होता है। उपमा को उन्होंने सिरमौर[2] समझकर ही ऐसा किया है। उपमा में भी उपमान और उपमेय

१—परिवृत्ति विनिमयो योऽर्थानांऽस्यात्समासमैः। १०–११३। का० प्र०
परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ सा० द०

२—सो उपमा सिर मौर। ८–३। र० र०

अलंकारों के प्रान हैं, अतः उनका वर्णन सर्वप्रथम किया गया है[1]। उपमा के प्रसंग में यहाँ उसके पूर्णा और लुप्ता, तथा लुप्ता के श्रौती और आर्थी भेदों की भी चर्चा की गई है। 'लुप्तोपमा' में त्रिलुप्ता का भी उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

मम्मट ने मालोपमा, रसनोपमा, एक देशविवर्तिनि उपमा का निरूपण नहीं किया है, हां, साहित्य दर्णण में इनकी चर्चा की गई है। कुलपति ने साहित्य दर्पण से इन तीनों उपमाओं को ग्रहण कर लिया है। 'मालोपमा' का लक्षण तो यहां नहीं है, पर अन्य दो के लक्षण अवश्य दिए गए हैं। ये लक्षण साहित्य दर्पण से प्रायः प्रभावित हैं। देखिये:—

रसनोपमा: आगे आगे कीजिए, उपमेयो उपमान
वैसे ही रसनोपमा…………………… ।।८-१६। र० र०
……………………कथिता रशनोपमा।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता। १०-२५। सा० द०

एकदेशविवर्तिनी उपमा:

एकदेश विवरतिनि जहां, अंग मुख्य उपमान।
कछूक पैये शब्द तें, कछू अर्थ तें जान।। ८-२१। र० र०
एकदेशविवर्तिन्युपमा, वाच्यत्वगम्यत्वे।
भवेतां यत्र साम्यस्य…………………… । १०-२४। सा० द०

कुलपति का लक्षण विश्वनाथ के लक्षण की अपेक्षा अधिक सरल और बोधगम्य हो गया है।

रूपक: का जो लक्षण कुलपति ने दिया है वह मम्मट और विश्वनाथ के लक्षणों से बहुत ही पूर्ण और सरल है। मम्मट को वृत्ति लिखकर उसे पूरा करना पड़ा।

उपमा अरु उपमेय को, भेद परै नहिं जान
समता व्यंग रहै जहां, रूपक ताहि बखान।। ८-३६।। र० र०
तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।। १०-९३।। का० प्र०

रूपक में अभेद का कारण होता है अति साम्य, और यह अभेद वहीं संभव होता है जहाँ उपमान और उपमेय अपने वैधर्म्य में प्रकाशित हो रहे हों। क्योंकि यहां भेद का अपन्हव नहीं अपितु भेद होने पर भी अभेद की कल्पना हुआ करती है। यह रहस्य काव्य प्रकाश के लक्षण से व्यक्त नहीं होता। इसी लिए काव्य प्रकाशकार को वृत्ति में "अतिसाम्यादनपन्हुतभेदयोरभेदः" कह कर उसे स्पष्ट करना पड़ा। परन्तु कुलपति के लक्षण में 'समता व्यंग रहै' से ही यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

१—उपमा अरु उपमेय हैं, अलंकार के प्रान।
तातैं इनको प्रथम ही, कहियत रूप बखान।। ८-१। र० र०

रूपक के भेदों में यहाँ अवश्य कुछ अस्पष्टता आ गई है। मम्मट ने रूपक के तीन मुख्य भेद—सांग, निरंग और परम्परित—किए हैं। सांग के फिर दो भेद बताए—समस्त वस्तु विषय, और एकदेशविवर्ति। निरंग के भी दो भेद किए: शुद्ध और माला। तथा परम्परित के—श्लिष्ट और अश्लिष्ट—दो भेद बताए। अन्तिम दो भेदों के दो दो उपभेद हैं शुद्ध और अशुद्ध। इस प्रकार काव्य प्रकाश में रूपक के कुल आठ भेद बताए गये। परन्तु कुलपति ने जिस ढंग से उनका कथन किया है उस से वे भेद स्पष्ट नहीं होते। यथा:

अंग सहित अरु सुद्ध पुनि परंपरित द्वै भांति।
एक देशवर्ती बहुरि, माला रूपक कांति। ८-४२। र० र०

इस प्रकार कुलपति के अलंकारों के लक्षण पूर्ण और निर्दोष हैं तथा कहीं कहीं तो वे मम्मट और विश्वनाथ के लक्षणों से भी अधिक सरल और सुगम हो गए हैं। किन्हीं स्थलों पर तो उनकी मौलिकता के भी दर्शन होते हैं। इन लक्षणों पर मम्मट का प्रभाव तो है ही पर कवि ने उनका कोरा अनुवाद कर के नहीं रख दिया है। स्थल स्थल पर उन्होंने अपनी स्वतन्त्र और व्यावहारिक बुद्धि का परिचय दिया है। काव्य प्रकाश के लक्षणों में जहाँ दुरूहता मालूम होती है वहाँ कवि ने सरल शब्दों का प्रयोग करके लक्षणों को सुबोध बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। यथा:

आक्षेप: निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः। १०-१०६। का० प्र०
कह्यो चहे न कहै बरजि, अधिकाई को हेत।
कहि अरु कहिए भेद द्वै, आक्षेपा कहि देत॥ ८-१०६। र० र०

अतिशयोक्ति: निगीर्णाध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्। १०-१०। का० प्र०
अति अभेद जिय राखि जहं, नहिं कहिए उपमेव।
उपमानै कहिए जहां, अतिशय उक्ति सो भेव॥ ८-९१। र० र०

यहाँ इन दोनों लक्षणों में विशेषाभिधित्सया, निगीर्णाध्यवसानम् जैसे क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण काव्य प्रकाश के लक्षणों में कुछ दुरूहता सी आ गई है। पर कुलपति ने उन शब्दों के स्थान पर उनके भावद्योतक सरल शब्दों को रख कर लक्षणों को भी बड़ा सरल सुबोध बना दिया है।

इसी प्रकार सूत्र-शैली अपनाने के कारण मम्मट के लक्षणों में व्याख्या की आवश्यकता पड़ जाती है। ऐसे लक्षणों में कुलपति ने अपनी ओर से कुछ सामग्री जोड़कर लक्षणों को स्पष्ट कर दिया है। यथा:

उपमा: साधर्म्यमुपमा भेदे। १०-८७॥ का० प्र०

इसे स्पष्ट करने के लिये काव्यप्रकाशकार को वृत्ति लिखनी पड़ी "उपमा-नोपमेययोरेव न तु कार्यकारणादिकयोः साधर्म्यं भवति इति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्धः"।

परन्तु कुलपति ने इस सूत्रबद्ध परिभाषा में अपनी ओर से जोड़ कर उसे सरल बना दिया और साथ ही उसके 'नहिं कलपित उपमान जेहिं' ने तो उस लक्षण को और भी अधिक सुन्दर बना दिया। देखिए :

शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।
नहिं कलपित उपमान जेहिं, सो उपमा सिर मौर। ८-३। र० र०
इसी प्रकार असंगति अलंकार का स्वरूप भी दृष्टव्य है।

उदाहरण कवि के अपने हैं। बहुत ही कम स्थल ऐसे हैं जहाँ दूसरों का प्रभाव उन पर हो। उदाहरणों के लिए अधिकतर कवित्त या सवैया जैसे बड़े छन्द का प्रयोग किया गया है। ये सभी उदाहरण प्रायः ठीक हैं और लक्षण भी उनमें पूर्णतया घटित हो जाते हैं।

इस प्रकार लक्षण और उदाहरण सभी निर्दोष और मनोहर हैं। ऐसे स्थल बहुत ही थोड़े मिलेंगे जहाँ कुछ अस्पष्टता आ गई हो। इस उपर्युक्त विवरण से ज्ञात हो जाता है कि काव्यांग सम्बन्धी कुलपति के विचार बड़े सुलझे हुए हैं। इसी कारण उनके निरूपण में स्पष्टता और सरलता है। इससे हमें उनकी प्रतिभा और आचार्यत्व का अनुमान हो जाता है।

कुलपति जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि मम्मट के मत का सार लेकर उसे भाषा में लिखने के उद्देश्य से 'रस रहस्य' की रचना उन्होंने की थी। अतः उनके रस रहस्य का काव्य प्रकाश से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। शब्दालंकारों के नाम, क्रम, भेद और लक्षणों में तो इन दोनों में साम्य है ही, अर्थालंकारों में भी ऐसी ही समता पाई जाती है, यह हम पीछे दिखा चुके हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि कुलपति ने मम्मट के काव्यप्रकाश का रूपान्तरमात्र करके रख दिया है। उन्होंने स्थल स्थल पर अपनी स्वतंत्र बुद्धि से भी काम लिया है, इसलिए कहीं उन्होंने अपनी तरफ से जोड़ा भी है, और कहीं मम्मट की दुरूहता को सरल बनाने का प्रयास भी किया है।

इस प्रकार विषय और वर्णन की दृष्टि से मम्मट के तो वे ऋणी हैं ही, पर विश्वनाथ के ऋण को भी वे नहीं भुला सकते। मालोपमा, रसनोपमा, एकदेश-विवर्तिनी उपमा, परिणाम और उल्लेख अलंकारों के लिए तो वे निश्चय ही विश्वनाथ से उपकृत हैं। लक्षणों में भी यत्र तत्र उनसे सहायता उन्होंने प्राप्त की है। पर इतना अवश्य है कि अन्धानुसरण उन्होंने किसी का नहीं किया। अन्त में

संक्षेप में कुलपति ने अपनी विद्वत्ता और सूझ का परिचय देते हुए काव्य-शास्त्र के अनेक अंगों पर विचार किया तथा हिन्दी-काव्य-शास्त्र के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान भी सुरक्षित कर लिया। तथापि हम उन्हें काव्य शास्त्र का विद्वान ही कहेंगे, सिद्धान्तकार नहीं।

शिवराज भूषण : भूषण
(वि० सं० १७३०)

रीति काल (श्रृंगार काल) में होते हुए भी भूषण ने तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर श्रृंगार के विपरीत वीर रस में अपनी रचनाएं की। हिन्दू जाति का पतन देखते हुए समय की यही मांग थी कि उस काल के हिन्दुओं में राष्ट्रीय भावना भर कर उन्हें चेताया जाय। भूषण ने इस मांग को समझा और तदनुकूल उपयुक्त नायक की खोज कर उन्होंने वैसे ही साहित्य का निर्माण किया जिसने हिन्दू राष्ट्र में चेतना जागृत करके अपनी संस्कृति, धर्म आदि की सुरक्षा के लिए देश में लगन उत्पन्न कर दी। इतना होने पर भी भूषण रीतिकालीन रीति-ग्रन्थ-रचना की प्रवृत्ति से अपना निस्तार न कर सके। रीति-ग्रंथ-परम्परा की धारा में वे बह ही गए। फलतः उन्होंने अपना 'शिवराज-भूषण' नामक ग्रन्थ लक्षण-ग्रन्थ के रूप में ही निर्मित किया। इसके अतिरिक्त भूषण के तीन ग्रंथ भूषण उल्लास, भूषण हजारा, और दूषण उल्लास और कहे जाते हैं[1] जो संभवतः अलंकार और दोष सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। पर वे अप्राप्य हैं। परन्तु इसकी (शि० भू० की) यह विशेषता है कि उदाहरणों के लिए उसमें वीर-रस-प्रधान छन्द ही रक्खे गए हैं।

इस ग्रंथ का रचना-काल सं० १७३० आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी रविवार है। यह बात निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट हो जाती है।

सम सत्रह सै तीस पर सुचि बदि तेरसि भान।
भूषन सिवभूषन कियो, पढ़ियो सकल सुजान। ३८० शि० भू०।

परन्तु कोई कोई विद्वान इस उपर्युक्त तिथि को ज्योतिष गणनानुसार शुद्ध न मान कर सत्रह से तीस को सत्रह सैंतीस (१७३७) मान कर, तथा 'पर' शब्द का उल्टा अर्थ करके १७७३ सं० को शुद्ध तिथि मानते हैं[2]। परन्तु यह

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास-दसवां संस्करण-पृष्ठ २५६-रामचन्द्र शुक्ल।
२—भूषण विमर्श-भागीरथ प्रसाद दीक्षित, पृष्ठ ४८।

विवाद प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है, अतः इसे मैं जिज्ञासु विद्वानों के लिए ही छोड़ता हूँ।

'शिवराज भूषण' दोहों, कवित्तों और सवैयों में लिखा गया है। इसमें कुल ३८२ छन्द हैं। किसी किसी प्रति में ३८१ छन्द ही हैं। ग्रन्थारम्भ में तीन छन्दों में गणेश, भवानी और सूर्य की स्तुति है। इसके अनन्तर तीसवें छन्द तक राजवंश रायगढ़ और कविवंश का वर्णन है। ३१ वें दोहे से प्रतिपाद्य विषय का निरूपण प्रारम्भ होता है। पुनः ३७१ वें छन्द से ३७९ वें छन्द तक अलंकारों की सूची दी गई है। तत्पश्चात् तीन छन्दों में ग्रन्थ एवं आश्रयदाता के प्रति शुभकामना व्यक्त की गई है।

भूषण ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने सुकवियों की कृपा से उन्हीं का अनुसरण करते हुए इस ग्रन्थ की रचना की है।[1] उसमें कोई नवीन बात या नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है। ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए भूषण लिखते हैं:—

सिव चरित्र लखि यों भयो, कवि भूषण के चित्त।
भांति भांति भूषननि सों, भूषित करों कवित्त। २९। शि० भू०

इससे सिद्ध होता है कि कवि वास्तव में शिवाजी का चरित्र लिखना चाहता था, अलंकारों का वर्णन करना उनका उद्देश्य नहीं था। अलंकारों का वर्णन तो केवल परम्परा पालन की ओर ही संकेत करता है।

प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ करते हुए भूषण लिखते हैं:—
भूषण सब भूषननि में, उपमहिं उत्तम चाहि।
याते उपमहिं आदि ते, बरनत सकल निबाहि। ३१। शि० भू०

अतः इस ग्रन्थ में उपमालंकार से प्रारम्भ करके पहले अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है, तदन्तर शब्दालंकारों, चित्रालंकारों और संकर का विवेचन किया गया है। अन्त में दी गई अलंकार सूची से विदित होता है कि इसमें १०५ अलंकारों का विवेचन किया गया है[2]। यह संख्या अलंकारों के भेद सहित है। परन्तु वस्तुतः ग्रंथ में भेदों सहित कुल १२२ अलंकार हैं। भेदों को निकाल देने पर ९० अर्थालंकार, ४ शब्दालंकार, तथा चित्र और संकर इनको मिलाकर कुल ९६ अलंकार होते हैं। कवि के

१—सुकविन हू की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
भूषन भूषनमय करत, शिवभूषण सुभ ग्रन्थ। ३०। शिवराज भूषण

२—युत चित्र संकर एक सत, भूषण कहे अरु पांच।
लखि चारु ग्रंथन निजमतो, युत सुकवि मानहु सांच॥ ३७९॥ शि० भू०

कथनानुसार यदि गणना की जाय तो ६६ अर्थालंकार, ४ शब्दालंकार तथा चित्र और संकर को मिलाने पर १०५ की संख्या हो जाती है। इनमें 'विशेष' का नाम तीन बार आया है विशेष, विशेषक और सामान्य विशेष। अलंकार सूची में 'अनुगुण' के पश्चात् 'अतद्गुण' दिया हुआ है, पर ग्रन्थ में पहले 'अतद्गुण' और तब "अनुगुण" का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सूची में 'अनुप्रास' लिखा है, पर ग्रंथ में छेक और लाटानुप्रास का अलग अलग विवेचन है।

अलंकार और उनके लक्षण

अर्थालंकार : जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 'शिवराज भूषण' में मुख्य ९० अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। भेदों को मिलाने पर उनकी कुल संख्या १२२ तक पहुंच जाती है। परन्तु इसमें सभी अलंकारों का विवेचन नहीं हुआ है, जिनका निरूपण उस युग के अन्य आचार्यों ने किया है। और न अलंकारों के सभी भेदों को ही भूषण ने लिया है। उन्होंने तो केवल प्रसिद्ध प्रसिद्ध अलंकारों और उनके मुख्य भेदों को ही ग्रहण किया है। शिवराज भूषण में युक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुतांकुर, कारक दीपक, विकस्वर, सूक्ष्म, रत्नावली, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति, विवृतोक्ति, तथा रसनोपमा अलंकार कम हैं। भूषण ने अलंकारों की जो सूची दी है, वह चन्द्रालोक से बहुत मिलती जुलती है। युक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुतांकुर, कारकदीपक, रत्नावली, गूढोक्ति, और विवृतोक्ति—ये ११ अलंकार चन्द्रालोक में नहीं हैं, और न शिवराज भूषण में हैं। परन्तु मतिराम आदि के ग्रंथों में इन अलंकारों का विवेचन मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि मतिराम आदि कवियों ने कुवलयानन्द के प्रभाव से इन अलंकारों का भी अपने ग्रन्थों में वर्णन किया था, पर भूषण के सामने कुवलयानन्द न होकर जयदेव का चन्द्रालोक ही था और उसी से प्रभावित होकर उन्होंने अपने अलंकार-ग्रंथ की रचना की होगी।

अलंकारों के सभी भेदों को भी भूषण ने ग्रहण नहीं किया। केवल प्रसिद्ध एवं मुख्य भेदों को ही उन्होंने लिया है। भूषण ने उपमा, प्रतीप, रूपक, अपन्हुति उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, असंगति तथा समुच्चय, इन अलंकारों के भेदों का ही वर्णन किया है, उनमें भी सभी भेदों का नहीं। रूपक के केवल हीन और अधिक दो भेद लिए हैं, जबकि अन्यत्र रूपक के अनेक भेद दिखाए गए हैं। उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना के सम्पूर्ण भेदों का भी विवेचन भूषण ने नहीं किया। इनके अतिरिक्त, दीपकावृत्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, विषम, सम, अधिक, विशेष, व्याघात, प्रहर्षण आदि अलंकारों के किन्हीं भी भेदों का निरूपण 'शिवराज भूषण' में नहीं है। चन्द्रालोक में भी इनके भेदों का कोई विवेचन नहीं है।

'मालोपमा' को तो भूषण ने मतिराम से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया, पर 'रसनोपमा' को उन्होंने नहीं लिया। इसका कारण समझ में न आया। सम्भव है चन्द्रालोक के प्रभाव से ऐसा किया गया हो।

इनके अतिरिक्त शिवराज भूषण में 'सामान्य विशेष' और 'भाविक छवि' इन दो अलंकारों का विशेष वर्णन है। कहा जाता है कि ये दोनों अलंकार भूषण की अपनी देन हैं। पर विचार करने पर विदित होता है कि वास्तव में वे मौलिक नहीं हैं, अपितु पुराने अलंकारों के ही नए नाम हैं। 'विशेषनिबन्धना' के लिए 'सामान्य विशेष' और 'भाविक' अलंकार के लिए ही एक प्रकार से 'भाविक छवि' अलंकार का नाम दे दिया गया है। भूषण ने 'सामान्य विशेष' का जो लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के पांच भेदों में से एक भेद 'विशेषनिबन्धना' का ही कहा जा सकता है। देखिये और तुलना कीजिए:-

कहिबे जहं सामान्य है, कहै जु तहां विशेष। १२१। शि० भू०

अर्थात् जहां कोई साधारण सी बात कहनी हो, वहां उसे यदि विशेषता पूर्वक कहा जाय तो सामान्य विशेष अलंकार होता है।

उदाहरण : और नृपति भूषण कहै, करें न सुगमौ काज।
साहि तनै सिव सुजस तो, करै कठिनऊ आज।

अर्थ स्पष्ट है :—

सामान्यं व विशेषतः। साहित्य दर्पण

अर्थात् अप्रस्तुत विशेष से जहाँ प्रस्तुत सामान्य सूचित होता हो, वहाँ 'विशेषनिबन्धना' या 'द्वितीय अप्रस्तुतप्रशंसा' होती है।

यद्यपि भूषण का लक्षण बिलकुल स्पष्ट नहीं है और न उदाहरण से ही इस की स्पष्टता व्यक्त होती है, तथापि उसका आशय वही है जो, साहित्य दर्पण के 'विशेष निबन्धना' में है। अतः हम भूषण के 'सामान्य विशेष' को नया अलंकार नहीं मान सकते। इसी प्रकार 'भाविक छवि' भी कोई नया अलंकार नहीं है। वह वास्तव में संस्कृत के 'भाविक' का ही परिवर्द्धित रूप है। अन्तर इतना ही है कि 'भाविक' में कालगत दूरी होती है और 'भाविक छवि' में देशगत[1]। चन्द्रालोक में

१--भूषण का भाविक छवि एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है। पर वास्तव में है संस्कृत ग्रन्थों के भाविक का ही एक दूसरा रूप या प्रवर्द्धित रूप। भाविक का सम्बन्ध कालगत दूरी से है। इसका देशगत दूरी से। बस इतना ही अन्तर है। हिन्दी साहित्य का इतिहास (दसवां संस्करण) रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ २३५

और देखिए : भूषण ने दो नये अलंकार निकालने का भी प्रयत्न किया है। पर उसमें सफलता नहीं मिली है। उन्होंने एक 'सामान्यविशेष' नामक अलंकार माना है जिसमें विशेष का कथन करके सामान्य लक्षित

भी 'भाविक' और 'भाविक छवि' दोनों का पृथक् पृथक् वर्णन मिलता है। संभवतः उन्हीं के अनुसरण पर भूषण ने 'भाविक छवि' का वर्णन किया है।

शब्दालंकार, चित्र एवं संकर :

'शिवराज भूषण' में अर्थालंकारों के पश्चात् शब्दालंकारों का विवेचन है। इनमें छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, यमक और पुनरुक्तवदाभास का वर्णन है। भूषण ने 'छेक' और 'लाट' ये दो भेद अनुप्रास के माने हैं। 'छेक' के आठ और 'लाट' का एक ही उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है। 'छेक' और 'लाट' का लक्षण एक ही दोहे में लिखा गया है। यथा :

स्वर समेत अच्छर कि पद, आवत सदृश प्रकास।
भिन्न अभिन्नन पदन सों, छेक लाट अनुप्रास।

अर्थात् भिन्न-भिन्न पदों में जहाँ एक ही प्रकार के स्वर सहित अक्षर या पद बार-बार आवें, वहाँ 'छेक' एवं अभिन्न अक्षरों की आवृत्ति में 'लाट' अनुप्रास होता है।

इन दो के अतिरिक्त 'अनुप्रास' के अन्य भेदों की चर्चा नहीं की गई। वृत्यनुप्रास, छेक में ही सम्मिलित हो गया है। इसलिए 'छक' का यह लक्षण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

यमक : भूषण के अनुसार 'यमक' वहाँ होता है, जहाँ एक ही शब्द बार बार आकर भिन्न भिन्न अर्थ प्रकट करता है;[1] पर उदाहरण में अर्थहीन पदों की आवृत्ति में भी भूषण ने यमक अलंकार माना है। यथा :

पूनावारी सुनि कैं अमीरन की गति लई,
भागिबे को मीरन समीरन की गति है। ३६४। शि० भू०

पुनरुक्तवदाभास : भूषण ने इसका लक्षण और उदाहरण देकर उसको चलता कर

कराया जाता है। यह अलंकार प्राचीन आलंकारिकों के अप्रस्तुतप्रशंसालंकार की विशेषनिबन्धा से भिन्न नहीं है। इसके उदाहरण भी वैसे स्पष्ट नहीं हैं जैसे होना चाहिए। एक दूसरा अलंकार है भाविक छवि। इसका लक्षण है दूर स्थित वस्तु को सम्मुख देखना। भाविक अलंकार में समय की दूरी है और भाविक छवि में स्थान की दूरी। वस्तुतः यह भाविक छवि, भाविक का ही अंग है उससे भिन्न नहीं।

भूषण ग्रन्थावली अन्तर्दर्शन—विश्वनाथ प्र० मिश्र

१—भिन्न अरथ फिरि फिरि जहां, ओई अच्छर वृन्द।
आवत हैं सो जमक करि, बरनत बुद्धि बिलन्द। ३६३। शि० भू०

दिया। संस्कृत ग्रंथकारों की भाँति उसका विशेष वर्णन उन्होंने नहीं किया। भूषण का लक्षण साहित्यदर्पणकार के लक्षण से मिलता जुलता है।

भासति है पुनरुक्ति सी, नहिं निदान पुनरुक्ति। ३६५। शि० भू०

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासन्। १०-२ साहित्य द०

साहित्यदर्पणकार ने इसे शब्दार्थालंकार (उभयालंकार) भी माना है। काव्य प्रकाशकार भी इसे शब्दगत और उभयगत मानते हैं। परन्तु भूषण ने उसे केवल शब्दालंकार के रूप में ही बताया है। विशेष विवेचन और उसका उन्होंने नहीं किया।

चित्र : का विशेष लक्षण शिवराजभूषण में प्रस्तुत नहीं किया गया। वहाँ केवल 'कामधेनु आदिक घने' कहकर कामधेनु का ही उदाहरण दिया गया है। अन्य चित्रालंकारों का 'आदिक घने' शब्द में संकेत भर कर दिया गया है।

संकर : इसका लक्षण भूषण ने इस प्रकार किया है।

भूषन एक कवित्त में, भूषन होत अनेक। ३६९ शि० भू०

जहाँ एक कवित्त में अनेक अलंकार होते है वहाँ 'संकर' होता है। परन्तु इस लक्षण से 'संकर' और 'संसृष्टि' का भेद स्पष्ट नहीं होता। 'संकर' में आये हुए अनेक अलंकारों में परस्पर अंगाङ्गि भाव होता है, परन्तु 'संसृष्टि' में आए हुए अलंकार केयूर में जटित भिन्न भिन्न मणियों के समान निरपेक्ष रूप में विद्यमान रहते हैं, उनमें अंगाङ्गिभाव नहीं होता।

भूषण ने संकर का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह वास्तव में 'संकर' का न होकर 'संसृष्टि' का है। क्योंकि उसमें आए हुए अलंकार 'नीर क्षीर न्याय' से न मिलकर 'तिलतन्दुलन्याय' से मिले हुए हैं। (इसे आगे स्पष्ट किया जायगा।)

उदाहरण :

'शिवराज भूषण' में अलंकारों के जो उदाहरण दिए गए हैं, उनमें उच्च कोटि का कवित्व पाया जाता है। इतिहास के नीरस सत्य को भी भूषण ने अपनी प्रतिभा द्वारा बड़ा रोचक बना दिया है। मतिराम के उदाहरणों में जितनी मधुरता है, उतनी ही ओजस्विता भूषण के उदाहरणों में पाई जाती है। अतः कवित्व की दृष्टि से भूषण के उदाहरण अवश्य ही सराहनीय हैं। परन्तु लक्षणों की दृष्टि से विचार करने पर उनमें बड़ी शिथिलता पाई जाती है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं है। कुछ उदाहरण तो वास्तव में बड़े सुन्दर बन पड़े हैं।

१. अनन्वय :

आजु गरीब निवाज महीपर तो सो तुही सिवराज विराजै।

२. उल्लेख :

कहरी अदिल मौज लहरी कुतुब कहे बहरी निजाम के जितैया कहें देव हैं।

शुद्धापन्हुति :

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगैं भट,
इन्द्र को न चाप रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल मेघ,
गाजिबो न बाजवो है दुंदुभि दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी, रिपुरानी कहैं,
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को।
घन की घटा न गज घटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयो सैन सिवराज को। ८१। शि० भू०

यहाँ शत्रु की स्त्रियां वर्षा के उपकरणों को शिवा की सेना का साज समझ लेती हैं।

४ रूपकातिशयोक्ति :

बासव से बिसरत विक्रम की कहा चली, विक्रम लखत वीर बखत बिलंद के,
जागे तेज वृन्द सिवाजी नरिन्द मसनन्द, माल मकरन्द कुलचन्द साहिनन्द के।
भूषन भनत देस देस बैरि नारिन में होत अचरज घर घर दुःख दंद के।
कनकलतानि इन्दु, इन्दु माँहि अरविन्द, झरें अरबिन्दन ते बुन्द मकरन्द के।

यहाँ कनकलतानि, इन्दु, अरविन्द और मकरन्द उपमानों से क्रमशः स्त्रियों, मुख, नेत्र और आंसू उपमेयों का ज्ञान होने से 'रूपकातिशयोक्ति' है।

५ परिसंख्या :

कम्प कदली में, वारिबुन्द बदली में, सिवराज अदली के राज में यों राजनीति है।

कांपना केवल केले के पेड़ों में, और जल की बूंद केवल बादलों में होती है। शिवाजी के राज्य में लोगों में न कम्पन होता है और न उनकी आंखों में जल की बूंदें (आँसू) दिखाई पड़ती हैं। यहां कम्प आदि का लोगों में निषेध होने और कदली आदि में उनका होना बताए जाने से 'परिसंख्या' अलंकार है।

६ अर्थापत्ति :

सयन में साहन को सुन्दरी सिखावैं ऐसे सरजा सों बैरजनि करौ महाबली है।
× × × ×
जाहि देन दण्ड सब डरि के अखण्ड सोई, दिल्ली दलमली तो तिहारी कहा चली है।

शाहों की स्त्रियां उन्हें समझाती हुई कह रही हैं कि तुम शिवाजी से वैर

मत करो। जिस दिल्ली को भय के कारण सभी लोग दण्ड (कर) देते हैं, उसी दिल्ली को उसने दलमल डाला है, तब तुम्हारी क्या चल सकती है।

७ मालोपमा :

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सु अम्भ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।

इन उदाहरणों में न तो लक्षण की दृष्टि से कोई शिथिलता है, न भाषा और व्याकरण की दृष्टि से ही। रस का परिपाक भी पूर्ण रूप से इन में पाया जाता है।

परन्तु अनेक स्थलों पर भूषण के उदाहरण अलंकार-निरूपण के विचार स ठीक नहीं हैं। उनमें व्याकरण के नियमों के उल्लंघन के साथ वाक्य-रचना भी कहीं कहीं अव्यवस्थित हो गई है। कुछ उदाहरण देखिए :

भ्रम :

हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने भ्रम, सन्देह और स्मरण अलंकारों के लक्षणों में सादृश्य की बात को भुला दिया है। भूषण ने भी ऐसा ही किया। उनके उदाहरण तो बहुत ही गड़बड़ हैं। भूषण ने भ्रम का लक्षण इस प्रकार किया है।

आन बात को आन में, होत जहां भ्रम आय।

इस लक्षण में सादृश्य का कोई कथन नहीं है।

उदाहरण : पीय पहारन पासन जाहु, यों तीय बहादुर सौं कह सोषें।
कौन बचै है नवाब तुम्हें भने भूषन भौंसिला भूप के रोषें।
बन्दी साइस्ताखां हूँ को कियो जसवन्त से भाऊ करन्न से दोखें।
सिंह सिवा के सु बीरन सौं गो अमीर न बांचि गुनीजन घोषें।

यहाँ किस बात का किस अन्य बात में भ्रम हो रहा है कुछ स्पष्ट नहीं होता है। इतना संकेत अवश्य मिलता है कि दूसरे नवाबों और राजाओं की दुर्गति सुनकर शत्रु-स्त्रियों को अपने पतियों की रक्षा में, भ्रम होने लगा है।

संकर :

भूषण के अनुसार 'संकर' अलंकार वहां होता है जहाँ एक कवित्त में अनेक अलंकार होते हैं। पर यह लक्षण स्पष्ट नहीं है। क्योंकि 'संसृष्टि' में भी अनेक अलंकार होते हैं। अतः दोनों का भेद करते हुये काव्यप्रकाशकार ने 'संकर' वहाँ बताया है जहां अलंकार अंगांगि भाव से आते हैं, और 'संसृष्टि' वहां होता है जहाँ अलंकार

निरपेक्ष रूप से अवस्थित रहते हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी इसी प्रकार के लक्षण लिखें हैं। देखिये :—

१—अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः ।
सेष्टा संसृष्टिरेतेषाम् भेदेन यदिह स्थितिः ।। का० प्र०

२—अंगांगित्वे अलंकृ तीनाम् तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिधा पुनः ।
मिथो अनपेक्षयैतेषांस्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।। सा० द०

अतः भूषण का यह 'संकर' अलंकार का लक्षण स्पष्ट न होने से न 'संकर' का है और न 'संसृष्टि' का ही। इस अस्पष्टता का कारण कदाचित् भूषण का 'संसृष्टि' अलंकार का वर्णन न करना हो सकता है। उदाहरण जो उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अवश्य 'संकर' का न होकर 'संसृष्टि' का ही कहा जा सकता है :—

'ऐसे वाजिराज देत महाराज सिवराज भूषन जे बाज की समाजैं निदरत हैं'

यहां अनुप्रास, ललित, और पंचम प्रतीप अलंकार अंगांगि भाव से प्रयुक्त न होने के कारण 'संसृष्टि' अलंकार है।

उदाहरण उपयुक्त न होने पर भी भूषण को 'संकर' और 'संसृष्टि' के भेद का स्पष्ट ज्ञान न होने के कारण 'संकर' का लक्षण अस्पष्ट हो गया है। इसी प्रकार 'छेकानुप्रास' का लक्षण भी स्पष्ट नहीं है। उन्होंने 'छेक' में ही 'वृत्ति' का अन्तर्भाव कर दिया है। क्योंकि एक बार के व्यंजन-सादृश्य को 'छेक' और दो या दो से अधिक के सादृश्य को 'वृत्यनुप्रास' कहते हैं। इस प्रकार का भेद भूषण के लक्षण में स्पष्ट नहीं है। अतः उनके उदाहरण भी इसी प्रकार मिश्रित हो गए हैं। देखिए :

बंकक्करि अतिडंकक्करि अस संकक्करि खल ।

यहाँ कक्करि के सादृश्य का तीन बार वर्णन होने से 'वृत्यनुप्रास' है, 'छेकानुप्रास' नहीं।

प्रत्यनीक :

गौर गरबीले, अरबीले राटवर,
गह्यो लोहगढ़ सिंहगढ़ हिम्मति हरषते। आदि

यहाँ कुछ हिन्दू राजाओं पर शिवाजी की विजय का वर्णन है। यदि यहाँ औरंगजेब (प्रबलशत्रु) से बस न चलने के कारण उसके सहायक हिन्दू राजाओं पर शिवाजी के आक्रमण को 'प्रत्यनीक' अलंकार का आधार मान लिया जाय तब भी इसमें शिवाजी की निन्दा ही होती है, प्रशंसा नहीं। फिर 'प्रत्यनीक' में चमत्कारपूर्ण

आक्रमण का कथन होता है, वास्तविक युद्ध आदि का वर्णन होने से अपेक्षित चमत्कार नहीं रहता है।

भूषण और मतिराम :

शिवराज भूषण और ललित ललाम का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि दोनों में बहुत कुछ साम्य है। मतिराम ने जिस क्रम से अलंकारों का वर्णन किया है, भूषण ने भी प्रायः वही क्रम अपनाया है। लक्षण भी दोनों कवियों के प्रायः एक ही शब्दावली में पाए जाते हैं। केवल कविनाम का ही अन्तर है। देखिए :

१. जहाँ एक उपमेय को, होत बहुत उपमान ।
तहाँ कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान ।। मतिराम
जहाँ एक उपमेय के, होत बहुत उपमान ।
ताहि कहत मालोपमा, भूषन सुकवि सुजान ।। भूषण

२. जहाँ और की संक ते सांच छपावत बात ।
छेकापन्हुति कहत हैं, तहाँ बुद्धि अवदात ।। मतिराम
जहाँ और की संक करि, सांच छपावत बात ।
छेकापन्हुति कहत हैं, भूषन कवि अवदात ।। भूषण

३. वर्न्य अवर्न्यन को जहाँ, धरम होत है एक ।
बरनत हैं दीपक तहाँ, कवि करि विमल विवेक ।। मतिराम
वर्न्य अवर्न्यन को धर्म, जहं बरनत हैं एक ।
दीपक ताको कहत हैं, भूषन सुकवि विवेक ।। भूषण

४. सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहाँ एक आरोप ।
बरनत तहाँ निदरसना, कविजन मति अति ओप ।। मतिराम
सदृश वाक्य जुग अर्थ को, करिए एक अरोप ।
भूषन ताहि निदरसना, कहत बुद्धि दै ओप ।। भूषण

कुछ लक्षणों में व्याकरण का अथवा पर्यायवाची शब्दों का हेर फर मात्र है। जैसे :

१. जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान ।
जाको समता दीजिए, ताहि कहत उपमान ।। मतिराम
जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान ।
जाकी सरवरि कीजिए, ताहि कहत उपमान ।। भूषण

२. जहाँ और संका भए, करत झूठ भ्रम दूरि ।
भ्रान्तापन्हुति कहत हैं, तहाँ सुकवि मति भूरि ।। मतिराम

संक और को होत ही, जहं भ्रम कीजत दूरि ।
भ्रान्तापन्हुति कहत हैं, तहं भूषन कवि भूरि ॥ भूषण

३. जहाँ एक ही बात को, उपमेयो उपमान ।
तहाँ अनन्वय कहत हैं, कवि मतिराम सुजान ॥ मतिराम
जहां करत उपमेय को, उपमेयै उपमान ।
तहाँ अनन्वै कहत हैं, भूषण सकल सुजान ॥ भूषण

४. जहाँ होत है परस्पर, उपमेयो उपमान ।
तहं उपमेयोपमा कहि, बरनत सुकवि सुजान ॥ मतिराम
जहाँ परस्पर होत है, उपमेयो उपमान ।
भूषन उपमेयोपमा, ताहि बखानत जान ॥ भूषण

५. साभिप्राय विशेषननि, सो परिकर मतिराम ।
साभिप्राय विशेष्य तें, परिकर अंकुर नाम ॥ मतिराम
साभिप्राय विशेषननि, भूषन परिकर मान ।
साभिप्राय विशेष्य तें, परिकर अंकुर जान ॥ भूषण

६. जहं परिपूरन हेतु तें प्रगट होत नहिं काज ।
विशेषोक्ति तहं कहत हैं, सकल सुकवि सिरताज ॥ मतिराम
जहां हेतु समरथ भयेहु, प्रगट होत नहिं काज ।
तहाँ विसेसोकति कहत, भूषन कवि सिरताज ॥ भूषण

७. जहां बड़े आधार तें, बरनत बढ़ि आधेय ।
कहत सुकवि जन अधिक तहं, जिनकी बुद्धि अजेय ॥ मतिराम
जहाँ बड़े आधार तें, बरनत बढ़ि आधेय ।
ताहि अधिक भूषन कहत, जानि सुग्रंथ प्रमेय ॥ भूषण

८. जो यों होय तु होय यौं, जहं संभावन होय ।
संभावन तासों कहत, विमल ज्ञान मति धोय ॥ मतिराम
जु यों होय तो होय इमि, जहं संभावन होय ।
ताहि कहत संभावना, कवि भूषन सब कोय ॥ भूषण

९. जहां भयो भावी अरथ, बरनत हैं परतच्छ ।
तहं भाविक सब कहत हैं, जिनकी मति है अच्छ ॥ मतिराम
भयो होनहारो अरथ, बरनत जहं परतच्छ ।
ताको भाविक कहत हैं, भूषन कवि मति स्वच्छ ॥ भूषण

इनके अतिरिक्त अक्रमातिशयोक्ति, व्याजस्तुति, विरोधाभास, द्वितीय असंगति, सम, विचित्र, विषादन, अधिक, सार, पर्याय, समाधि, सम्भावना, उल्लास, अवज्ञा,

तद्गुण और अधिक आदि अलंकारों के लक्षणों में भी कुछ हेर फेर करके एक ही शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इन दोनों कवियों के लक्षणों का सादृश्य इतना अधिक है कि दोहों के अन्तिम तुक तक मिलते हैं। वैसे तो प्रत्येक आचार्य के लक्षण कुछ न कुछ मिलेंगे ही, पर तुक और शब्द समूह का न्यास भी एक जैसा ही हो तो यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि दोनों कवियों का परस्पर बड़ा घनिष्ट परिचय था।

यह तो निश्चत ही है कि मतिराम के ललित ललाम की रचना शिवराज भूषण की रचना से पहले हो चुकी थी, अतः भूषण का मतिराम का अनुकरण करना निश्चित ही है। यह सादृश्य लक्षणों तक ही सीमित नहीं है उनकी कविता में भी यह समानता किंचितमात्र दिखाई पड़ती है। देखिए :

१. अली चली नवलाहि ले पिय पैं साज शृंगार।
ज्यों मतंग अंड़दार को लिए जात गंड़दार। मतिराम
दावदार निरखि रिसानो दहि दलराय,
जैसे गंड़दार अंड़दार गजराज को। भूषण

२. दान हीन कलभ कदलि दल कंपजुत,
राव भावसिंह जी के राज में निहारिए। मतिराम
कंप कदली में वारिबुंद बदली में,
शिवराज अदली के राज में यों राजनीति है। भूषण

३. मूछनि सों राव मुख लाल रंग देखि मुख,
औरन को मूंछन बिना ही श्याम रंग भो। मतिराम
तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भए,
स्याह मुख नौरंग सिपाह मुख पियरे। भूषण

इन उदाहरणों में यद्यपि शब्द साम्य विशेष नहीं है, पर भाव साम्य अवश्य है। ऐसा अनुमान होता है कि भूषण ने मतिराम के भावों का हरण किया है। परन्तु अनुकरण करने पर भी भूषण में वह सौन्दर्य नहीं है जो मतिराम में पाया जाता है। कहीं-कहीं तो उन्होंने भरती के शब्द भर कर अपने छन्दों को अरुचिकर बना डाला है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा:—

कै बहुतै, कै एक जहं, एक वस्तु को देखि।
बहु विध करि उल्लेख है, सो उल्लेख उलेख॥

भूषण और संस्कृत आलंकारिक जयदेव:

भूषण हिन्दी कवियों में मतिराम से जितना प्रभावित हैं उतना ही वे संस्कृत के चन्द्रालोकार जयदेव से प्रभावित जान पड़ते हैं, चन्द्रालोक में जिन जिन अलंकारों

का विवेचन हुआ है, प्राय: उन्हीं सब अलंकारों का भूषण ने भी वर्णन किया है। चन्द्रालोक में विकस्वर, सम्बन्धातिशयोक्ति, स्तबकोपमा, सम्पूर्णोपमा और पुनरुक्त-प्रतीकाश एवं वृत्यनुप्रास अलंकारों का विशेष निरूपण है, जो शिवराज भूषण में नहीं है। इसी प्रकार शिवराज भूषण में जिन हेतु, अपन्हुति, सामान्यविशेष, अनुज्ञा, विशेषक. छेकोक्ति, लोकोक्ति, निरुक्ति, हेतु, लेश, मिथ्याध्यवसित, लुप्तोपमा, पुनरुक्तवदाभास और संकर अलंकारों को वर्णित किया गया है, वे चन्द्रालोक में भी नहीं हैं। सम्भवत: इन अलंकारों को भूषण ने मतिराम के ललित ललाम से लिया है। हां, इनमें सामान्य विशेष और विशेषक नवीन से हैं। पर जैसा पहले कहा जा चुका है, सामान्य विशेष वस्तुत: अप्रस्तुतप्रशंसा का ही एक भेद है, और विशेषक भी उसके उदाहरण से उन्मीलित का ही रूप जान पड़ता है। चन्द्रालोक में जिन्हें दीप-कैकावली, कारणमाला, तथा गूढ़ोत्प्रेक्षा कहा गया है, उन्हीं को शिवराज भूषण में मालादीपक, गुम्फ, और गम-गुप्तोत्प्रेक्षा कहा गया है। युक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुतांकुर, कारक, रत्नावली, गूढ़ोक्ति और विवृतोक्ति-ये ग्यारह अलंकार यद्यपि हिन्दी के अन्य लक्षण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं, पर चन्द्रालोक और शिबराज भूषण दोनों ही ग्रन्थों में इनका अभाव है।

इसके अतिरिक्त प्रतीपोपमा, ललितोपमा और भाविक छवि ये अलंकार भूषण ने लिखे हैं, चन्द्रालोक में भी ये अलंकार हैं, पर अन्य कतिपय हिन्दी ग्रन्थों में नहीं हैं। अन्य हिन्दी लक्षण ग्रंथकारों ने 'प्रतीपोपमा' को अपने ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया और 'प्रतीप' के अनेक भेद कर दिए। ऐसा संभवत: कुवलयानन्द के अनुकरण पर किया गया है क्योंकि वहाँ भी 'प्रतीपोपमा' को कोई स्थान न देकर, प्रतीप के भेद किए गए हैं। शिवराज भूषण में भी 'प्रतीपोपमा' को पृथक् स्थान नहीं दिया गया, यद्यपि अलंकार-सूची में 'प्रतीप' और 'प्रतीपोपमा' दो नाम अलग अलग दिए गए हैं[1]। प्रतीप का लक्षण लिखते समय उसका नाम प्रतीपोपमा दिया गया है। लक्षण भी चन्द्रालोक का अनुवाद मात्र ही है। देखिए :

जहाँ प्रसिद्ध उपमान को, करि बरनत उपमेय।
तहाँ प्रतीप उपमा कहत, भूषन कविता प्रेय ।। ४१। शि० भू०
विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता। पंचम मयूख १४ चन्द्रालोक

'ललितोपमा' के लक्षण में भी चन्द्रालोक का ही अनुवाद दिया गया है।

जहाँ समता को दुहन की, लीलादिक पद होत। ५७। शि० भू०
उपमाने तु लीलादि पदाढ्ये ललितोपमा। ५-१५। चन्द्रालोक।

भूषण ने आगे चलकर लीलादिक पदों का विश्लेषण भी कर दिया है, जो चन्द्रालोक में नहीं हैं। यथा :

१—उपमा अनन्वै कहि बहुरि उपमा प्रतीप प्रतीप। २७१। शि० भू०

बहसत, निदरत, हंसत, जहं, छवि अनुहरत बखानि ।

सत्रु मित्र इमि औरऊ, लीलादिक पद जानि । ५८ । शि० भू०

'भाविक' अलंकार का सभी ने विवेचन किया है, पर 'भाविक छवि' केवल चन्द्रालोक में ही आया है । भूषण ने चन्द्रालोक के अनुकरण पर ही उसको अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है । लक्षण में भी चन्द्रालोक का अनुवाद मात्र ही है । यथा :

जहाँ दूर स्थित वस्तु को, देखत बरनत कोय । ३३३ । शि० भू०

देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः । ५-११४ । चन्द्रालोक

हाँ, उदाहरणों में अवश्य भेद है । जयदेव ने बताया है "त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात्पञ्चेषुरीक्षसे" (विप्रकृष्ट-दूर स्थित-नायिका को लक्ष्य करके दूती नायक से कहती है कि तुम उसके हृदय में काम के समान बसे हुए हो) । इस प्रकार दूर स्थित नायिका के हृदय में नायक का बसना दिखाया गया है । भूषण ने दूर स्थित सैनिकों की सूरत को सूरत नगर में दिखाया है ।

रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सैनिक सूरति सूरत घेरी । ३३४ । शि० भू०

काव्यप्रकाशकार, साहित्यदर्पणकार तथा कुवलयानन्दकार आदि किसी ने भी 'विरोध' और 'विरोधाभास' को पृथक् पृथक् अलंकार के रूप में चित्रित नहीं किया, पर चन्द्रालोक में ये पृथक् रूप में वर्णित किए गए हैं । भूषण ने उसी के अनुकरण पर इन दोनों अलंकारों का पृथक् पृथक् निरूपण किया है । इतना ही नहीं; लक्षण भी चन्द्रालोक से अनूदित ही हैं । देखिए :

विरोध : द्रव्य क्रिया गुन में जहाँ, उपजत काज विरोध । १८० । शि० भू०

विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुण द्रव्य क्रियादिषु । ५-७४ । चन्द्रालोक

विरोधाभास : जहाँ विरोध सो जानिए, सांच विरोध न होय । १८२ । शि० भू०

श्लेषादिभिर्विरोधश्चेद्विरोधाभासता मता । ५-७५ । चन्द्रालोक

भूषण के लक्षण में श्लेषादिक की कोई चर्चा नहीं है, पर उदाहरण में श्लिष्ट पदों का प्रयोग अवश्य हुआ है । यथा :

दच्छिन के नायक एक तुही, भुव, भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै ।

यहाँ नायक शब्द में श्लेष हैं । नायक का अर्थ राजा तथा प्रेमी है ।

शिवराज भूषण में कारणमाला को 'गुम्फ' का नाम दिया गया है । चन्द्रालोक में भी इस अलंकार के लक्षण में 'गुम्फ' शब्द का प्रयोग हुआ है । कदाचित् इसी शब्द के अनुकरण पर भूषण ने इसका नामकरण 'गुम्फ' कर दिया है ।

गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रांतकारणैः । ५-८७ । चन्द्रालोक

पूरब पूरब हेतु के, उत्तर उत्तर हेतु।
या विधि धारा बरनिये, गुम्फ कहावत नेतु ॥ २३० ॥ शि० भू०

इस प्रकार भूषण और जयदेव में बहुत साम्य दृष्टिगोचर होता है। भूषण के अन्य अलंकारों के लक्षण भी या तो चन्द्रालोक से अनुवाद कर लिखे गए हैं, या उसके छायानुवाद से हैं। कुछ उदाहरण देखिए :

१ उपमा : जहां दुहुंन की देखिए, सोभा बनत समान। शि० भू०।
उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो :। ५-११ चं०

२ उल्लेख : कै बहुतै कै एक जहं, एक वस्तु को देखि।
बहु विधि कर उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेखि ॥ शि० भू० ॥
बहुभिर्वहुधोल्लेखादेकस्योल्लेखिता मता। ५-२३ ॥ चं०

३ शुद्धापन्हुति : आन बात आरोपिये, सांची बात दुराय। शि० भू०।
अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपन्हुतिः। ५-२४। चं०

४ भ्रान्तापन्हुति : संक आन को होत ही, जहं भ्रम कीजै दूरि। शि० भू०।
भ्रान्तापन्हुतिरन्यस्य शंकया तथ्य निर्णये। ५-२६ चं०

५ छेकापन्हुति : जहां और को संक करि, सांच छिपावत बात। शि० भू०।
छेकापन्हुतिरन्यस्य शंकया तथ्यनिन्हवे। ५-२७। चं

६ कैतवापन्हुति : जहं कैतव छल व्याज मिसि इनसों होत दुराव। शि० भू०
कैतवं व्याजमानत्वे व्याजाद्यैर्निन्हुतेः पदैः। ५-२८। चं०

७ गम्यगुप्तोत्प्रेक्षा : मानो इत्यादिक वचन, आवत नहिं जेहि ठौर। शि० भू०
इवादिकपदाभावे, गूढ़ोत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥ ५-२९। चं०

८ भेदकातिशयोक्ति : जहाँ आनही भांति की, बरनत बात कछूक। शि० भू०
भेदकातिशयोक्तिश्चेदेकस्यैवान्यतोच्यते। ५-४५। चं०

९ अक्रमातिशयोक्ति : जहाँ हेतु अरु काज मिलि, होत एक ही साथ। शि० भू०
अक्रमातिशयोक्तिश्चेद् युगपत्कार्यकारणे। ५-४१ चं०

१० दीपक : वर्न्य अवर्न्यन को धर्म जहं बरनत हैं एक। शि० भू०
प्रस्तुताप्रस्तुतानां च तुल्यत्वे दीपकं मतम्। ५-५३। चं०

११ दीपकावृत्ति : दीपक पद के अर्थ जहं फिरि फिरि करत बखान। शि० भू०
आवृते दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम्। ५-५४। चं०

१२ प्रतिवस्तूपमा : वाक्यन को जुग होत जहं, एकै अर्थ समान। शि० भू०
वाक्ययोरर्थ सामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता। ५-५५। चं०

१३ दृष्टान्त : जुग वाक्यन को अर्थ जहं, प्रतिबिम्बित सो होत। शि० भू०
चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः। ५-५६। चं०

१४ निदर्शन : सदृस वाक्य जुग अरथ को, करिए एक अरोप । शि० भू०
वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना । ५-५८ । चं०

१५ सहोक्ति : वस्तुन को भासत जहां, जनरंजन सह भाव । शि० भू०
सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरञ्जनः । ५-६० । चं०

१६ विनोक्ति : बिना कछू जहं बरनिए, कै हीनौ कै नीक । शि० भू०
विनोक्तिश्चेद् बिना किंचित्प्रस्तुतं हीनमुच्यते । ५-६१ । चं०

१७ समासोक्ति : बरनन कीजै आन को, ज्ञान आन को होय । शि० भू०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत् । ५-६२ । चं०

१८ परिकर : साभिप्राय विशेषननि, भूषन परिकर मान । शि० भू०
अलंकारः परिकरः साभिप्रायेविशेषणे । ५-३९ । चं०

१९ परिकराङ्कुर : साभिप्राय विशेष्य तें, परिकर अंकुर जान । शि० भू०
साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः । ५-४० । चं०

२० व्याजस्तुति: अस्तुति में निन्दा कढ़ै निन्दा में स्तुति होय । शि० भू०
उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः । ५-७१ । चं०

२१ विभावना : भयो काज बिन हेतु ही बरनत हैं जेहि ठौर । शि० भू०
विभावना विनापि स्यात्कारणं कार्यं जन्म चेत् । ५-७७ चं०

२२ विशेषोक्ति : जहां हेतु समरथ भयेहु, प्रकट होत नहिं काज । शि० भू०
विशेषोक्तिरनुपपत्तिः कार्यस्य सति कारणे । ५-७८ । चं०

२३ प्रहर्षण : जहं मनवांछित अरथ ते प्रापति कछु अधिकाय । शि० भू०
वांछितादधिकप्राप्तिरयत्नेन प्रहर्षणम् । ५- ४९ । चं०

२४ बिषादन : जहं चित्तचाहे काज ते, उपजत काज विरूद्ध । शि० भू०
इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तुविषादनम् । ५-५० । चं०

२५ अधिक : जहां बड़े आधार ते बरनत बढ़ि आधेय । शि० भू०
अधिकं बोध्यमाराधादाधेयाधिक्यवर्णनम् । ५-८३ । चं०

२६ अन्योन्य : अन्योन्या उपकार जहं, यह बरनन ठहराय । शि० भू०
अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् । ५-८४ चं०

२७ विशेष : बरनत हैं आधेय को, जहं बिनहीं आधार । शि० भू०
विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम् । ५-८५ । चं०

२८ मालादीपक: दीपक एकावलि मिले, मालादीपक होय । शि० भू०
दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमुच्यते । ५-८६ । चं०

२९ समाधि : और हेतु मिलि के जहां, होत सुगम अति काज। शि० भू०
समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः। ५-९८। चं०

३० प्रत्यनीक : जहं जोरावर शत्रु के, पच्छी पैं कर जोर। शि० भू०
प्रत्यनीकं वलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः। ५-९९। चं०

३१ संभावना : जु यों होय तो होय इमि, जहं सम्भावन होय। शि० भू०
सम्भावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोन्यप्रसिद्धये। ५-४८। चं०

३२ अतद्गुण : जहं संगति ते और को, गुन कछूक नहिं लेत। शि० भू०
संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्। ५-१०५। चं०

३३ वक्रोक्ति : जहां स्लेष सों काकुसों, अरथ लगावे और। शि० भू०
वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यां वाच्यार्थान्तिरकल्पनम्। ५-१११। चं०

३४ सामान्य : भिन्न रूप जहं सदृस ते भेद न जान्यो जाय। शि० भू०
सामान्यं यदि सादृश्याद्भेद एव न लक्ष्यते। ५-३४। चं०

३५ विचित्र : जहां करत हैं जतन फल चित्त चाह विपरीत। शि० भू०
विचित्रं चेत्प्रयत्नः स्याद्विपरीतफलप्रदः। ५-८२। चं०

मूल्यांकन :

भूषण ने यद्यपि रचना बहुत थोड़ी की है, पर वह जितनी है, वह अपूर्व ओजसे ओतप्रोत हैं। वीर रस के वे सफल कवि थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। रीति कालीन परम्परा से प्रभावित होने के कारण उन्होंने 'शिवराज-भूषण' की रचना अलंकार-ग्रंथ के रूप में ही की। यद्यपि रस की दृष्टि से यह ग्रंन्थ उनकी सफल रचना है, पर अलंकार-निरूपण के विचार से हम उसे उत्तम ग्रंथ नहीं कह सकते। क्योंकि स्थान स्थान पर न तो लक्षण ही स्पष्ट हैं और न उदाहरण ही। कुछ उदाहरण अवश्य ही बहुत सुन्दर हैं। अलंकारों के निरूपण में एक ओर वे हिन्दी आचार्यों में मतिराम से प्रभावित है, तो दूसरी ओर चन्द्रालोककार पं० जयदेव से। भूषण के अलंकारों का क्रम तो प्रायः मतिराम के क्रम से मिलता है। कहीं-कहीं लक्षण की भाषा भी उन्हीं से मिलती जुलती है। अधिकतर भूषण के लक्षण चन्द्रालोक के अनुवाद मात्र से प्रतीत होते हैं। अतः भूषण कवित्व की दृष्टि से भले ही सफल हों, पर आचार्यत्व की दृष्टि से हम उन्हें सफल नहीं कह सकते। वे वास्तव में आचार्य न होकर कवि ही थे।

भाव विलासः देव कवि

(वि० सं० १७४६)

रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि देव ने वैसे तो, कहा जाता है, ७२ ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें बहुतेरे रीति ग्रन्थ भी हैं, पर अलंकार का विषय दो ग्रन्थों-'भाव विलास' और 'काव्य रसायन या शब्द-रसायन' में ही पाया जाता है।

देव के ग्रंथों की इस अधिक संख्या के विषय में शुक्ल जी का मत उल्लेखनीय है :

"ग्रंथों की अधिक संख्या के सम्बन्ध में यह जान रखना भी आवश्यक है कि देव जी अपने पुराने ग्रन्थों के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे इससे वे ही कवित्त बारबार इनके अनेक ग्रंथों में मिलेंगे। 'सुखसागरतरंग' तो प्रायः अनेक ग्रंथों से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है"।[1]

'भाव विलास' की रचना देव कवि ने सोलह वर्ष की आयु में वि० सं० १७४६ में की थी। दिल्लीपति औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने 'अष्टयाम' के साथ इसको भी सुना था और उसकी सराहना भी की थी।[2]

वर्ण्य विषय : भाव विलास में कुल पाँच विलास (अध्याय) हैं। इस ग्रन्थ में सकल भाव संयुक्त, नायिकादि नायक सहित शृंगार रस और अलंकारों का विवेचन किया गया है। प्रथम विलास में वन्दना एवं ग्रंथ परिचय के अनन्तर भाव, विभाव एवं अनुभावों का, द्वितीय विलास में सात्विक एवं संचारी भावों का, तृतीय विलास में रस और हावों का, चतुर्थ में नायक नायिकादि का और पंचम विलास में अलंकारों का निरूपण हुआ है।

कवि ने रस भाव-तथा नायक नायिकादि के वर्णन में ही ग्रन्थ का सर्वाधिक भाग लगाया है, इससे अनुमान होता है कि कवि की रसादिक के निरूपण में ही विशेष रुचि थी। इसी कारण अलंकार-वर्णन अन्तिम विलास में ही किया गया है। और वह भी विस्तार के साथ नहीं। इससे हम देव कवि के अलंकार विषयक दृष्टिकोण को भली-भाँति समझ सकते हैं। 'भाव विलास' यद्यपि इनकी प्रथम और

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ २६५, रामचन्द्र शुक्ल।

२ सुभ सत्रह से छयालिस, चढत सोरहीं वर्ष।
कढी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष।
दिल्लीपति अवरंग के, आजमसाह सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्ट जाम संभूत॥ भाव विलास।

अप्रौढ़ रचना है अतः उसके आधार पर उनके दृष्टिकोण के विषय में कोई मत स्थापित करना न्यायोचित नहीं है, परन्तु उनकी दूसरी रचना 'शब्द रसायन,' जो एक प्रौढ़ रचना है, का अध्ययन करने के पश्चात् भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देव कवि अलंकार की अपेक्षा रस को ही अधिक महत्वपूर्ण समझते थे।

अलंकार वर्णन

केशव ने दण्डी के अनुकरण पर अलंकारों की संख्या ३७ मानी थी, देव ने भी कुल ३९ मुख्य अलंकार माने हैं, यद्यपि उनके समय तक यह संख्या सौ से ऊपर पहुँच चुकी थी। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि देव अलंकारों की संख्या कम करने के पक्ष में थे, अथवा उस समय तक उनका अध्ययन व्यापक एवं विस्तृत न होकर केशव तक ही सीमित था। दूसरी बात ही मेरी दृष्टि में उपयुक्त जान पड़ती है। क्योंकि 'काव्य रसायन' से इस बात की पुष्टि हो जाती है। यदि सिद्धान्ततः उन्हें ३९ अलंकारों का ही वर्णन करना अभीष्ट होता तो 'शब्द रसायन' में भी इतने ही अलकारों का निरूपण किया गया होता, परन्तु वहाँ इसके विपरीत प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

भाव विलास में वर्णित ३९ अलंकारों की सूची निम्नलिखित है:— स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यक्तिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, दीपक, उदात्त, अपन्हुति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतस्तुति, आवृत्ति-दीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, हेतु, रसवत्, ऊर्जस्वन्न, सूक्ष्म, प्रेय, क्रम, समाहित, तुल्ययोगिता, लेश, भाविक, संकीर्ण और आशिष।

देव इन्हें मुख्य अलंकार बताते हैं तथा अन्य अनेक अलंकारों को इन्हीं का भेद-प्रभेद[1]। इतना ही नहीं, उनके अनुसार पुराननि मुनि अर्थात् प्राचीन आचार्यों के मत में भी यही ३९ अलंकार मुख्य हैं, परन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि दण्डी ने यद्यपि ३९ अलंकार अवश्य माने हैं, परन्तु रुद्रट और रुय्यक तक यह संख्या ६८ और ७५ तक पहुँच चुकी है। दूसरे दण्डी आदि के इन ३९ अलंकारों में शब्दालंकार भी सम्मिलित हैं, जबकि देव के अलंकारों में उनका अभाव है। अतः हमारा यह विश्वास है कि देव ने उस समय तक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन

---

१ अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव, कहैं,
येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इन्हीं के भेद और विविध बताइए॥ भा० वि०॥

नहीं किया था। संभवतः वह हिन्दी के पुराने आचार्य केशव आदि से ही अधिक प्रभावित थे। "पुरानति मुनि मतनि में पाइए" वाली बात उनकी सुनी सुनाई ही जान पड़ती है।

देव के इन मुख्य अलंकारों में रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रेय और आशीष जैसे अलंकार भी सम्मिलित हैं, जिनका महत्व बहुत पहिले ही समाप्त हो चुका था। दूसरे इनसे नितान्त भिन्न प्रतीप, दृष्टान्त, कारणमाला, परिसंख्या आदि अलंकारों को इनमें स्थान नहीं दिया गया।

'भाव विलास' में शब्दालंकारों की कोई चर्चा नहीं हैं और न कहीं शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के नाम से अलंकार का कोई विभाजन किया गया है। आश्चर्य तो तब और अधिक होता है, जब वहां 'अनुप्रास' के विषय में कोई चर्चा नहीं पाते, क्योंकि यही 'अनुप्रास' देव की काव्य-भाषा का प्राण है। उसके बिना देव कवि की कोई भी कविता पाठक को आकर्षित नहीं कर सकेगी।

नाम, भेद, और क्रम :

भाव विलास में वर्णित अलंकारों के नामों में कोई नवीनता नहीं है। हाँ, 'अप्रस्तुतप्रशंसा' को उन्होंने अवश्य 'अप्रस्तुतअस्तुति,' 'ऊर्जस्वित्' को ऊर्जस्वल' और 'प्रेयस्' को 'प्रेय' नाम दिया है। उनके भेदोपभेदों की भी यहाँ कोई चर्चा नहीं है। अलंकारों का जो क्रम रक्खा गया है वह तो बड़ा अवैज्ञानिक है, उसका कोई आधार नहीं जान पड़ता। 'रसवत्' आदि अलंकारों को भी एक क्रम से नहीं रक्खा गया है। उनके बीच में सूक्ष्म, क्रम, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों को स्थान मिल गया है। 'आशिष' की चर्चा सबसे बाद में अन्त में की गयी है।

लक्षण और उदाहरण :

अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में और उदाहरण कवित्त तथा सवैयों में दिए गए हैं। अधिकतर लक्षणों और उदाहरणों में कोई सामंजस्य नहीं है। लक्षणों को देख कर ऐसा जान पड़ता है कि बालक देव को अलंकार विषयक विशेष ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि ये लक्षण अपूर्ण और शिथिल हैं। निम्नलिखित उदाहरण हमारे इस कथन की पुष्टि करेंगे।

उपमा :

नून गुनहिं जहं अधिक गुन, कहिए बरनि समान।
अलंकार उपमा कहत, ताही सुमति सुजान॥

यह लक्षण इतना सामान्य और व्यापक है कि इससे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का भेद ही स्पष्ट नहीं हो सकता। "गौ सदृशः गवयः" जैसे वाक्यों में भी

इस लक्षण के अनुसार 'उपमालंकार' मानना पड़ जायगा। उपमा के आधारभूत अंगों का तो यहाँ कोई संकेत भी नहीं है और न सादृश्य-चमत्कार का ही कोई कथन है। इस लक्षण के प्रकाश में जो उसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह वास्तव में 'उत्प्रेक्षा' का उदाहरण बन गया। देखिए :

ओछे उरोजनि पै हंसि कै, कसि के पहरी गहरी रंग बोरी।
पैरि सिवार सरोज सनाल चढ़ी मनों इन्द्रवधूनि की जोरी॥

रूपक :

सम समान जैसे जनो, जिमि ज्यों मानो तूल।
और सरिस कवि देव ए, पद उपमा के मूल।
जहं उपमा में ये न पद, सोई रूपक जानु ।

'उपमा' के वाचक शब्द, सम, समान आदि जहां न आवें वहां 'रूपक' अलंकार होता है। यह लक्षण भी 'उपमा' के समान ही शिथिल है। वस्तुतस्तु वाचक शब्दों के अभाव में 'वाचकलुप्तोपमा' होती है, रूपक नहीं। इस लक्षण से ऐसा जान पड़ता है कि देव को उस अवस्था में 'उपमा' और 'उत्प्रेक्षा' का अन्तर तक ज्ञात न था। अन्यथा जनो और मनो को वे उपमा के मूल पद न बताते।

समासोक्ति :

कछू वस्तु चाहै कहौ, ता सम बरनै और।
सुसमासोक्ति सो जानिए, अलंकार सिर मौर॥ देव।

यह लक्षण भी इतना व्यापक हो गया है कि इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' और 'प्रस्तुतांकुर' भी समा जाते हैं। अतः अतिव्याप्ति दोष के कारण यह लक्षण सदोष हो गया।

केशवदास का 'अन्योक्ति' का लक्षण बहुत कुछ इसी प्रकार का है :

औरह प्रति जो बखानिए, कछू और की बात। केशव

सहोक्ति :

सो सहोक्ति जहं सहित गुन, कीजे सहज बखान। देव

यहाँ साथ-साथ गुणों के वर्णन मात्र को अलंकार समझ लिया गया है, अलंकार-चमत्कार को भुला दिया गया है। केशव ने भी यही भूल की है :

हानि वृद्धि, शुभ अशुभ कछु, कहिए गूढ़ प्रकास।
होय सहोक्ति सु साथ ही, बरनत केशवदास। के० कविप्रिया १२-२०।

परन्तु इसका जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है वह अवश्य ही उपयुक्त है।

काम के तीर समेत समीर, शरीर में लागत पीर बढ़ावै। देव

जहाँ अप्रस्तुत की स्तुति द्वारा [illegible]

[illegible], तथा जहाँ दूसरे की निन्दा द्वारा [illegible]

[illegible] अलंकार होता है। [illegible]

[illegible] की स्तुति द्वारा दूसरे की [illegible]

[illegible] का कथन होता है। इसी प्रकार [illegible]

[illegible] निन्दा से स्तुति [illegible]

[illegible]

ऊर्जस्वल का उदाहरण :

छांडि दै मानरी मान कह्यो, कहुं भानु को तेज कृसानु पै रहै ।

वास्तव में यह उदाहरण लोकोक्ति का बन गया है ।

मूल्यांकन :

'भाव विलास' बालक देव की वस्तुतः बाल-रचना ही है । क्योंकि यह पुस्तक किसी भी अर्थ में पूर्ण नहीं है । इसमें शब्दालंकार तो हैं ही नहीं, साथ ही अर्थालंकारों में भी अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ दिया गया है और रसवत् जैसे महत्वहीन अलंकारों को सम्मिलित कर लिया गया है । पर इसका यह अर्थ नहीं कि दण्डी, भामह अथवा केशव की भाँति वे अलंकारवादी थे और अलकार को ही सर्वस्व मान कर रसादिक को भी वे अलंकार का ही अंग समझते थे । जिन अलंकारों को छोड़ दिया [illegible] उनका कहीं अन्तर्भाव भी नहीं दिखाया गया है । इससे ज्ञात होता है कि [illegible] चार्यत्व की प्रतिभा नहीं थी । सोलह वर्ष के देव में इसकी संभावना भी [illegible] सकती है, जबकि उस समय तक उनका अध्ययन भी न विशाल था औ [illegible]

[illegible] संकेत भी नहीं किया गया है । अल [illegible] और न उनमें कोई व्यवस्था-क्रम [illegible] कहीं पूर्ण सदोष । इसी कारण [illegible] के नाम और लक्षणों पर केव [illegible] शास्त्र की दृष्टि से देव के इ [illegible]

उक्त [illegible] का प्रमाण उस ग्रंथ [illegible] व और प्रौढ़ रचना है [illegible] करो [illegible] की [illegible]

ग्रंथ का [illegible]

इस [illegible]
डा० जानकी [illegible]

१—भाषा प्राकृ [illegible]
देवदत्त कवि [illegible]

अन्य रीतिकालीन अधिकांश कवियों की भाँति देव ने भी 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में प्रशंसा का अर्थ गुणगान ही समझा है। इसीलिये वे उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के स्थान पर 'अप्रस्तुति अस्तुति' नाम से अभिहित करते हैं। संभवतः इसी कारण उन्होंने इसी के साथ साथ 'व्याजस्तुति' का लक्षण भी दे दिया। देखिए :

जहाँ सु अप्रस्तुति अस्तुती, निंदा की अचान।
निंदै और जहं सराहियै, सो व्याजस्तुति जान। देव-भा० वि०।

जहाँ अप्रस्तुत की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की निन्दा की जाय वहाँ 'अप्रस्तुत प्रशंसा,' तथा जहां दूसरे की निन्दा द्वारा प्रस्तुत की सराहना की जाती है वहाँ 'व्याजनिंदा' अलंकार होता है। ये दोनों लक्षण बिलकुल अशुद्ध हैं। क्योंकि 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में एक की स्तुति द्वारा दूसरे की निन्दा न होकर, अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का कथन होता है[1]। इसी प्रकार 'व्याजस्तुति' में वाच्य स्तुति से निन्दा और वाच्य निन्दा से स्तुति व्यंग्य रहती है[2]। उसमें अप्रस्तुत और प्रस्तुत की बात नहीं होती।

इसी कारण इन लक्षणों की भांति उन के उदाहरण भी सदोष हो गए हैं।

सबतें सब भांति भली हिरनी, निसिबासर पास रहे पिय के। देव

यह अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण है। यहाँ हिरणी (अप्रस्तुत) की प्रशंसा द्वारा 'गोपियां' अपनी (प्रस्तुत की) निन्दा कर रही हैं।

व्याजस्तुति का उदाहरण भी देखिए :—

कूबरी भी अति सूधी बधू को, मिल्यो बर देव जू स्याम सौ सूधो। देव

यहाँ गोपियां कुब्जा और श्याम को सीधा (व्यंग्य रूप से) कह कर अपनी प्रशंसा कर रही हैं।

लक्षणों की भांति उदाहरण भी अधिकतर दोषपूर्ण हो गए। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनका लक्षणों से मेल नहीं बैठता, कुछ ऐसे हैं जिनमें अलंकार-चमत्कार का अभाव है, और कुछ स्थलों पर लक्षणों के अनुपयुक्त होने के कारण उदाहरण भी अनुपयुक्त हो गये जैसा कि अभी ऊपर 'अप्रस्तुति प्रशंसा' और व्याजस्तुति के लक्षण उदाहरणों में बताया गया है।

अनन्वय का उदाहरण :

केस से केस लसैं मुख सौ मुख, नैन से नैन रहे रंग सों छकि। देव

अनन्वय में अद्वितीयता का चमत्कार रहता है, परन्तु उपर्युक्त उदाहरण में उस चमत्कार के दर्शन न होने से उसे निर्दोष नहीं कह सकते।

---

१ अप्रस्तुत प्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया। १०-६८। का० प्र०

२ निन्दास्तुतिभ्यां वाचाभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः १०-६०। सा० दर्पण

ऊर्जस्वल का उदाहरण :

छांडि दै मानरी मान कह्यो, कहुं भानु को तेज कृसानु पै रैहै ।

वास्तव में यह उदाहरण लोकोक्ति का बन गया है ।

मूल्यांकन :

'भाव विलास' बालक देव की वस्तुतः बाल-रचना ही है । क्योंकि यह पुस्तक किसी भी अर्थ में पूर्ण नहीं है । इसमें शब्दालंकार तो हैं ही नहीं, साथ ही अर्थालंकारों में भी अनेक महत्वपूर्ण अलंकारों को छोड़ दिया गया है और रसवत् जैसे महत्वहीन अलंकारों को सम्मिलित कर लिया गया है । पर इसका यह अर्थ नहीं कि दण्डी, भामह अथवा केशव की भाँति वे अलंकारवादी थे और अलंकार को ही सर्वस्व मान कर रसादिक को भी वे अलंकार का ही अंग समझते थे । जिन अलंकारों को छोड़ दिया गया है, उनका कहीं अन्तर्भाव भी नहीं दिखाया गया है । इससे ज्ञात होता है कि देव में आचार्यत्व की प्रतिभा नहीं थी । सोलह वर्ष के देव में इसकी संभावना भी कैसे की जा सकती है, जबकि उस समय तक उनका अध्ययन भी न विशाल था और न गंभीर ही ।

अलंकारों के भेदों की भी कहीं चर्चा तो क्या, संकेत भी नहीं किया गया है । अलंकारों के क्रम में भी कोई आधार नहीं जान पड़ता है और न उनमें कोई व्यवस्था-क्रम ही है । लक्षण कहीं अपूर्ण हैं, कहीं शिथिल हैं और कहीं पूर्ण सदोष । इसी कारण उदाहरण भी प्रायः अशुद्ध एवं अपूर्ण रह गए । अलंकारों के नाम और लक्षणों पर केशवदास का प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है । वस्तुतः काव्यशास्त्र की दृष्टि से देव के इस बाल-प्रयत्न 'भाव विलास' का कोई महत्व नहीं है ।

शब्द रसायन (काव्य रसायन)

उक्त ग्रंथ देव कवि की 'भावविलास' के बाद की रचना है । इस बात का प्रमाण उस ग्रंथ की प्रौढ़ता है । शब्द रसायन, भाव-विलास की अपेक्षा अधिक विस्तृत और प्रौढ़ रचना है । इसकी रचना देव ने भाषा, प्राकृत, संस्कृत के ग्रंथों का अध्ययन करके तथा 'महाकवियों के पंथ' को देख कर ही की थी ।[१] अतः इस ग्रंथ में विचारों की प्रौढ़ता एवं परिपक्वता का होना स्वाभाविक ही है ।

ग्रंथ का शीर्षक :

इस ग्रंथ के 'काव्य रसायन' और 'शब्द रसायन' दोनों नाम प्रसिद्ध हैं । डा० जानकीनाथ सिंह ने मनोज द्वारा सम्पादित प्राप्त प्रति में इस ग्रंथ का नाम

१—भाषा प्राकृत संस्कृत, देखि महा कवि पंथ ।
देवदत्त कवि रस रच्यौ, काव्य रसायन ग्रंथ ।। शब्द रसायन—देव

शब्द रसायन' ही दिया है। पर ग्रंथ के अन्त में कवि के शब्दों में उसे 'काव्य रसायन' नाम से भी अभिहित किया गया है। ग्रन्थ के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में कहीं "इति श्री काव्य रसायने देव कवि कृते सशब्दार्थ त्रिविध वृत्ति तात्पर्ज निरूपनो नाम प्रथमो प्रकास:", और कहीं 'इति श्री शब्द रसायने देवदत्त विरचिते वृत्तमूल भेदान्तर तात्पर्जादि निरूपनो नाम द्वितीयो प्रकास:" लिख कर ग्रन्थ के दोनों नाम दिए गए हैं। संभवतः कवि को यह दोनों नाम अभीष्ट थे। परन्तु इनमें 'काव्य रसायन' नाम अधिक उचित एवं उपयुक्त मालूम होता है, क्योंकि काव्य-शब्द से शब्द और अर्थ दोनों का सौन्दर्य प्रकट हो जाता है, जबकि 'शब्द रसायन' नामकरण में अर्थ का अन्तर्भाव नहीं हो पाता है। ग्रन्थ में शब्द और अर्थ दोनों का विवेचन है, अतः इस विषय के नाते उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति 'काव्य रसायन' शब्द से ही हो सकती है। अतः यही नाम अधिक सुन्दर है।

ग्रंथ परिचय :

इस ग्रंथ में कुल ग्यारह प्रकाश हैं। प्रथम प्रकाश में मंगला चरण आदि के पश्चात् शब्दार्थ निर्णय, शब्द अर्थ भेद तथा शब्द शक्तियों का, द्वितीय में वृत्तिमूल भेद, तृतीय में शृंगार रस, षड् भाव का, चतुर्थ प्रकाश में हास्यादि अन्य रसों का, पंचम प्रकाश में रस मैत्री, रस विरोध, एवं चार वृत्तियों का, षष्ठम प्रकाश में रसादि निर्णय, नायिका भेद, सूची आदि का, सप्तम में प्रसाद माधुर्य आदि गुणों एवं काव्य रीति का, अष्टम प्रकाश में शब्दालंकारों का, नवम प्रकाश में अर्थालंकारों का, दशम दथा एकादश प्रकाशों में छन्दों का निरूपण किया गया है, यदि इसमें काव्य-दोषों को भी समावेश हो जाता तो यह अपने समय की एक पूर्ण रचना बन जाती।

अलंकार विवेचन

अलंकार विषयक दृष्टिकोण :

देव कवि वस्तुतः रसवादी थे। वे काव्य को शब्दार्थ का सार एवं रस को काव्य का सार मानते हैं।[1] उनके अनुसार रस काव्य का मूल है और वह हरिजस में निमग्न करके आनन्दोद्रेक करने वाला है। रस के बिना शब्द अर्थ छन्द आदि का कोई महत्व नहीं।[2] रस के अभाव में पद, शब्द, अर्थ आदि छल मात्र ही हैं।

अलंकार से काव्य में उत्कर्ष आता है।[3] इसी कारण काव्य में रस मुख्य है,

१—काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यासार।

२—चलत न तब लगि पद छिदे, शब्द अर्थ छल छन्द।
जब लगि-लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द॥

३—सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
ताते काव्या मुख्य रस, जामैं दरसत भाव।

और अलंकार गौण। समर्थ एवं सरस काव्य के लिए छन्द, भाव और अलंकार (भूषण) का होना आवश्यक है।[१] इस प्रकार देव के मतानुसार रस काव्य का मुख्य अंग है और अलंकार काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले साधन हैं।

अलंकार विषयक सामान्य सिद्धान्त :

देव के अनुसार अलंकार काव्योत्कर्ष बढ़ाने वाले अवश्य हैं, पर उनके अधिक प्रयोग से सुन्दर वर्णों वाली सरस कविता उसी प्रकार से विचित्र लगने लगती है जिस प्रकार सुन्दर वर्ण और सुन्दर जाति वाली स्त्री का रूप अधिक आभूषण पहिनने से विचित्र दिखाई देने लगता है।

कविता कामिनि सुखद पद, सुवरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्‌भुत रूप लखाति।[२] श० र० ९वां प्रकाश

इससे सिद्ध होता है कि देव की दृष्टि में कविता में उत्कर्ष लाने के लिए अलंकार योजना अभीष्ट है, परन्तु उनका अधिक प्रयोग वांछनीय नहीं हैं। ये अलंकार शब्द और अर्थ के भेद से दो प्रकार के हैं।

शब्दालंकार अपनी अनुकूल वर्ण योजना द्वारा रस के सहायक होते हैं। इसी अर्थ में उन्होंने 'यमक' और 'अनुप्रास' को रस रीति का सहायक बताया है।[३] अनुप्रास को तो उन्होंने रसपूर ही कह दिया।[४] क्योंकि 'वृत्यनुप्रास' में वर्ण-योजना गुणों के आधार पर होती है और गुण रस के नित्य धर्म होते हैं।

शब्दालंकार में देव ने 'चित्र काव्य' का भी वर्णन किया है। यहाँ चित्र से 'चित्रालंकार' और 'चित्र काव्य' दोनों का अभिप्राय है। चित्र में समर्थ अर्थ तो नहीं होता, पर अक्षरों और वर्णों का वैचित्र्य अवश्य होता है। इसी कारण वे उसे 'अधम काव्य' कहते हैं।[५] प्राचीन और नवीन कवियों का भी यही मत है।

यह 'चित्र काव्य' बिना अर्थ का होने से मृतक काव्य है, वह कठिन अर्थ के प्रेत समान है।[६] सरस पद अर्थ वाला वाक्य ही वास्तव में काव्य होता है। उसे

१—छन्द भाव भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ।
२—यह दोहा केशव के निम्नलिखित दोहे का अनुकरण सा जान पड़ता है :
जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवित्त।
भूषन बिनु न बिराजहीं, कविता, वनिता, मित्त। कवि प्रिया
३—अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रस रीति। नवां प्रकाश-शब्द रसायन
४—अनुप्रास रसपूर
५—अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर वरन विचित्र
अधम काव्य ताते कहत, कवि प्राचीन नवीन।
६—मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।

छोड़ कर जो व्यक्ति अर्थहीन शब्दचित्राभिमुख होता है वह उस वायस के समान है जो, दधि, घृत, पायस आदि को छोड़ कर नीरस चमड़े को चबाता है।[१] इसी कारण देव ऐसे अधम काव्य का वर्णन नहीं करना चाहते थे, पर चूँकि संसार में भिन्न भिन्न रुचि के लोग हैं, अतः जिन्हें अर्थ का अनुभव नहीं है और न रसभोग ही जिन्हें अच्छा लगता है, उन्हीं के लिऐ उन्हें इसका वर्णन करना पड़ा।[२]

अनुप्रास और यमक देव के अनुसार इस चित्र काव्य के मूल हैं।[3] इस कथन से ऐसा जान पड़ता है कि देव के विचारों में कोई संगति नहीं है, अथवा उनमें वचन-निर्वाह नहीं है। क्योंकि एक ओर तो वे 'अनुप्रास' को रसपूर बताते हैं और 'चित्र' को अर्थहीन। और दूसरी ओर उसी 'अनुप्रास' को वे अर्थहीन चित्र का मूल भी कहते हैं। अतः इस कथन-वैषम्य को देखते हुए कहा जा सकता है कि 'अनुप्रास' और 'यमक' से रस रीति सनाथ नहीं हो सकती, या वे 'चित्र काव्य' के मूल नहीं हो सकते। क्योंकि सरस काव्य उत्तम कोटि का काव्य है और चित्र काव्य अधम कोटि का। उनमें वही सम्बन्ध है जो दधि आदि सरस पदार्थ और नीरस निर्जीव चाम में है।

अर्थालंकारों के उन्होंने मुख्य और गौण नाम से दो भेद किए हैं। मुख्य अलंकारों की संख्या चालीस और गौण अलंकारों की तीस है।[४] इनमें 'उपमा' और 'स्वभावोक्ति' अलकार मुख्य हैं। भाव विलास में भी यह संकेत है। वहाँ 'वक्रोक्ति' और 'समासोक्ति' की श्रेष्ठता का भी प्रतिपादन उन्होने किया था।[५] यहाँ 'शब्द रसायन' में इसे स्पष्ट कह दिया गया है :

अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परगट प्रगट प्रभाव॥

परन्तु यह कथन निर्दोष नहीं कहा जा सकता। 'उपमा' को सादृश्यमूलक अलंकारों का तो आधार कहा जाता है, पर 'स्वभावोक्ति' को नहीं। इसलिए शायद

---

१ सरस वाक्य पद अर्थ तजि, शब्द चित्र सगुहात।
दधि घृत मधु पायस तजति वायसु चाम चबात॥
२ जिनहिं न अनुभव अर्थ को, भावत नहिं रस भोग।
चित्र कहत तिन हेत कछु, भिन्न भिन्न रुचि लोग।
३ अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
४ मुख्य गौन विधि भेद करि, है अर्थालंकार।
मुख्य कह्यो चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार॥
५ (i) सुकवि जाति वर्णन करत, कहत सुनत अभिराम।
(ii) सु वक्रोक्ति सु बरनिए, उत्तम काव्य सुभाइ।
(iii) सुसमासोक्ति सो जानिए, अलंकार सिर मौर।

आगे चलकर उन्होंने 'उपमा' को मूल मानकर अन्य अलंकारों के नाम के साथ 'उपमा' शब्द जोड़ कर अपने उक्त कथन को सुधारने का प्रयास किया है। अनन्वयोपमा, सन्देहोपमा आदि जैसे नाम संभवतः इसी प्रयास के फल हैं। यह प्रयास इसीलिए किया गया जान पड़ता है जिससे ये अलंकार उपमामूलक प्रतीत हो सकें। देव का यह कोई नवीन प्रयास नहीं है, क्योंकि प्राचीन आचार्यों ने 'उपमा', 'वक्रोक्ति' आदि को अनेक अलंकारों का मूल मानकर अपना अपना सिद्धान्त स्थिर किया है। 'वक्रोक्ति' को सभी अलंकारों का मूल मानकर कुन्तक ने तो अपना 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' ही स्थापित किया था। 'उपमा' को 'चित्रमीमांसाकार' ने शैलूषी के समान प्रतिपादित किया है :

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता, चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्य रंगे, नृत्यन्ति तद्विदां चेतः ॥

शब्दालंकार

'भाव विलास' में शब्दालंकारों की जो कमी थी उसी को 'शब्द रसायन' में पूरा किया गया है। यहाँ चार शब्दालंकारों—चित्र, अनुप्रास, यमक एवं सिंहावलोकन का विवेचन हुआ है। शब्दालंकारों वाला काव्य 'चित्र काव्य' कहलाता है।[1] परन्तु इसमें समर्थ अर्थ नहीं होता; केवल अक्षरों एवं वर्णों का ही वैचित्र्य होता है, इसलिए वह 'अधम काव्य' होता है[2]। काव्य प्रकाश में भी इसे (अवर) काव्य कहा गया है[3]। 'अनुप्रास' और 'यमक' देव कवि के अनुसार इस 'चित्र काव्य' के मूल हैं[4]। अतः सबसे पहले इन्हीं का वर्णन हुआ है।

'अनुप्रास' के भेद नहीं बताए गए। उसका लक्षण और उदाहरण देने के पश्चात् 'यमक' के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। 'यमक' के यहाँ १२ भेद बताए गए हैं। 'सिंहावलोकन' का लक्षण नहीं है, केवल उदाहरण दिया गया है। दास ने इसका लक्षण दिया है। उनके अनुसार जब एक चरण का अन्तिम अक्षर दूसरे चरण के प्रारम्भ में आकर सौन्दर्य उपस्थित करता है, तब सिंहावलोकन अलंकार होता है। देव ने उसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

दूल है सुहाग दिन, तूल है तिहारे तिन,
तूल है तिहारे सो अयान ही की भूल है।

१—अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र।
२—अर्थ समर्थ न पाइयत, अच्छर बरन विचित्र।
अधम काव्य तातें कहत, कवि प्राचीन नवीन।
३—शब्द चित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यम् त्ववरं स्मृतम्। १-५। का० प्र०
४—अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।

भूल है न भाग की प्रवाह सो दुकूल है,
दुकूल है उज्यारो देव प्यारो अनुकूल है । आदि

यमक के उदाहरणों में निरर्थक शब्दों की बहुलता है । देखिए :

(i) करुना करत, करुना करत दीन पर,
करुना करत, करुना करत करनी ।

(ii) जोवन जोतिन की मधुराई सों, जोवन जोतिन की मधुराई ।
सोधन सोधन कोधन धाई सों, सोधन सोधन को न सुधाई ।

(iii) काली के कूल कलोल कुलाकुल, कैलि कलालि को कील कली लैं ।
लालि ललो लललाल लली, ललुलैं ललि, ले लुलि लाल लली लैं ।

यहाँ शब्दों के साथ खिलवाड़ मात्र ही दिखाई पड़ता है । उनमें कोई विशेष अर्थ-सौन्दर्य नहीं जान पड़ता ।

अन्त में 'चित्र काव्य' का वर्णन है । केशव ने इसका वर्णन पूरे एक प्रभाव में किया था, देव ने भी उसका विस्तृत वर्णन किया है, तथापि वे कहते हैं कि चित्र का विस्तार तो अधिक है, परन्तु मैंने संक्षेप में ही इसका वर्णन किया है[1] । वस्तुतः देव के मत में शब्दालंकार और चित्र काव्य एक ही हैं । वे स्वयं कहते हैं :

"अलंकार जे शब्द के ते कहि काव्य सुचित्र ।"

अनुप्रास और यमक चित्र के मूल हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुप्रास-यमक-विशिष्ट चित्र ही एक मात्र शब्दालंकार हैं । परन्तु वह एक मृतक काव्य, अर्थहीन और कठिन अर्थ का प्रेत ही है :

मृतक काव्य, बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत ।

अर्थालंकार

अर्थालंकारों की संख्या :

'भाव विलास' में शब्दालंकारों का वर्णन नहीं था और अर्थालंकारों में ३९ मुख्य अलंकार बताए गए थे । परन्तु 'शब्द रसायन' में शब्दालंकारों का वर्णन भी किया गया है, और अर्थालंकारों में भी मुख्य और गौण के भेद से ७० अलंकारों (४०+३०) का विवेचन किया गया है ।

यहाँ मुख्य अलंकारों में 'भाव विलास' के ३९ अलंकारों में से ३३ तो ले लिए गए हैं और उल्लेख, समाधि, दृष्टान्त, विरोधाभास, असंगति, असंभव, परिकर तथा तद्‌गुण ये आठ नए अलंकार जोड़ दिए गए हैं । भाव विलास के परित्यक्त छह अलंकारों में से 'उपमेयोपमा' तथा 'अनन्वय' उपमा के भेद बन गए हैं, भाविक,

---

१—चित्र कह्यो संक्षेप तें, है विचित्र विस्तार ।

संकीर्ण और आशिष गौण अलंकारों में सम्मिलित कर लिए गए तथा 'समाहित' छोड़ दिया गया है । यहाँ जो आठ नए अलंकार जोड़े गए हैं वे चन्द्रालोक के प्रभाव से ही आए हैं । क्योंकि इन अलंकारों में से 'उल्लेख' और 'असंभव' काव्य प्रकाश में नहीं हैं, और 'विरोधाभास' तथा 'असंभव' साहित्य दर्पण में नहीं हैं, पर चन्द्रालोक में ये सभी आठों अलंकार हैं ।

गौण अलंकार ३० हैं । ये सभी कुवलयानन्द में मिल जाते हैं । परन्तु यहां प्रतीप, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा, विनोक्ति, परिसंख्या और काव्यलिंग का कोई उल्लेख नहीं है । इन गौण अलंकारों में देव के तीन नए अलंकार भी हैं गुणवत्, लेख और प्रत्युक्ति । परन्तु इन नवीन अलंकारों में कोई प्रौढ़ता नहीं है क्योंकि 'गुणवत्' तो 'रसवत्' का ही अनुकरण है । यह वास्तव में 'अनुप्रास' का ही एक भेद कहा जा सकता है, 'अनुप्रास' के अतिरिक्त उसमें कोई सौन्दर्य नहीं जान पड़ता । 'लेख' में कोई अलंकारत्व नहीं । 'प्रत्युक्ति' तो 'प्रश्नोत्तर' का ही दूसरा नाम है । अतः इन अलंकारों में कोई नवीनता नहीं जान पड़ती ।

इस प्रकार 'शब्द रसायन' में ४०+३०=७० अलंकारों का विवेचन हुआ है । इनके भी मिश्रण से अनेक भेद हो सकते हैं । इन गुप्त (व्यंग्य) एवं प्रकट (वाच्य) अलंकारों को मतिमन्त लोग समझते हैं :

मुख्य गौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त ।
गुप्त प्रकट सब काव्य में, समुझत हैं मतिमन्त ।।

देव ने अलंकारों के जो मुख्य एवं गौण भेद किए हैं उसका कोई आधार उन्होंने नहीं बताया और न कहीं उसका संकेत ही किया है । परन्तु इस वर्गीकरण के तीन आधारों की कल्पना हम कर सकते हैं ।

१. एक ही आधार वाले दो अलंकारों में से एक को मुख्य और दूसरे को गौण मान लिया गया है जैसे तद्गुण को मुख्य और अतद्गुण को गौण कहा गया है । २. अनुकरणीय को मुख्य और अनुकरण को गौण कह दिया गया है यथा रसवत् मुख्य है, उसका अनुकरण गुणवत् गौण । ३. दण्डी केशव आदि प्राचीन आचार्यों के अलंकार मुख्य और चन्द्रालोक, कुवलयानन्द के नवीन अलंकार गौण हैं । यह भी संभव है कि देव को जो भी अलंकार रुचिकर प्रतीत हुए उन्हें मुख्य और जो रुचिकर नहीं लगे उन्हें गौण मान लिया हो । देव का यह वर्गीकरण अपना निजी है, किसी सस्कृत या हिन्दी आचार्य ने ऐसा वर्गीकरण अब तक नहीं किया ।

उपमालंकार :

देव कवि ने "अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव" कहकर 'स्वभावोक्ति' और 'उपमा' को मुख्य माना है । अतः सर्वप्रथम इन्हीं दो का वर्णन किया गया है ।

भाव विलास में भी ऐसा ही है। 'स्वभावोक्ति' के वर्णन के पश्चात् 'उपमा' का लक्षण देकर उसके योग्य स्थलों की चर्चा की गई है। उन स्थलों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं :

बैर प्रीति, मद ईरषा, क्रीड़ा बचन विलास।
स्तुति निंद्या करुना दया, हर्ष हास उपहास॥
सुमृति सांत संदेह सुख, निश्चै तर्क विवाद।
उद्यम ग्रादर ग्रनादर, मान प्रमान प्रसाद॥
बिनती छोभन छमापन, ग्राभाषन ग्रपमान।
ग्रंगीकार उदारता, ग्रहकार ग्रनुमान॥
उपमा संभव ग्रसंभव, ग्रनगुन संग ग्रसंग।
तातपर्ज धुनि व्यंग हूँ, वाच्य लक्ष्य साभंग॥
एक देस ग्रसकल सकल, वाक्या पद लौं भंग।
सकल ग्रलंकारिन विषै, उपमा ग्रंग उपंग॥

तदनन्तर उपमा के भेदों के उदाहरण हैं, उनके लक्षण नहीं हैं। यहाँ 'उपमा' के पच्चीस भेद गिनाए गए हैं। एकदेशोपमा ग्रौर संकीर्ण भावोपमा का तो एक एक उदाहरण दिया गया है, पर ग्रागे चल कर चार चार भेदों तक को एक ही उदाहरण में घटित किया गया है। इन भेदों में कुछ तो नए जान पड़ते हैं। ग्रधिकतर भेदों का ग्रन्यत्र ग्रन्तर्भाव संभव है। एक ग्रोर तो उन्होंने स्मृति, निश्चय, भ्रम, सन्देह, ग्रसंभव, उल्लेख, ग्राक्षेप, ग्रौर स्वभावोक्ति को स्वतंत्र ग्रलंकार मानकर उनका वर्णन किया है तो दूसरी ग्रोर स्मरणोपमा, निश्चयोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, ग्रसम्भवोपमा, उल्लेखोपमा, ग्राक्षेपोपमा, ग्रौर स्वभावोपमा को उपमा के भेद रूप में वर्णित किया है। भाव विलास में ग्रनन्वय ग्रलंकार का स्वतंत्र वर्णन हुग्रा था, यहाँ 'ग्रनन्वयोपमा' नाम से उपमा के भेदों में गिनाया गया है। इसी प्रकार जिस 'तुल्ययोगिता' का वर्णन स्वतन्त्र रूप से किया गया है, उसी को सम्भवतः "तुल्ययोगोपमा" नाम से उपमा का एक भेद भी मान लिया गया है।

उपमा के इन भेदों में केशव ग्रौर दण्डी का प्रभाव मालूम पड़ता है। क्योंकि उन्होंने भी उपमा के ग्रनेक भेद बताए हैं ग्रौर देव की ग्रनेक उपमाएं केशव की उपमाग्रों से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। हाँ, उनमें नामों का ग्रन्तर ग्रवश्य है। जैसे देव की सन्देहोपमा, तर्कोपमा, उचितोपमा, नियमोपमा, ग्रधिकोपमा, ग्रमानोपमा, निश्चयोपमा, ग्रसंभवोपमा, प्रतिकारोपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा, संकीर्णभावोपमा, क्रमशः केशव की संशयोपमा, हेतूपमा, भूषणोपमा, नियमोपमा' गुणाधिकोपमा, ग्रतिशयोपमा, निर्णयोपमा, ग्रसंभावितोपमा, विरोधोपमा, मालोपमा, परस्परोपमा, एवं संकीर्णोपमा हैं। प्रायः ग्रन्य उपमा के भेद भी केशव से ही ग्राए हुए प्रतीत होते हैं। वस्तुतः देव के इन भेदों में नामों के ग्रतिरिक्त कोई मौलिकता नहीं जान

पड़ती । यदि प्रत्येक भेद का उन्होंने लक्षण दिया होता तो उनकी मौलिकता को समझने की उलझन समाप्त हो जाती, पर उन्होंने ऐसा किया नहीं ।

अलंकारों के भेद :

भाव विलास में केवल ३९ अलंकारों का वर्णन हुआ था, पर वहाँ भेदों की कोई चर्चा नहीं की गई थी । यहाँ शब्द रसायन में वैसे तो अलंकारों के गौण और मुख्य दो भेद किए गए हैं, पर उनके मिश्रण से अनेक भेदों का होना भी बताया गया है । कुछ अलंकारों के भेद यहाँ दिए भी गए हैं । 'उपमा' के भेदों का वर्णन ऊपर हो चुका है । आगे चलकर रूपक, अपन्हुति, वक्रोक्ति और निदर्शना के भेदों का भी उल्लेख किया गया है । रूपक के भेदों के तो समस्त, असमस्त आदि नाम दिए भी गए हैं, पर अन्य अलंकारों के भेदों के नाम नहीं बताए गए और न उनके लक्षण ही दिए गए हैं । केवल उदाहरणों द्वारा संकेत भर कर दिया गया है । अन्य अलंकारों के भेदों का भी इसी प्रकार इंगित मात्र पाया जाता है । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देव कवि अलंकारों के भेदों से परिचित तो थे, पर उनका पूर्ण एवं विस्तृत वर्णन करना उन्हें अभीष्ट न था ।

'विरोध' और 'विरोधाभास' को उन्होंने पृथक् पृथक् अलंकार मान कर उनका वर्णन किया है । 'अप्रस्तुतप्रशंसा' को यहां भी भाव विलास की भाँति 'अप्रस्तुत स्तुति' ही कहा गया है । यह संभवतः प्रशंसा शब्द के अर्थ की भ्रान्ति का परिणाम है ।

अलंकारों का क्रम :

शब्द रसायन में अलंकारों का वर्णन उसी क्रम से नहीं हुआ जिस क्रम से भाव विलास में हुआ था । यहाँ यह अलकार-क्रम कुछ परिवर्तित हो गया है । प्रारम्भ भाव विलास की भाँति ही 'स्वभावोक्ति' एवं उपमा के वर्णन से ही होता है । पर आगे चल कर यह क्रम बदल जाता है ।

यहाँ भी जिस क्रम से अलंकारों का वर्णन हुआ है, वह भी बिना किसी आधार के ही जान पड़ता है । इस विषय में कवि की रुचि ही इसका कारण जान पड़ती है ।

अलंकारों के लक्षण :

भाव विलास की भाँति शब्द रसायन में भी अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में दिए गए हैं, तथा उदाहरण कवित्त या सवैयों में । भेदों के लक्षण प्रायः नहीं दिए गए हैं, पर उदाहरण अवश्य हैं । कहीं कहीं एक ही उदाहरण में एक अलंकार के अनेक भेद गर्भित कर दिए गए । उदाहरणों के अन्त में "इति दीपक" इति अर्थान्तराक्षेप" आदि लिखा हुआ मिलता है ।

सामान्यत: अलंकारों के लक्षण स्पष्ट नहीं हैं, वे उनका पूर्ण रूप व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। कहीं कहीं तो नाम मात्र से ही उनका लक्षण बता दिया गयाहै। चन्द्रालोककार और कुवलयानन्दकार ने जिस प्रकार स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह के लक्षण उनके नामों में कहे थे, उसी प्रकार देव के भी कुछ लक्षण इसी भांति के हैं :

हेतु सहेतु समँ सहज भाव सहोक्ति सुजानि,
सूक्ष्म सूक्ष्म चेष्टा, लेस खुलत छिपि जानि।

इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो उन्होंने स्पष्ट ही नामों में लक्षण बताए हैं। यथा :

(i) अप्रस्तुति अस्तुति कहिए, अलंकार स्तुति और।
(ii) दृष्टान्तालंकार सो लक्षण नाम प्रमाण।
(iii) गूढ़ उक्ति के गूढ़।
(iv) सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय सन्देह।
निश्चय बिनु सन्देह ये, जानि नाम ते लेह।

कहीं कहीं एक ही दोहे में दो दो अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत कर दिए गए हैं। देखिए :

समासोक्ति और पर्यायोक्ति :

समासोक्ति कछु वस्तु लखि, कहिए ता सम और।
पर्यायोक्ति सु चाहि कछु, और कहै कछु और॥

ये उपर्युक्त लक्षण अपने में अपर्याप्त और बिल्कुल अशुद्ध हैं। किसी वस्तु को देख कर उसके समान दूसरी वस्तु का वर्णन करना 'समासोक्ति' नहीं होता। वहाँ तो प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य, लिंग और विशेषणों से प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप होता है[1]। किसी वस्तु को देखकर उसी के समान वस्तु का वर्णन उसमें नहीं होता। यदि ऐसा होता तो मुख को देखकर चन्द्रमा का वर्णन करने में भी 'समासोक्ति' अलंकार हो जायगा।

इसी प्रकार 'पर्यायोक्ति' का लक्षण भी सदोष है। क्योंकि यहाँ एक अन्य प्रकार की विचित्रता के द्वारा वाच्यार्थ का कथन होता है[2], उसमें एक व्यंग्यार्थ रहता है जो साक्षात शब्द द्वारा प्रतीत हो रहा होता है। परन्तु देव के इस कथन में 'कहना कुछ चाहते और कह कुछ दिया" में वह व्यंग्यार्थ व्यंजित नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि यह लक्षण भामह या दण्डी के लक्षण का अपूर्ण अनुवाद है[3]।

१—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिंग विशेषणैः।
व्यवहार समारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्यवस्तुनः॥ १०–५६। साहित्य दर्पण
२—पर्यायोक्तं बिना वाच्यवाचकत्वेन यद्वचः। १०–११५। का० प्र०
३—पर्यायोक्तँ यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। काव्यालंकार ३–८।
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते। २–२९५। काव्यादर्श

देव वास्तव में इन आचार्यों के अभिमत को समझ नहीं सके हैं क्योंकि इन लक्षणों में 'प्रकारान्तर' का स्वरूप स्पष्ट नहीं था। इसी कारण संभवत: देव का यह लक्षण भी अपूर्ण रह गया।

'शब्द रसायन' के ये लक्षण 'भाव विलास' के लक्षणों से भी गए बीते हैं। यद्यपि 'भाव विलास' और 'शब्द रसायन' में मुख्य अलंकार प्राय: एक जैसे हैं, पर अधिकतर उन दोनों के लक्षण एक समान नहीं हैं। देखिए :

निदर्शना :

औरै वस्तु बखानिए, फल सब ताहि समान।
जहाँ दिखाइय और महि, ताहि निदर्शन जान ।। भा० वि०
भिन्न वाक्य विधि अर्थ मिलि, कहै निदर्सन आनि। श० र०

अपन्हुति :

मन को अर्थ छिपाइये, औरै अर्थ प्रकास।
श्लेष वचन काकु स्वरनि, कहत अपन्हुति तास। भा० वि०
निज हित अर्थ छपाइ कै, कहै अपन्हुति आन। श० र०

अलंकारों के उदाहरण :

'शब्द रसायन' के उदाहरण देखने से यह ज्ञात होता है कि वे देव की प्रवृत्ति के अनुसार पुराने ग्रन्थों के दूसरे क्रम से रक्खे हुए उदाहरण नहीं हैं, वरन् उनमें नवीनता है। एक 'रूपक' का उदाहरण अवश्य ही भाव विलास का यहाँ पाया जाता है।

इन उदाहरणों और लक्षणों में अधिकतर सामंजस्य नहीं है। कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही उनका मूल्य हो सकता है; पर लक्षणों की दृष्टि से वे उतने उपयुक्त नहीं हैं, जितना होना चाहिए। दो एक उदाहरण देखिए :

आशीष :

'ह्यां तें उहां अति नीके रहौ, पति नीके रहौ, पतिनी के रहौ किन'

यहां 'यमक' का सौन्दर्य, 'आशीष' के सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक हो गया है।

असंगति :

'देव छिदी छतियां न छिदी उचकी कुचकोर चकोर चखी की।'

यहां भी अनुप्रास और यमक के चमत्कार में असंगति का चमत्कार दब सा गया है।

उदाहरणों में कहीं कहीं दोहा छन्द का भी प्रयोग किया गया है। दृष्टान्त, निदर्शना, परिकर, तद्गुण अलंकारों के उदाहरण दोहों में भी पाए जाते हैं। दोहों पर 'भाषा भूषण' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परिकर और तद्गुण के दो दोहे वहीं से लिए गए जान पड़ते हैं :

है परिकर ग्रासय लिए, जहां विसेसन होय।
ससि वदनी यह नायिका, ताप हरति है जोय ।।
तद्गुन तजि गुन ग्रापनो, संगति को गुन लेय।
बेसर मोती ग्रधर मिलि, पद्मराग छवि देय ।।

परन्तु 'भाषा भूषण' का नामोल्लेख यहां नहीं है। एक स्थल पर ग्रवश्य ही 'तद्गुण' के ग्रन्य उदाहरण में उसके ग्राधार 'चेत चन्द्रिका' का नामोल्लेख हुग्रा है।

देव तथा संस्कृत एवं हिन्दी ग्राचार्य :

यह कहना ग्रति कठिन है कि देव पर सबसे ग्रधिक प्रभाव किसका है। क्योंकि उन्होंने भाषा, प्राकृत ग्रौर संस्कृत के ग्रन्थों को देख कर ग्रौर महाकवियों के पंथ का ग्रनुसरण करते हुए ही ग्रपने काव्यशास्त्रों की रचना की है। ग्रतः उनमें मौलिकता ढूँढने का प्रयास करना व्यर्थ ही है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने ऐसा किया है, पर वस्तुतः उन्हें सफलता नहीं मिल पाई।

यह कहने की ग्रावश्यकता नहीं कि देव पर केशवदास का प्रभाव है, ग्रौर उन्हीं के माध्यम से वे प्राचीन संस्कृत ग्राचार्यों से प्रभावित जान पड़ते हैं। भाव विलास की रचना तक उनका संस्कृत ग्रन्थों का ग्रध्ययन नहीं था, वह उनका एक बाल प्रयास ही था। क्योंकि वह रचना उनकी १६ वर्ष की ग्रायु में ही की गई थी। उस ग्रन्थ की ग्रपरिपक्वता इस बात का पुष्ट प्रमाण है। ग्रतः वहाँ वे निश्चय ही केशव से प्रभावित रहे हैं। परन्तु काव्य रसायन की रचना तक उन्होंने संस्कृत ग्रादि के ग्रन्थों का ग्रध्ययन कर लिया था, इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है[1]। ऐसी दशा में इस ग्रन्थ पर भाषा के ग्रतिरिक्त संस्कृत ग्राचार्यों का प्रभाव होना स्वभाविक ही है। परन्तु किसी एक ग्राचार्य को प्रमुख रूप से ग्रपना ग्राधार उन्होंने नहीं बनाया। उनकी रचना में उनकी समन्वय बुद्धि ग्रधिक दृष्टिगोचर होती है। जो जहाँ उन्हें रुचिकर प्रतीत हुग्रा, उसे वहीं उन्होंने स्वीकार कर लिया। इस कारण सभी सिद्धान्तों को ग्रपनाना उन्हें श्रेयस्कर जान पड़ा। यही कारण है कि कहीं तो वे प्राचीन ग्राचार्यों से प्रभावित है ग्रौर कहीं नव्य ग्राचार्यों से ग्रौर कहीं हिन्दी के ग्राचार्यों से।

भाव विलास के ३९ ग्रलंकारों की संख्या इसी बात की द्योतक है कि उस समय वे केशव से ही प्रभावित थे, उन्हीं का विशेष ग्रध्ययन उन्होंने किया था, ग्रन्य हिन्दी ग्राचार्यों का नहीं। ग्रन्यथा ग्रलंकारों की यह संख्या ग्रवश्य ग्रधिक हुई होती। शब्द रसायन में यह संख्या ग्रधिक हो गई है, जिससे विदित होता है कि उन्होंने नव्य ग्राचार्यों का ग्रध्ययन कर लिया था। इस संख्या वृद्धि में चन्द्रालोककार ग्रौर

१—भाषा प्राकृत संस्कृत, देखि महाकवि पंथ।
देवदत्त कवि रस रच्यो, काव्य रसायन ग्रंथ ।। शब्द रसायन।

अप्पयदीक्षित का ही प्रभाव जान पड़ता है। मुख्यालंकारों में जो भाव विलास के अतिरिक्त नए अलंकार जोड़े गए हैं वे चन्द्रालोक के ही प्रभाव से आए हैं यह पहले कहा जा चुका है। गौण अलंकारों और उनके भेदों में कुवलयानन्द का अनुकरण जान पड़ता है।

उपमा के भेदोपभेदों पर दण्डी का प्रभाव स्पष्ट है, पर यह प्रभाव केशव के माध्यम से ही आया जान पड़ता है। आक्षप और चित्र के प्रसंग भी दण्डी से ही प्रभावित हैं। जैसा बताया जा चुका है, पर्यायोक्ति का लक्षण भामह अथवा उद्भट के प्रभाव की घोषणा करता है। रस की जो चर्चा अनेक स्थलों पर है, और काव्य में जो रस को उन्होंने महत्व दिया है, उससे प्रतीत होता है कि इस विषय में वे विश्वनाथ के सम्प्रदाय से प्रभावित रहे हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि देव संस्कृत आचार्यों में भामह, दण्डी, उद्भट, विश्वनाथ, जयदेव और अप्पयदीक्षित से किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं, परन्तु केशवदास से वे विशेष रूप से अनुप्रेरित रहे। हिन्दी आचार्यों में केशव के बाद भाषा भूषण का प्रभाव उन पर है, यह हम अलंकारों के उदाहरण शीर्षक में दिखा चुके हैं।

मूल्यांकन

देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। परन्तु आचार्यत्व के अनुरूप प्रतिभा उनमें नहीं दिखाई पड़ती। क्योंकि सर्वप्रथम तो उन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त की प्रतिष्ठा नहीं की है, और न किसी प्राचीन सिद्धान्त का नवीन रूप में समर्थन या प्रतिपादन ही किया है। उन्हें तो जहां जो रुचिकर प्रतीत हुआ है, वहीं से उसे अपना लिया है। यद्यपि देव के कुछ भक्त लोगों ने उनकी मौलिक उद्भावनाएं बता कर उन्हें आचार्यत्व के पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है, परन्तु अध्ययनशील व्यक्ति जानते हैं कि उनमें कहाँ नवीनता और मौलिकता है। देव द्वारा वर्णित जिस 'तात्पर्यवृत्ति' और संचारी भाव 'छल' को लेकर उनकी शास्त्रीय उद्भावना की सराहना की गई है, वह संस्कृत काव्य शास्त्र के विद्यार्थी के लिए नवीन वस्तु नहीं है। नैयायिकों की यह 'तात्पर्य वृत्ति' साहित्य मीमांसकों के सामने बहुत पहले आ चुकी थी। काव्य प्रकाश में इसका बहुत कुछ विवेचन दर्शनीय है। संचारी भाव 'छल' के लिए संस्कृत ग्रन्थ 'रसतरगिणी' को नहीं भुलाया जा सकता।

जिस व्यंजना के कारण तद्गर्भित काव्य को उत्तम कोटि की श्रेणी में रखा गया है, उसी व्यंजना को देव अधम बताते हैं :

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्यम लक्षना लीन।
अधम व्यंजना कुटिल रस, उलटी कहत नवीन। शब्द रसायन

इस कथनसे तो यही जान पड़ता है कि देव को शब्दशक्ति का परिपूर्ण ज्ञान तक न था। ऐसी स्थिति में उन्हें आचार्य कहना कहाँ तक उचित है।

दूसरे आचार्यत्व की प्रतिष्ठा के अनुकूल न तो उनके लक्षण ही स्पष्ट हैं और न उदाहरण ही उपयुक्त हैं। कहीं कहीं तो लक्षणों और उदाहरणों में कोई सामञ्जस्य ही नहीं है। भाव विलास में इस प्रकार के दोष को एक बार क्षम्य भी मान लिया जा सकता है, क्योंकि वह बालप्रयास है, परन्तु प्रौढ़ कहलाने वाली उनकी रचना 'शब्द रसायन' में जब यह बात देखने को मिलती है तब उन्हें आचार्य की पदवी से विभूषित करना न्यायोचित नहीं है। इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ में उन्होंने काव्य के विभिन्न अंगों का निरूपण किया है, यद्यपि काव्य-दोषों के विवेचन का अभाव वहाँ भी बना ही रहा।

इतना ही नहीं, देव में वचन-निर्वाह भी पूर्ण रूप से नहीं मिलता। एक ओर वे अनुप्रास और यमक को रस रीति का समर्थक बताते हैं, और दूसरी ओर उन्हीं को उस चित्र काव्य का जिसे वे अर्थहीन और मृतक काव्य कहते हैं मूल भी कहते हैं। इसी प्रकार एक ओर वे काव्य भाषा के पंचांग रस, भाव, नायिका, छन्द और अलंकार की कल्पना करते हैं[1]। (वस्तुतः रस, भाव और नायिका स्वतंत्र अंग नहीं हैं) दूसरी ओर कविता कामिनी के प्रसंग में :

कविता कामिनी सुखद पद, सुबरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक, अद्भुत रूप लखाति। श० र०—नवां प्रकाश

भाव और नायिका दो अंगों को भुला दिया। यहाँ सरस से रस, सुजाति से छन्द और अलंकार ये तीन अंग तो हैं, और सुबरन एक और अधिक आ गया है, पर भाव एवं नायिका ये दो पंचांग वाले अंग नहीं हैं। इस प्रकार पूर्व कथन की इस उपर्युक्त कथन से कोई संगति नहीं बैठती।

सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से भी देव असफल ही रहे। अनुप्रास और यमक के विषय में उन्होंने दो मत निर्धारित किये हैं। एक तो वे उन्हें रस रीति का समर्थक कहते हैं, दूसरे उन्हें चित्र काव्य का मूल कहते हैं। ये दोनों मत उनके परस्पर विरोधी हैं। काव्यांगों के विषय में भी शब्द रसायन में भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं, यह ऊपर हम बता चुके हैं। इस प्रकार देव में सिद्धान्त-प्रतिपादन का भी कोई सफल प्रयास नहीं है। अतः इन सब कमियों एवं असफलताओं को देखते हुए देव को आचार्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता है।

कवित्व की दृष्टि से अवश्य देव के इन ग्रन्थों का मूल्य है। उनके उदाहरण भले ही अलंकार के स्वरूप को स्पष्ट न कर सकें, पर उनमें काव्य गुण अवश्य है।

१—मानुष भाषा मुख्य रस, भाव नायिका छन्द।
अलंकार पंचांग ये, कहत सुनत आनन्द॥ शब्द रसायन। ११वां प्रकाश।

उनका भाव सौन्दर्य, सुन्दर अनुप्रास योजना आदि उल्लेखनीय हैं। भाषा में एक प्रवाह है, यद्यपि कहीं कहीं शब्दव्यय अधिक है और अर्थ स्वल्प है। कहीं कहीं तो ऐसा अर्थ सौष्ठव एवं नवोन्मेष उनकी कविता में पाया जाता है जो बिरले ही कवियों में मिलता है। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि देव बड़े ही प्रगल्भ एवं प्रतिभा सम्पन्न कवि थे, पर आचार्य नहीं। गम्भीरता की कसौटी पर आचार्य रूप में वे खरे नहीं उतरते।

अलंकार माला : सूरति सुकवि

(वि० सं० १७६६ के आसपास)

सूरति सुकवि ने अलंकारों पर 'अलंकारमाला' ग्रन्थ[१] की रचनाकी थी। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति संख्या १४५८।२५७३ साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालय में प्राप्त है। परन्तु यह प्रति खंडित है जिसमें केवल सत्रह पृष्ठ हैं। इसमें न तो रचनाकाल है और न किसी प्रकार का परिचय ही।

ग्रन्थ का प्रारम्भ "श्री गणेशायनमः, अथ अलंकारमाला लिख्यते" के साथ होता है। जुगलकिशोर की वंदना के पश्चात् ही अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम उपमालंकार का लक्षण दिया हुआ है। यहाँ कुल उपमा, अष्ट-विध लुप्तोपमा, मालोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, रसनोपमा, पंचविध प्रतीप, रूपक (भेदों सहित), उल्लेख, स्मृति, भ्रांति, सन्देह, अपन्हुति (६ भेद) उत्प्रेक्षा, अतिश-योक्ति, वीप्सा, संभावना, उत्तर, अनुमान, समासोक्ति, परिसंख्या, तुल्ययोगिता, दीपक, मालादीपक, निदर्शना और व्यतिरेक पच्चीस अलंकारों का वर्णन उनके भेदों सहित मिलता है। इसके पश्चात् पुस्तक के अन्य पृष्ठ न होने से विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह अलंकारों पर लिखा हुआ श्रेष्ठ ग्रन्थ जान पड़ता है। रामचन्द्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास में सूरति मिश्र के जिस ग्रन्थ 'अलंकार माला' का उल्लेख किया है वह इससे भिन्न जान पड़ता है क्योंकि वहाँ 'मालोपमा' का जो उद्धरण दिया गया है वह इससे मेल नहीं खाता :

हिम सो हर के हास सो, जस मालोपमा ठानि। हिं० सा० का इति० शुक्ल
पृष्ठ २७०

मालोपम उपमान बहु इ कहिय वाचक रूप।
हिम सो हरि सो हंस सो हीरा सो जस भूप ॥१२॥ अलं० मा०

१—अलंकार कवितान के सबनि समुझिबै हेत।
रच्यो ग्रन्थ सूरति सु यह लछिन लछ निकेत ॥२॥ अलं० माला

अलंकारों के नाम और भेद जो यहाँ दिए गए हैं, वह प्रायः कुवलयानन्द से समानता रखते हैं, परन्तु 'रूपक' और 'व्यतिरेक' के भेदों में अन्तर है। यहाँ काव्य प्रकाश के अनुकरण पर देश विवर्ति रूपक, माला निरवय (निरवयव), परंपरित, तथा परंपरित के प्रभेद (शुद्ध परंपरित, माला शुद्ध परंपरित, शुद्ध श्लेष परंपरित) आदि भेद रूपक के किए गए हैं। इसी प्रकार 'व्यतिरेक' के भी चौबीस भेद किए गए जान पड़ते हैं क्योंकि इक्कीस भेदों के उदाहरण तो हैं, अन्य भेद भी अवश्य होंगे। पर दुर्भाग्य से इस प्रति के आगे के पृष्ठ अनुपलब्ध हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य अलंकारों के भेद कुवलयानन्द के ही समान हैं। लुप्तोपमा, प्रतीप, उल्लेख, अपन्हुति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा के भेद कुवलयानन्द जैसे ही हैं। 'निदर्शना' के दूसरे भेद का नाम 'मालानिदर्शना' है।

अलंकारों का क्रम चन्द्रालोक, साहित्य दर्पण, अथवा काव्य प्रकाश किसी के भी क्रम से साम्य नहीं रखता, थोड़ा बहुत कुवलयानन्द के क्रम से अवश्य मिलता है। उपमा से लेकर अतिशयोक्ति तक का क्रम तो एक जैसा है। इसके पश्चात् क्रम में व्यक्तिक्रम हो जाता है।

'मालोपमा' और 'रसनोपमा' ये दो अलंकार कुवलयानन्द में नहीं हैं और न काव्य प्रकाश में। ये संभवतः साहित्य दर्पण से ही प्रभावित जान पड़ते हैं। यथा:

मालोपमा : मालोपम उपमान बहु इ कहिय वाचक रूप ।।१२।। अलं० मा०
मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।। १०–२६ ।। सा० द०
रसनोपमा : इक को इक उपमा क्रमहि, रसनोपम तिहि नाम ।।
विधु सौ कंज सु कंज सौ, मंजु वदन इहि वाम ।।१५।। अं० मा०
..................................कथिता रसनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ।।१०–२५ । सा० द०

इस ग्रन्थ की वर्णन शैली बहुत कुछ चन्द्रालोक अथवा भाषा भूषण के ढंग पर है। अधिकतर एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने का प्रयास किया गया है। दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण। स्थल स्थल पर लक्षण और उदाहरण को स्पष्ट करने के लिए गद्य में वार्ता भी दी गई है। जैसे 'अनुक्तास्पदवस्तूत्प्रेक्षा' को स्पष्ट करने के लिए यह वार्ता दी गई है :

लीपति सो तम अंगिनि कौं, बरसत अंजन अकास।
अनुक्तास्पद जानियों कवि कुल बुद्धि प्रकास ।।६१।। अ० मा०

वार्ता : "इहां तम जो है सो कर्ता है, वस्तुन ही स्यामता वैसी है सौ अंगन को लीपत है सो स्यामता वस्तु अनुक्त है सो स्यामता वैसी है मानों अंजन बरसै है नभ।" इसी प्रकार 'निदर्शना' के द्वितीय भेद में भी यह वार्ता दी गई है।

इसके अतिरिक्त स्थल स्थल पर प्रश्न और उत्तर के रूप में शंका समाधान भी किया गया है। यथा :

तृतीय प्रतीप :

प्रश्न : निंद उपमनि प्रतीप ह्यां निंदा किम उपमेय ।

उत्तर : तुछ समान जहं वर कह्यौ, वरहि निंद लषि लेय ।।१६।। अ० मा०

कहीं कहीं अपने कथन को पुष्ट करने के लिए 'ग्रन्थातरे' कह कर अन्य ग्रन्थों से उद्धरण भी दिए गए हैं :

ग्रन्थंतरे रूपक : रूपक रूप करै जहाँ एक सावयत्र जान ।

विपनिर्वयव बखानियै, परंपरित त्रिय मान ।।३०।। अ० मा०

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण के लिए प्रायः दोहा छन्द का ही प्रयोग किया गया है, पर कहीं कहीं कवित्त और सवैया भी पाया जाता है। लक्षण और उदाहरण अधिकांशतः कुवलयानन्द के अनुवाद से जान पड़ते हैं, उनमें कुवलयानन्द की छाया दिखाई पड़ती है। कुछ उदाहरण देखिए :

उपमा : उपमा जहं इक सी प्रभा द्विय पदारथ की होइ ।।३। अ० मा०

उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मी रुल्लसति द्वयोः ।६। कुवल०

उपमेयोपमा : उपमान अरु उपमेयता जहं परस्पर होइ ।।१४।। अलं० मा०

पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता ।।११।। कुवल०

उल्लेख : सो उल्लेख जहं एक कौ बहुविधि कहु बहु लोग ।

तियन मदन लखि मल्लगिरि, कंसादिक मृत जोग ।।४३।। अ० मा०

बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते ।

स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वद्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः ।।२२।। कुवल०

इसी प्रकार उदाहरण भी कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। यथा :

भ्रांति : अलि आवत तिय वदन अलि जान पंकजहि सोय ।।४७।। अ० मा०

अयं प्रमत्त मधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पंकजम् ।।२५।। कुवल०

हेत्वपन्हुति : तीछन इंदु न अर्क निसि उठी सिंधु बड़वाग ।५१।। अ० माला

नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः, सिन्धोरौर्वो यमुत्थितः ।२७। कुवल०

उत्प्रेक्षा : लीपति सौ तम अंगिन कौ, बरखत अंजन अकास ।।६६।। अ० माला

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभः ।।३३।। कुवल०

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो कुवलयानन्द के अनुवाद मात्र हैं। लक्षण और उदाहरणों में अन्विति है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ कुवलयानन्द से पूर्णतया प्रभावित है, यद्यपि अलंकारों

के भेदों तथा मालोपमा और रसनोपमा का वर्णन करने में काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण से भी सहायता ली गई है।

इस ग्रन्थ में कवि ने शंका समाधान, तथा ग्रन्थान्तरों से उद्धरण देकर अपनी आचार्यशक्ति का परिचय दिया है। वास्तव में यदि यह ग्रन्थ पूर्ण रूप में प्राप्त हो जाता तो उसका मूल्यांकन करने में बड़ी सुविधा हो जाती। पर जितना भी उपलब्ध है उससे लेखक की आलोचना शक्ति का अनुमान होता है, और साथ ही ऐसा जान पड़ता है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना आचार्य बन कर ही की थी, कवि बन कर नहीं।

रसिक रसाल : कविवर कुमारमणि शास्त्री

(वि० सं० १७७६)

श्रीवत्सगोत्रीय तैलंग ब्राह्मण पं० कण्ठमणि शास्त्री के पौत्र एवं पं० हीरावल्लभ शास्त्री के सुपुत्र कुमारमणि[१] ने 'रसिक रसाल'[२] की रचना वि० सं० १७७६ में की थी[३]। इस ग्रन्थ का प्रकाशन पो० कण्ठमणि शास्त्री के सम्पादकत्व में श्री द्वारकेश कविमण्डल, कांकरोली द्वारा गंगा फाइन आर्ट प्रेस, लखनऊ से सं० १९९४ में हो चुका है। उसके भूमिका भाग में दिए गए 'ग्रन्थ प्रकाशन' शीर्षक के पदों से ज्ञात होता है कि कुमारमणि सागर जिलान्तर्गत गढ़पहरा ग्राम के निवासी थे और पोतकूर्चि उनका उपनाम था।

ग्रन्थ परिचय : २६९ पृष्ठों का यह मुद्रित ग्रन्थ दस उल्लासों में विभक्त है। यहाँ प्रथम उल्लास में मंगलाचरण के उपरान्त काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, ध्वनि तथा काव्य के भेदों का विवेचन हुआ है। दूसरे उल्लास में चतुर्विध व्यंग्य का, तृतीय में रस, चतुर्थ में भाव व्यंग्य, स्थायी भाव, संचारी भाव, और अनुमान का, पांचवें में नायक नायिका भेद का, छठवें में मध्यम काव्य का, सातवें में शब्दालंकारों एवं चित्रालंकारों का, आठवें में अर्थालंकारों का, नवें में गुणों का और दसवें उल्लास में काव्य दोषों तथा रस-दोषों का निरूपण हुआ है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में विविध काव्यांगों की चर्चा हुई है। इन सब विषयों का निरूपण कवि ने मम्मट के काव्य प्रकाश का विचार करके भाषा में किया है[४]।

१—रसिक रसाल भूमिका पृष्ठ ६८

२—ना० प्र० स० काशी के पुस्तकालय में प्राप्त मुद्रित प्रति संख्या ८१३ कु० १

३—रस सागर रवि तुरग विधु, संवत मधुर वसंत।
विकस्यो रसिक रसाल लखि.हुलसत सुहृद वसंत ॥ २ ॥ ग्रन्थ के अन्त में

४—काव्य प्रकाश विचार कछु, रचि भाषा में हाल।
पण्डित सुकवि कुमारमनि, कीन्हौं रसिक रसाल ॥ १.४ ॥ र० रसा०

इस ग्रन्थ में अलंकारों का वर्णन सातवें और आठवें उल्लास में हुआ है। सर्वप्रथम शब्दालंकारों का विवेचन है। इनमें छेक, वृत्ति, लाट, यमक, पुनरुक्तवदाभास और अनेक बंध चित्रों को लिया गया है। 'अनुप्रास' की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं :

तुल्य आखरनि को जहाँ रस अनुगुन है न्यास।
अनुप्रास कहि द्वै तरह छेक वृत्ति प्रकास ॥ ७-१ ॥ र० रसा०

इससे अनुप्रास विषयक कवि की धारणा का पता चलता है कि अनुप्रास में रस और गुणों का भी न्यास होना चाहिए। देव कवि ने भी अनुप्रास को रसपूर कहा था। 'वृत्यनुप्रास' में यहाँ वैदर्भी, गौडी और पांचाली वृत्तियों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। यहीं पर गद्य में यह भी लिख दिया गया है कि 'इनहीं सों' उपनागरिका, कोमला, परुषा कहते हैं'।

'यमक' के प्रसंग में लक्षण और उदाहरण देने के पश्चात् छह भेदों-आद्यन्त शृंखला, मध्य शृंखला, पंक्ति, युग्म, परिवृत्ति, और अर्द्धावृत्ति–के उदाहरण दिए गए हैं। यहीं गद्य में लिखा है:—"चरन मध्य द्वै, तीन, चार भाग करि यमक रचैं समुच्चय नाम अनेक भेद हैं। दिङ्मात्र यथा।" इस प्रकार यमक के भेद तो अनेक होते हैं पर यहाँ उनका दिङ्मात्र ही वर्णन किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी यही बात यमक के भेदों के विषय में कही थी :

प्रभूततमभेदम्। दिङ्मात्रमुदाह्रियते। ६-८३ की वृत्ति

'पुनरुक्तवदाभास' की गणना यहाँ शब्दालंकार में की गई है जबकि अन्य लोगों ने उसे उभयालंकार माना है। काव्यप्रकाशकार ने भी इसे 'शब्दस्य' कहकर शब्दालंकार माना है, और उभयालंकार भी। पर यहाँ उसको उभयालंकार मानने के विषय में कवि ने कोई कथन नहीं किया।

'बंध-चित्र' के अन्तर्गत ६ प्रकार के चित्रों के उदाहरण दिए गए हैं जिनमें एकाक्षर से लेकर चतुरक्षर तक के उदाहरण हैं। अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि भेदों के लिए 'विदग्धमुखमण्डनादि में जानिए' लिख दिया गया है। उनका निरूपण नहीं किया गया।

खड्ग बंधादि का वर्णन विस्तार भय से यहां नहीं हुआ है :
"खड्ग प्रभृति के आकृतहिं, वर्ण रचित जहं देखि।
तिहि बंधहि के नाम सों, चित्र अलंकृत लेखि ॥ ७-३६ ॥ र० सा०
विस्तार भय तें यहाँ न लिखे।"

अर्थालंकार

शब्दालंकारों के बाद अर्थ चित्र (अर्थालंकारों) का विवेचन किया गया है। इसका प्रारम्भ उपमालंकार से होता है। उपमा के पश्चात् अन्य अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। यहाँ कुवलयानन्द के सभी अर्थालंकारों का निरूपण हुआ है। पर न जाने 'व्याजोक्ति' को क्यों छोड़ दिया गया है। पचंदश अलंकारों में केवल प्रत्यक्षादि आठ अलंकारों की चर्चा तो है, पर रसवदादि सात अलंकारों को छोड़ दिया गया है। संसृष्टि और संकर के भी लक्षण एवं उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त 'मालोपमा' और 'अभूतोपमा' का वर्णन भी यहाँ अधिक किया गया है। ये अलंकार कुवलयानन्द में तो नहीं हैं पर 'मालोपमा' साहित्य दर्पण में है और 'अभूतोपमा' दण्डी के काव्यादर्श में है। सम्भवतः ये दोनों उपमाएं वहीं से ली गई हैं। इनके लक्षण तो नहीं हैं, पर उदाहरण अवश्य दिए गए हैं।

अलंकारों के नाम, भेद और क्रम : ये सभी रसिक रसाल में कुवलयानन्द के ही आधार पर हैं। नामों में थोड़ा व्यक्तिक्रम भी पाया जाता है। कुवलयानन्द के उपमेयोपमा को यहां उपमानोपमा, कारणमाला को हेतुमाला, अर्थापत्ति को काव्यार्थापत्ति की संज्ञा दी गई। परन्तु ये नामकरण नए नहीं हैं क्योंकि पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों में ये नाम मिलते हैं।

अलंकारों के भेदों और अवान्तर भेदों में कहीं कहीं परिवर्धन भी दिखाई पड़ता है। जैसे कुवलयानन्द में रूपक के ६ भेद हैं, पर यहां सात भेद बताए गए हैं। यहां एक 'सावयव रूपक भेद' और अधिक दिया गया है, जो काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण का सांगरूपक है। 'उत्प्रेक्षा' के यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षा' को मिलाकर कुल सात भेद हैं, जब कि कुवलयानन्द में ६ भेद ही हैं। वहाँ वृत्ति में अवश्य इसका उल्लेख है। चन्द्रालोक में इसे 'गूढ़ोत्प्रेक्षा' नाम दिया गया है। पर यहाँ यह कुवलयानन्द की वृत्ति से ही लिया गया है क्योंकि दोनों के नामों में साम्य है। इसी प्रकार यहां 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के आठ और 'विषम' के पांच भेद कहे गए हैं जबकि कुवलयानन्द में क्रमशः पांच (वृत्ति में) और तीन भेद बताए गए हैं। 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के अन्तर्गत सामान्य, विशेष, कारण, कार्य और सादृश्य वाले पांच भेद तो हैं ही, विशेषण-श्लेष, विशेष्य-विशेषण-श्लेष और सादृश्य का आरोप अथवा नहीं ये तीन भेद और हैं जो काव्य प्रकाश से लिए गए जान पड़ते हैं। 'विशेषोक्ति' के भेद कुवलयानन्द में नहीं हैं, पर रसिक रसाल में उनके उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता-इन तीन भेदों का कथन है। ये तीनों भेद काव्य प्रकाश से साम्य रखते हैं। अचिन्त्यनिमित्ता का तो उदाहरण काव्य प्रकाश की छाया में ही लिखा गया है। यथा :

ग्यान समूल करै उन्मूलन, फूल के बान निकाम कसाई।
नैन जराई जरी तन ताकी, हरी न गई हर सौं खलताई।८-१७०।र०रसा०

स एक स्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न बलं हृतम् ।।१०-५७६। का० प्र०

इसके अतिरिक्त रसिक रसाल में 'आवृत्तिदीपक' को पृथक अलंकार न मान कर दीपक के तीन भेदों—शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदावृत्ति—के रूप में ही उसका वर्णन किया गया है। अन्य सभी भेद-प्रभेद कुवलयानन्द से मिलते जुलते हैं।

अलंकारों का क्रम सर्वथा कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर है। उनमें कहीं पर भी किसी प्रकार का व्यक्तिक्रम नहीं पाया जाता। थोड़ा सा व्यक्तिक्रम यह है कि रसिक रसाल में पिहित के पश्चात् 'व्याजोक्ति' आना चाहिए था जैसा कि कुबलयानन्द में है, पर यहाँ 'व्याजोक्ति' का वर्णन ही नहीं है।

अलंकारों के लक्षण : रसिक रसाल में सभी लक्षण दोहा छन्द में लिखे गए हैं। एक एक दोहे में एक एक लक्षण ही दिया गया है, पर कहीं कहीं एक ही दोहे में दो दो अलंकारों तक के भी लक्षण प्रस्तुत किए गए हैं। (देखो-सहोक्ति और विनोक्ति, परिकर और परिकरांकुर तथा उन्मीलित और विशेष)। कुवलयानन्द में भी 'उन्मीलित' और 'विशेष' के लक्षण एक साथ ही दिए गए हैं। रसिक रसाल के प्रायः सभी लक्षण सरल और स्पष्ट हैं। साथ ही उनमें कसावट भी है। कसावट आने का कारण है कवि का संस्कृत सम्बन्धी पांडित्यपूर्ण ज्ञान। कहीं कहीं एक एक पंक्ति में ही संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित और प्रहर्षण जैसे अलंकारों के लक्षण आ गए हैं जबकि अन्य सभी अलंकारों के लक्षण दोहे की दोनों पक्तियों में ही व्यक्त हुए हैं।

रसिक रसाल के लक्षण कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं। पर कहीं पर तो वे अनुवाद मात्र ही हैं। यथा :

लुप्तोपमा : छन छवि गोरी, भोरी विधु सो वदन तन,
सोहति मदन तिय, कांति अभिराम है,
दृगनि कपूर भई, निरखति मोहि गई........८-६।। र० रसा०
तडिद्गौरीन्दु तुल्यास्या कर्पूरन्ती दृशोर्मम।
कान्त्या स्मरवधूयन्ती दृष्टा तन्वी रहो मया
यत्तया मेलनं तत्र लाभो मे यश्च तद्रतेः........।।८।। कुवल०

उपमेयोपमा : पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता ।११। कुवल०
है उपमेय परस्परहिं, सोई है उपमान ।।८—११।। र० रसा०

रसिक रसाल के लक्षण प्रभावित होते हुए भी कहीं कहीं तो आधार-ग्रन्थ से भी अधिक स्पष्ट और सरल हैं यथा :

तुल्ययोगिता :

एक क्रिया गुन धर्म जहं वर्न्य अवर्न्यहिं होइ ।
तुल्ययोगिता नाम को, अर्थचित्र है सोइ ॥८–८२॥ र० रसा०
वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ॥४४॥ कुवल०

प्रतिवस्तूपमा :

कह्यो भिन्न पद धर्म जहं वाक्य दुहुंनि में एक
जानों प्रतिवस्तूपमा...........................॥८–९६॥ र० रसा०
वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।५१। कुवल०

'प्रतिवस्तूपमा' में दो वाक्यों में जिन भिन्न पदों द्वारा एक ही धर्म की व्यंजना होती है, उन भिन्न पदों का कथन संस्कृत लक्षण में न होने से अस्पष्टता सी है, पर हिन्दी वाले लक्षण में यह अस्पष्टता देखने को नहीं मिलती । वहाँ तो भिन्न पदों का कथन करके उसे अधिक स्पष्ट और सरल बना दिया गया है । ऐसे ही अनेक लक्षण देखे जा सकते हैं जहाँ कुवलयानन्द की अपेक्षा अधिक कसावट, स्पष्टता और सरलता मिलेगी । कुमारमणि ने लक्षणों का कोरा अनुवाद नहीं किया वरन् अपनी सूझ बूझ से भी काम लिया है ।

उदाहरण : 'रसिक' रसाल के उदाहरण दोहा, सवैया या कवित्त छन्दों में रचे गए हैं । एक ही लक्षण के बाद उसका उदाहरण रक्खा गया है, जिससे लक्षण और उदाहरण की संगति में कोई बाधा नहीं आने पाई । जहाँ एक साथ दो अलंकारों के लक्षण आ गए हैं, वहाँ उनके उदाहरण अलंकारों के नामोल्लेख सहित दे दिए गए । इस कारण कोई गड़बड़ी नहीं हो पाई । कहीं कहीं एक ही अलंकार के दो दो तक उदाहरण दिए गए हैं । जहाँ उदाहरण के लिए कवित्त या सवैया छन्द लिया गया है वहाँ उसका प्रत्येक चरण अलंकार के स्वरूप को व्यक्त करने में समर्थ है । कोई भी चरण व्यर्थ का नहीं जान पड़ता जैसा कि मतिराम के उदाहरणों में पाया जाता है । दो उदाहरण देखिए :

हेत्वपन्हुति : चंपकबेली अकास न ऊगै, न द्यौस में दीप प्रकासहिं मेलै ।
दामिनि दीपति नाहिं कुमार, लहै घन संग जु अंग उघेलै ।
सूर प्रकाश में चाँदनी नाहिं, हिये यह काम की ताप उबेलै ।
संग सहेली सों कंदुक केली सों सौध के आंगन अंगना खेलै ।
८–४८ ॥ र० रसा०

उल्लेख :

ज्ञानिनि परम धाम, सेवकनि कामतरू,
कामिनिनि जानै कामदेव घन जेवही ।
नागर नरनि जानै तिहूँ लोक रूप भूप,
देवतनि जान देव देव भजि सेव ही ।

कहत कुमार गजराज जानै मृगराज,
मध्यनि प्रमानै गाज त्याज अहमेव ही।
आवत खुसाल रंगभूमै नंदलाल लखि,
कंस जानै काल, बाल जानै बसुदेव ही। ८-३६। र० रसा०

ये उदाहरण कवि के अपने स्वतंत्र हैं, पर कहीं-कहीं उन पर संस्कृत-ग्रन्थों की छाया भी दिखाई पड़ती है। यथा :

उपमेयोपमा : तारे तुल तारे कुमुद, तारे कुमुद संकास।
सरवर लसत अकास सो, सरवर सम आकास ॥ ८-१२ ॥
र० रस०

खमिव जलं जलमिव खं
हंस इव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।
कुमुदाकारास्तारा स्ताराकाराणि कुमुदानि ॥ ११ वृत्ति ॥ कुवल०

न्यूनभाव तद्रूप रूपक :

एक सरूप सनातन हो गुरु ज्ञान सनातन न्यान बखाने।
तीसरे नैन बिना हर देव हो, सेवक मोषविधायक माने।
द्वैभुज केसव के अवतार, कुमार कहैं गुरू हो पहिचाने।
एक ही आनन चारहुं वेद के गायक हौ कमलासन जाने ॥८-२६॥
र० स०

अचतुर्वदनो ब्रह्मा द्विबाहुरपरो हरिः।
अभाल लोचनः शंभुर्भगवान्बादरायणः ॥ २० वृत्ति ॥ कुवल०

ये उपर्युक्त उदाहरण कुवलयानन्द की वृत्ति में दिए गए संस्कृत श्लोकों के अनुवाद मात्र ही हैं। इसी प्रकार और भी उदाहरण दृष्टव्य हैं।

रसिक रसाल के उदाहरण अधिकांशतः श्रृंगार रस से सम्बन्ध रखते हैं, परन्तु कहीं-कहीं वीर रस से भी उनका सम्बन्ध है। (देखिए वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण)। कहीं-कहीं उनमें तत्कालीन प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। कतिपय स्थलों पर तो मर्यादा का भी अतिक्रमण हो गया है। स्मृति और भ्रान्ति के उदाहरणों में कुछ ऐसी ही अशिष्टता के दर्शन होते हैं। परन्तु ऐसे स्थल अंगुलियों पर गिनने योग्य हैं। अन्यथा सभी उदाहरण स्वस्थ, शिष्ट और काव्य गुणों से परिपूर्ण हैं।

कुमारमणि और मम्मट, कुवलयानन्द तथा अन्य संस्कृत आचार्य :

कुमारमणि का 'रसिक रसाल' ग्रन्थ निश्चय ही मम्मट के काव्य प्रकाश से प्रभावित है। कुमारमणि ने स्वयं अपने शब्दों में इसका उल्लेख इस प्रकार कर दिया है :

काव्य प्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल ।
पण्डित सुकवि कुमारमनि, कीन्हौं रसिक रसाल ।। १-४ ।। र० रसा०

इससे तो ऐसा जान पड़ता है कि रसिक रसाल काव्य प्रकाश का प्राय: अनुवाद है। देखिए :

प्रथम उल्लास में दिए गए लक्षण और उदाहरण काव्य प्रकाश के अनुवाद से ही जान पड़ते हैं :

काव्य प्रयोजन : अर्थ धर्म जस कामना, लहियतु मिटत विषाद ।
सहृदय पावत कवित में, ब्रह्मानन्द सवाद । १—५ । र० रसा०
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।१—२।। का० प्र०

काव्योत्पत्ति को हेतु :
शक्ति शास्त्र लौकिक सकल परवीनता समेंत ।
कवि शिक्षा अभ्यास मनि, कवित उपज को हेत ।।१—७।।
रसिक र०
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे । १—३ । काव्य प्रकाश

काव्य लक्षण : उपजत अद्भुत काव्य जो, शब्द अर्थ रमनीय ।
सोई कहियतु कवित है, सुकवि कर्म कमनीय ।। १—८ ।।
रसिक र०

यहाँ साहित्य दर्पण के रसात्मक वाक्य को और रसगंगाधर के रमणीय अर्थ को लेकर यह काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।

इसी प्रकार काव्य के भेदों में भी काव्य प्रकाश का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रसिक रसाल में दूसरे और तीसरे उल्लास में शब्दार्थ-निरूपण और अर्थ-व्यंजकता का जो निर्णय किया गया है वह काव्य-प्रकाश में भी दूसरे और तीसरे ही उल्लासों में किया गया है। इनका समस्त वर्णन काव्य प्रकाश पर ही आधारित है। चौथे, पांचवें और छठे उल्लासों का वर्णन काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण की सहायता से किया गया है। रस, भावानुभाव, आलंबन और उद्दीपन आदि के लक्षण और उदाहरण साहित्य दर्पण के अनुवाद ही हैं। रसिक रसाल में गुणीभूत व्यंग्य के जो आठ भेद मिलते हैं वे काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण के भेदों से पूर्णतया साम्य रखते हैं।

शब्दालंकारों का वर्णन जो सातवें उल्लास में मिलता है, वह काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण से ही प्रभावित है। क्योंकि कुवलयानन्द में तो इनका वर्णन ही

नहीं है। काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण में इनकी चर्चा की गई है। वहाँ गौड़ी, वैदर्भी और पांचाली आदि का जो विचार किया गया है वह इन्हीं दो ग्रन्थों के आधार पर है।

आठवें उल्लास में अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है। यह वर्णन अधिकतर कुवलयानन्द के आधार पर ही है, यद्यपि स्थल-स्थल पर काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण से भी सहायता ली गई है। अलंकारों की संख्या, नाम, भेद और क्रम सब कुवलयानन्द के ही अनुसार हैं। लक्षण और कहीं-कहीं उदाहरण भी उसी से प्रभावित हैं। उदाहरण एक बार कवि के अपने कहे जा सकते हैं, पर लक्षण नहीं। वे तो कुवलयानन्द से ही अनूदित किए गए हैं अथवा उसकी छाया उनमें विद्यमान है। यहाँ पुनः कतिपय उदाहरण देकर हम अपने कथन की पुष्टि करते हैं :

हेतुमाला : पूर्व पूर्व जहं हेतु है, उत्तर उत्तर काज।
कहौ हेतुमाला कि तहं, पूरब पूरब काज ॥ ८-२१२ ॥ र० रस०
गुम्फः कारणमाला स्यात् यथा प्राक् प्रान्तकारणैः। १०४। कुवल०

रसिक रसाल का लक्षण कुवलयानन्द से अधिक स्पष्ट है।

सार : उत्तर उत्तर उत्कर्ष, सार अलंकृति मानि। ८-२१६। रसिक र०
उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते ॥ १०८ ॥ कुवल०

आधार-ग्रन्थ के शब्द ज्यों के त्यों हिन्दी-लक्षण में उद्धृत हैं।

विकल्प : जहां तुल्य बल बरनिये, दोई बात विरुद्ध ॥ ८-२३३ ॥ र० रस०
विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालंकृतिर्मता ॥ १४४ ॥ कुवल०

प्रत्यनीक : प्रबल शत्रु के पच्छ में जहाँ पराक्रम लेखि ॥ ८-२४४ ॥ र० रसा०
प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ॥ ११६ ॥ कुवल०

काव्यलिंगः अर्थ समर्थन जोग्य जो, कहि समर्थिये हेत ॥ ८-२४६। र० रसा०
समर्थनीयस्यार्थस्य, काव्यलिंगं समर्थनम् ॥ १२१ ॥ कुवल०

इसी प्रकार अन्य अनेक लक्षण भी कुवलयानन्द के ही आधार पर लिखे गए हैं। कतिपय उदाहरणों में भी उसी की छाया विद्यमान है। यह हम पहले ही दिखा चुके हैं। इस प्रकार अर्थालंकार का यह सम्पूर्ण वर्णन कुवलयानन्द के आधार पर ही हुआ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

अन्त में संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अर्थालंकारों से भिन्न काव्यांगों के वर्णन में कुमारमणि ने काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण को अपना आधार बनाया है, और अर्थालंकारों के वर्णन में वे कुवलयानन्द से विशेष प्रभावित हैं, यद्यपि कहीं कहीं काव्य प्रकाश से भी थोड़ी बहुत सहायता ली गई है।

मूल्यांकन :

'रसिक रसाल' काव्य के प्रायः सभी अंगों का विवेचन प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। उसमें कुमारमणि ने काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण और कुवलयानन्द की शैली को अपनाया है। यहाँ पहले लक्षण और फिर उदाहरण देने की शैली का अनुसरण किया गया है, पर जहाँ विषय को स्पष्ट करने की आवश्यकता आ पड़ी, वहाँ गद्यवार्तिक में उसे स्पष्ट करने का प्रयास भी किया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ एक प्रकार से काव्य प्रकाश का अनुवाद है तथापि उससे उसका महत्व कम नही हो जाता। सोमनाथ आदि अन्य कवियों ने भी तो काव्य प्रकाश का अनुवाद किया है, फिर भी उनकी गणना हिन्दी के श्रेष्ठ आचार्यों में की जाती है। अतः रसिक रसाल को भी वही स्थान मिलना चाहिए जो 'रस रहस्य' और 'रसपीयूषनिधि' का है। वास्तव में यह दशांग काव्य पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थों की संख्या हिन्दी में बहुत कम है। अतः 'रसिक-रसाल' की गणना 'कविकुल कल्पतरु', 'काव्य सरोज' और 'काव्य निर्णय' आदि ग्रन्थों के साथ की जा सकती है।

काव्य सरोज : श्रीपति

(वि० सं० १७७७)

कालपी नगर निवासी द्विजमणि श्रीपति राय ने वि० सं० १७७७ में श्रावण कृष्णा पंचमी बुधवार को 'काव्य-सरोज' नामक काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी[1]। यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी भाषा का एक बहुत ही महत्वपूर्ण रीतिग्रन्थ है। इसमें लगभग १४ अध्याय हैं जिन्हें दल की संज्ञा दी गई है। इन दलों में काव्यस्वरूप, हेतु, भेद, शब्द, अर्थ, दोष, गुण, अलंकार, (शब्द, अर्थ, उभय) रस आदि काव्य के विविध अंगों का विवेचन किया गया है।

प्रथम दल में जो काव्यलक्षण, हेतु, काव्य के भेद आदि का वर्णन है उसका आधार प्रायः काव्यप्रकाश है, इसी प्रकार तृतीय दल में वर्णित वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ और लक्षणा तथा व्यंजना के भेदों का विवरण भी मुख्यतया 'काव्यप्रकाश'

१—अलि सम स्वाद महान को जासों सुख सरसाइ।
रचत काव्यसरोज सो सीपति पंडितराइ॥ १-३। का० स०
संवत मुनि मुनि मुनि ससी सावन सुभ बुधवार।
असित पंचमी को लियो ललित ग्रन्थ अवतार॥ १-४। का० स०
सुकवि कालपी नगर को द्विजमनि शीपतिराइ।
जस सम स्वाद जहान को बरनत सुख समुदाइ॥ १-५॥ का० स०

पर ही आधारित है। चतुर्थ से सातवें दल तक शब्द दोष और अर्थदोष का विवेचन किया गया है। दोषों का यह वर्णन काव्यसरोज में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों—काशीराम, सुन्दर, सेनापति, मतिराम और केशव आदि–की कविताओं के उद्धरण देकर दोषों को उदाहृत किया गया है। अष्टम दल में दस गुणों और नवम दल में अर्थ गुणों पर विचार किया गया है। दसवें दल से अलंकार प्रारम्भ होते हैं। और बारहवें दल में समाप्त होते हैं। पहले शब्दालंकारों का और फिर अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों की विवेचना की गई है। फिर तेरहवें और चौदहवें दलों में भाव, विभाव और रसों का निरूपण किया गया है।

अलंकार वर्णन का प्रारम्भ अलंकार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए होता है। यथा:—

जदपि दोष बिन गुन सहित सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिन लसे कविता वनिता रूप ॥ १०-१ । का० स०

इससे ज्ञात होता है कि श्रीपति के अनुसार अलंकार काव्य के लिए आवश्यक हैं। क्योंकि सब प्रकार से निर्दोष और पूर्ण एवं अनुपम होते हुए भी शरीर जिस प्रकार आभूषण के बिना शोभित नहीं होता, उसी प्रकार कविता भी दोष रहित और गुण सहित होने पर भी अलंकारों के अभाव में शोभा नहीं पा सकती। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीपति जी कविता में अलंकारों के पक्षपाती हैं और काव्यप्रकाशकार के 'अनलंकृती पुनः क्वापि' वाले कथन के समर्थक नहीं हैं। इसी कारण काव्य का लक्षण[1] निर्धारित करते समय उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण की 'तददोषौ शब्दार्थौ और सगुणो' वाली बातों को तो ग्रहण कर लिया पर 'अनलंकृती पुनः क्वापि' वाली बात को स्वीकार नहीं किया। आगे चलकर त्रयोदशदल के प्रारम्भ में वे रस को अधिक महत्व देते हैं, पर अलंकार की आवश्यकता को कम नहीं करते। यथाहि–

यदपि दोष बिन गुन सहित अलंकार सो लीन।
कविता वनिता छवि नहीं रस बिन तदपि प्रवीन ॥१३-१। का० स०

इस प्रकार काव्य में रस को महत्ता देते हुए भी वे अलंकार को कविता के लिए आवश्यक बताते हैं। केशव की भांति वे केवल अलंकारों पर ही जोर नहीं डालते, वरन् रस को भी वे उससे अधिक ही महत्व देते हैं। इसी से हम श्रीपति की अलंकारविषयक धारणा का अनुमान कर सकते हैं। उनके अनुसार रस तो कविता के लिए अनिवार्य है ही, पर अलंकार भी आवश्यक हैं, क्योंकि उनके ग्रन्थ

१—शब्द अर्थ बिन दोष गुन अलंकार रसवान।
तासो काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान ॥ १-६ ॥ का० स०

में कहीं पर भी यह बात लक्षित नहीं होती कि रसमय कविता, अलंकारों के अभाव में भी कविता हो सकती है, वरन् यह अवश्य कहते हैं कि 'तदपि न भूषन बिन लसै कविता वनिता रूप'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि श्रीपति जी के मत में रसमय कविता की शोभा बढ़ाने के लिए अलंकार अवश्य होना चाहिए।

अलंकार का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है :—

चमत्कार जासों बढ़े अलंकार सो जान।
तीनि भांति के होत सो बरनत सुमति निधान। का० स०

जिन अलंकारों से कविता में चमत्कार की वृद्धि होती है वे तीन प्रकार के होते हैं[1]। १—शब्दालंकार २—अर्थालंकार ३—उभयालंकार।

शब्दालंकारों में श्रीपति ने चित्र, यमक, अनुप्रास और वक्रोक्ति इन चार अलंकारों को ही लिया है। सर्वप्रथम चित्रालंकार का वर्णन किया है। पहले उसके दो भेद वर्णचित्र और विधान चित्र किए गए हैं, फिर उनके भेदोपभेद बताए गए हैं। वर्णचित्र के एकाक्षर, जुग्माक्षर, लघुअक्षर, दीर्घाक्षर और निरोष्ठ भेद कहे गये हैं। विधान के भी एक से लेकर आठ विधान वाले अनेक प्रभेद बताए गए हैं। इनमें 'तत्पर विधान' और 'अतत्परविधान' नामक चित्रालंकार कवि की नई सूझ जान पड़ते हैं, पर उनके लक्षण स्पष्ट नहीं हैं। फिर चित्रबंध में कमलबंध के अनेक उदाहरण हैं।

इसके पश्चात् यमक का वर्णन आता है। यह ८८ प्रकार का होता है। इसका वर्णन उन्होंने अपने 'कविकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है, पर यहाँ 'काव्यसरोज' में कुल आठ प्रकार के यमक का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है[2]।

अनुप्रास में केवल छेक और लाट की चर्चा उनके भेदों सहित की गई है। अनुप्रास का लक्षण नहीं दिया गया, उदाहरण अवश्य है 'छेक' में केवल 'समस्तछेक' का ही लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'लाटानुप्रास' श्रीपति के अनुसार वहाँ होता है जहाँ तुक से तुक मिलती हैं :—

तुक सो तुक जहं जोरिए लाट कहत सब कोई।
खंड लाट पद लाट कहि, एक लाट पुनि होई ॥१०-५७। का० स०

१—एक शब्दालंकार है पुनि अर्थालंकार।
फिरि उभयालंकार है बरनत सुमति उदार ॥ १०-३। का० स०

२—जमक अठासी भांति की बरनत सुमति उदार ॥ १०-३६। वही
कविकल्पद्रुम में कहो याके अति विस्तार।
यामें अति संछेप ते बरनो आठ प्रकार ॥ १०-३७। वही

परन्तु यह लक्षण वास्तव में अन्त्यानुप्रास का है, लाट का नहीं। लाट में तो शब्दों की आवृति होने पर भी अर्थ एक से होते हैं, तात्पर्यमात्र से उनमें भेद हो जाता है[1]। लाट के यहाँ जो तीन भेद बताए गए हैं उनमें से 'एक लाट' के भी समस्त और असमस्त दो भेद किए गए हैं।

'वक्रोक्ति' के श्रीपति ने गूढ़ और अगूढ़ नाम से दो भेद किए हैं। जहाँ कठिनता से अर्थ प्राप्ति होती है वहाँ गूढ़ और जहाँ सुगमता से अर्थ समझ में आ जाता है वहाँ अगूढ़ वक्रोक्ति होती है। ये दोनों भेद वस्तुत: क्रम से श्लेष और काकु वक्रोक्ति ही समझना चाहिए।

इन शब्दालंकारों में यमक, श्लेष और चित्र को कवि ने अधम काव्य बताया है[2]। इसी कारण कवि ने इनमें कोई युक्ति नहीं की। यदि कवि को ग्रन्थ-विस्तार का भय न होता तो और भी अन्य शब्दालंकारों का वर्णन वह विस्तार के साथ करता। ग्रन्थ-विस्तार का भय ही उनके संक्षिप्त वर्णन करने का मुख्य कारण है[3]।

इसके पश्चात् ग्यारहवें दल में अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है। यह वर्णन भी शब्दालंकारों की ही भांति संक्षिप्त है। इन अलंकारों की पहले एक सूची सी दे दी गई है जो निम्नलिखित है :—

उपमा रूपक जाति कहि संसय श्लेष बखानि।
उल्लेख भ्रांति व्यतिरेक कहि दृष्टान्त अपन्हुति मानि।११-३।का० स०
तुल्ययोगिता जानिए, परिसंख्या पहिचानि।
दीपति अतिसै हेत कहि, औ उत्प्रेक्षा जानि।।११-४। का० स०
कहि आछेप विभावना, प्रेम समाहित मानि।
अरु अर्थान्तिरन्यास गुनि परवृत विषम बखानि।। ११-५। का० स०
बहुरि विरोधाभास कहि सार समुच्चै जानि।
येकावलि व्याघात कहि और अनोक्ति प्रमान।। ११-६। का० स०

इस प्रकार यहां कुल २६ अलंकारों का वर्णन किया गया है। सर्व प्रथम यहां उपमालंकार का निरूपण हुआ है। इसके वे चालीस भेद बताते हैं जिनका विवेचन उन्होंने 'कविकल्पद्रुम' में किया है। यहां पर केवल १६ उपमाओं के ही लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। यथाहि :—

१—शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत:।। ६-८१। काव्यप्रकाश

२—चित्रजमक श्लेष ये अधम काव्य हैं तीनि।
तासो श्रीपति रायकवि यामें युक्ति न कीनि।। १०-३४। का० स०

३—कहो परम संछेप ते या शब्दालंकार।
ग्रंथ बढ़न के त्रास ते कियो न बहुत प्रकार।। १०-७४। का० स०

मालोपम रसनोपमा लुप्तोपम पुनि मान।
पूरन बहुरि प्रकास करि और अनन्वै जान ।। ११-९ ।। का० स०
उपमेयोपम जानिये पुनि प्रतीप गनि और ।
वाक्या अर्थ श्लेष कहि निंदानियम सुठौर ।। ११-१० ।। का० स०
निश्चय संसयसोपमा पुनि अभूत अनुमान ।
ये सोरह उपमा कहीं श्रीपति राय सुजान ।। ११-११ ।। का० स०

अर्थात् मालोपमा, रसनोपमा, लुप्तोपमा, पूर्णोपमा, प्रकाशोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा, प्रतीपोपमा, वाक्यार्थोपमा, श्लेषोपमा, निन्दोपमा, नियमोपमा, निश्चयोपमा, संशयोपमा, अभूतोपमा और सोपमा—इन सोलह उपमाओं के लक्षण और उदाहरण यहाँ 'काव्यसरोज' में प्रस्तुत किए गए हैं ।

आगे चलकर बारहवें दल में उभयालंकारों का निरूपण हुआ है। उभयालंकार से तात्पर्य यहाँ शब्दार्थालंकार से न होकर 'संकर' अलंकार से है । उसका लक्षण कवि ने इस प्रकार किया है :—

अलंकार जहं एक नहिं सो उभयालंकार ।
औरौ शंकर कहत है तामें विविध विचार ।। १२-१ ।। का० स०

इस 'संकर' के सजाति और विजाति नामक दो भेद हैं। उनके भी अनेक प्रभेद हैं :—

ता शंकर को भांति द्वै कोविद करत विवेक ।
एक सजाति विजाति पुनि तामें भेद अनेक ।। १२-२ ।। का० स०

इन अर्थालंकारों और उभयालंकारों का वर्णन भी कवि के अनुसार संक्षिप्त ही है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उनका भी विस्तृत वर्णन यहां नहीं किया गया है।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण:—अलंकारों के लक्षण प्राय: अस्पष्ट और शिथिल हैं। समझ नहीं पड़ता कि ऐसा विद्वान आचार्य लक्षणों में स्पष्टता क्यों नहीं ला सका ? कुछ उदाहरणों द्वारा हम अपने उक्त कथन को प्रमाणित करेंगे :—

दृष्टान्त: — जेहि बुधि बल ते युक्ति रचि है ताको दरसाइ ।
दृष्टान्तालंकार सो वरनत कवि मतिराइ ।।११-१०३।। का० स०

वस्तुत: इस अलंकार में उपमेय और उपमान वाक्यों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होना आवश्यक होता है और उसी का कथन यहां नहीं है, तब उसे निर्दोष लक्षण कैसे कहा जा सकता है ।

परिसंख्या :— जहँ साधारन वस्तु कछु रचत एक थल माह ।
परिसंख्या तासो कहै.............................. ।। ११-१०७ ।। का०स०

यह लक्षण बिल्कुल सदोष है, क्योंकि इस अलंकार में किसी वस्तु को एक में निषिद्ध करके अन्य में नियंत्रित किया जाता है, अथवा किसी वस्तु का अपने समान

अन्य वस्तु में व्यवच्छद या निषेध बताया जाता है।[1] परन्तु उक्त लक्षण में निषेध या व्यवच्छेद का कोई उल्लेख नहीं है, अतः उसे हम निर्दोष लक्षण नहीं कह सकते।

उत्प्रेक्षा : जामें तरक प्रधान है उत्प्रेक्षा सो मान।। ११-११६।। का० स०

यह लक्षण भी सम्भावना के अभाव में सुष्ठु लक्षण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, सार, व्याघात आदि के लक्षण भी बड़े अस्पष्ट हैं।

उदाहरण कवित्त, सवैया, सोरठा, तोमर, छप्पय आदि अनेक छन्दों में लिखे गए हैं। लक्षण केवल दोहा छन्द में ही हैं। एक अलंकार के लिए एकाधिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

अलंकारों में उपमा तथा आक्षेप के भेद-प्रभेद इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने दण्डी के 'काव्यादर्श' को देखा था, अथवा केशव की कविप्रिया को उन्होंने उस विषय में अपना आधार बनाया था। रूपक के भेदों में काव्यप्रकाश का आधार जान पड़ता है। समस्त, असमस्त, श्लिष्ट और अश्लिष्ट आदि भेद काव्यप्रकाश के भेदों के ही समान हैं।

अलंकारों का जो क्रम यहां अपनाया गया है वह न तो काव्यप्रकाश के और न साहित्यदर्पण या चन्द्रालोक के क्रम से ही मिलता है।
संभवत : देव कवि का अनुसरण यहाँ किया गया है।

अलंकारों के लक्षण इतने अस्पष्ट और शिथिल हैं कि उन्हें किसी संस्कृत-ग्रंथ पर आधारित कहना कठिन है। सम्भवतः वे कवि के अपने निजी हों और इसी कारण उनमें ऐसी अस्पष्टता आ गई है। अतः यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि अलंकार-वर्णन में कवि ने किसी संस्कृत-आचार्य को अपना आधार बनाया। परन्तु अन्य काव्यांगों के विवेचन की दृष्टि से यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि श्रीपति जी पर काव्यप्रकाशकार मम्मट का प्रभाव विशेष है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ, भरतमुनि और दण्डी से भी उन्होंने पर्याप्त सहायता ली है।

मूल्यांकन :—श्रीपति की गणना काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों में की जाती है। वैसे तो उन्होंने कविकल्पद्रुम, रससागर, अलंकार गंगा आदि अनेक रीति-ग्रन्थ लिखे हैं, पर इन सबमें उनका 'काव्यसरोज' सबसे अधिक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसमें उन्होंने दोषों का जो विस्तृत विवेचन किया है उससे उनकी स्वतंत्रवृत्ति का पता लगता है।

१—(i) किंचित्पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ।।१०-११२।। काव्यप्रकाश

(ii) परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन्वस्तुयन्त्रणम् ।। ११३ ।। कुवल०

उसमें उदाहरण के लिए उन्होंने केशव, सेनापति आदि अनेक कवियों के पद ढूँढ ढूँढ कर प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि अलंकार-विवेचन की दृष्टि से इस ग्रन्थ को विशेष महत्व नहीं दिया जाना चाहिए, पर अन्य काव्यांगों के वर्णन को ध्यान में रखकर कहना पड़ता है कि वह एक बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलंकार विवेचन में उसके निर्दोष न होने पर भी हमें कई नवीन बातें मिलती हैं यथा :—चित्रालंकार के तत्पर-विधान और अतत्परविधान नामक दो नए भेद तथा वक्रोक्ति के गूढ़ और अगूढ़ भेद। साथ ही अलंकार वर्णन का जो ढंग है, तथा उनका जो वर्गीकरण उन्होंने किया है उसमें उनके आचार्यत्व की झलक अवश्य मिलती है।

'काव्यसरोज' में जो अन्य विषयों का विवेचन है वह इतना स्पष्ट, सुन्दर, एवं महत्वपूर्ण है कि भिखारीदास ने भी अपने काव्यनिर्णय में 'काव्यसरोज' की बहुत सी बातें अपना ली हैं। इसी से हम उस ग्रन्थ के महत्व का अनुमान लगा सकते हैं। अन्त में हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि आचार्यत्व और कवित्व दोनों दृष्टियों से यह एक अमूल्य रत्न है और काव्य के दशांगों का पूर्ण विवेचन होने से 'हिन्दी-काव्य-शास्त्र' के इतिहास में उसका नाम सदैव अमर रहेगा।

अलंकार चन्द्रोदय : रसिक सुमति

(वि० सं० १७८६)

'अलंकार चन्द्रोदय' नामक[1] अलंकार-ग्रन्थ की रचना रसिक सुमति ने वि० सं० १७८५ या १७८६ में की थी[2]। ग्रन्थ के अन्त में दिए हुए कवि-वंश-वर्णन से ज्ञात होता है कि वे कश्यप वंशीय हरिदत्त के पौत्र और कवि ईश्वरदास के सुपुत्र थे तथा आगरा में मथुरिया टोला के निवासी थे[3]।

इस ग्रन्थ में कुल २६ पृष्ठ और १८७ पद हैं। सम्पूर्ण पुस्तक दोहा छन्द में लिखी गई है। १८० दोहों में अर्थालंकारों तथा छेक, वृत्ति और लाटानुप्रास इन

१—ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से प्राप्त हस्तलिखित प्रति संख्या $\frac{६६}{१६}$

२—(i) सरबसु ऋषि शशि लिखि लषो, संवत् सावन मास।
पुष्य भौम तेरसि असित कियौ ग्रन्थ परकास ॥ ५ ॥ अ० चं०

(ii) लिषि लषहु रस वसु रिषि रु शशि संवत् (१७८६ हि) सावन मास
कुज पुष्य तेरसि असित कों यह कियो ग्रन्थ प्रकास ॥१८७॥ अ० चं०

३—वश कस्यप कै भयो गोदावरी गुन वृद्ध।
तासु सुत हरिदत्त अति गुनवंत बुद्धि समृद्ध ॥
ता विप्र कैं कुल कमल रवि, कवि ईश भौ कवि ईश।
तिनि सुवन भौ रसिक सुमति सनौढिया परसिद्धि।

भ्रान्तिमान:—भ्रान्तिमान भ्रम सों कहें रसिकन के सिरताज ।। २१-४१ । र०पी०नि०

यह लक्षण भी अपूर्ण ही है क्योंकि जिस सादृश्य के कारण यहाँ चमत्कार आता है, उसका कोई कथन यहाँ नहीं है ।

इसी प्रकार द्वितीय विभावना, सहोक्ति, सम, उदात्त और मिथ्याध्यवसिति के लक्षण भी सर्वथा निर्दोष नहीं कहे जा सकते । परन्तु यह अपूर्णता अथवा अस्पष्टता सभी लक्षणों में नहीं पाई जाती । अनन्वय, परिणाम, विरोधाभास, तृतीय असंगति आदि अलंकारों के लक्षण बड़े स्पष्ट और सरल हैं तथा संक्षिप्त शैली में लिखे होने के कारण अधिक उपयोगी भी हैं ।

सोमनाथ के अधिकतर लक्षण भाषाभूषणकार जसवंतसिंह के आधार पर लिखे गये हैं, भले ही उनमें शब्दों का हेरफेर हो । कुछ उदाहरण देखिए :—

रूपकातिशयोक्ति:—केवल जहं उपमान को कहिबो है सुखदानि । २१-६४ ।
र० पी० नि०

अतिसयोक्ति रूपक जहाँ केवल ही उपमान । ७० । भा० भू०

विशेषोक्ति :— कारज होत नहीं जहाँ हेतु होत हू मित्र ।
ताहि विशेषोक्ति कहें .... । २१-४७ । र०पी०नि०
विशेषोक्ति जब हेतु सों, कारज उपजै नाहिं । ११५ । भा०भू०
कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे । ८३ । कुवल०

विषम :— अनमिलते को संग जंह प्रथम विषम सो जानि । २१-१५८ ।
र० पी० नि०
विषम अलंकृत तीनि विधि अनमिलते को संग । ११० । भा० भू०
विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः । ८८ । कुवल०

परिकर :— होइ जहाँ आसय लिए कछू विशेषन रूप । २१-१११ । र०पी०नि०
ह्वै परिकर आसय लिए जहाँ बिसेसन होय । ९५ । भा० भू०
अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे । ६२ । कुवल०

इसी प्रकार एकावली, सूक्ष्म, गूढ़ोक्ति, लेश आदि अलंकारों के उदाहरणों द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि सोमनाथ के लक्षण कुवलयानन्द से भाषाभूषण के माध्यम द्वारा प्रभावित हैं । परन्तु इतना होने पर भी यह कहना भी युक्ति संगत होगा कि सोमनाथ ने जसवंतसिंह का सर्वत्र अंधानुसरण नहीं किया, वरन् अनेक स्थलों पर उन्होंने अपनी स्वतंत्र सूझबूझ से भी काम लिया है । इसी कारण वे जसवंतसिंह के अनेक लक्षणों की त्रुटियों को दूर करने में समर्थ हो सके (देखो विवृतोक्ति अलंकार) और साथ ही उन्होंने दृष्टान्त, स्मृति नामक अलंकारों के लक्षण भी नाम प्रकाश में न बताकर विस्तार के साथ समझाए हैं ।

अन्त में समष्टि रूप में हम कह सकते हैं कि जहां तक शब्दालंकारों का सम्बन्ध है वहाँ सोमनाथ संस्कृत आचार्य मम्मट से और अर्थालंकारों के विषय में अप्पयदीक्षित (कुवलयानन्दकार) से प्रभावित हैं। परन्तु इन दोनों संस्कृत आचार्यों का यह प्रभाव क्रमश: हिन्दी आचार्य कुलपति मिश्र और जसवन्तसिंह के माध्यम से आया है। इसके अतिरिक्त सोमनाथ का अन्य काव्यांग वर्णन काव्य प्रकाश पर आधारित है, वैसे उन्होंने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र और साहित्यदर्पण से भी सहायता ली है।

अलंकारों के इस अध्ययन के पश्चात् हम सोमनाथ की अलंकार विषयक धारणा का सहज ही अनुमान कर सकते हैं। सोमनाथ यद्यपि ध्वनिवादी हैं और मम्मट का काव्यप्रकाश अधिकतर उनका आधार ग्रंथ है, तथापि अलंकार के महत्व के विषय में वे मम्मट का अन्धानुसरण करने को तैयार नहीं हैं। इसी कारण वे 'भूषनजुत कविकर्म जो सो कविता कहि शुद्ध' कहकर कविता के लिए अलंकार आवश्यक मानते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे रस या ध्वनि के महत्व को स्वीकार नहीं करते। ध्वनि (व्यंग्य) तो उनकी दृष्टि में काव्य का प्राण है। अत: वे ध्वनि या रस के साथ साथ अलंकार को भी महत्व देते हैं, पर काव्य का अंग मानकर ही, अंगी मानकर नहीं। उनके अनुसार ये अलंकार महत्वपूर्ण होते हुये भी कभी तो रस का उत्कर्ष करते हैं, और कभी अपकर्ष भी कर डालते हैं और कभी कभी तो रस के प्रति उदासीनता ही प्रकट करते हैं।

शब्दालंकारों में सोमनाथ वक्रोक्ति को और अर्थालंकारों में उपमा को सर्वाधिक महत्व देते हैं।

मूल्यांकन :—सोमनाथ का 'रसपीयूषनिधि' वस्तुत: हिन्दी-रीति-साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थ-रत्न है। अन्य काव्यशास्त्रों में काव्य के विविध अंगों का विवेचन होने पर भी छन्दों का सर्वथा त्याग कर दिया गया है, पर सोमनाथ ने पिंगल का वर्णन सम्मिलित करके इस ग्रन्थ को पूर्णतया उपयोगी बना दिया है। इस ग्रंथ की उपयोगिता इस बात से और भी अधिक बढ़ गई है कि यहाँ विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए गद्य में वार्तिक भी दे दिया गया है।

यद्यपि यह ग्रंथ विषय की दृष्टि से मौलिक नहीं कहा जा सकता, पर फिर भी निरूपण शैली, मौलिक उदाहरणों, सरल और स्पष्ट लक्षणों तथा विषय की विविधता की दृष्टि से उसकी उपादेयता अपेक्षाकृत अधिक है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसकी प्रशंसा इस प्रकार की है :—

"यह (रसपीयूषनिधि) दास जी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रन्थ है, काव्यांग-निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की इनकी प्रणाली बहुत अच्छी है[1]।" इसी प्रकार मिश्रबन्धुओं ने भी इस ग्रंथ की बड़ी प्रशंसा की है।

यहाँ यह मैं अवश्य कहूंगा कि शुक्लजी ने सोमनाथ को श्रीपति के समान स्थान अवश्य दिया है, परन्तु मेरी दृष्टि में उनका स्थान श्रीपति से भी अधिक ऊंचा है। क्योंकि श्रीपति ने एक तो बहुत ही थोड़े अलंकारों का निरूपण किया है और दूसरे वह भी बड़ा ही शिथिल है, और स्थल स्थल पर उन्होंने अनेक गम्भीर त्रुटियां भी की हैं। पर सोमनाथ में न तो इस प्रकार की शिथिलता है और न ऐसी गम्भीर त्रुटियां ही। अतः मेरी दृष्टि में सोमनाथ हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आचार्य और कवि दोनों हैं और उनका ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' हिन्दी काव्य शास्त्र का सर्वोत्कृष्ट रत्न है।

रसिक मोहन : रघुनाथ कवि

(वि० सं० १७९६)

बन्दीजन रघुनाथ काशी नरेश महाराज बरिवंडसिंह के दरबारी कवि थे। काशी नरेश के आश्रय में रहते हुये उन्होंने वि० सं० १७९६ के माघ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि के रोज अपने अलंकार ग्रन्थ 'रसिक मोहन' की रचना की थी[2]। इस ग्रंथ में उन्होंने सर्वप्रथम गणेश जी की वन्दना के रूप में मंगलाचरण करने के पश्चात् अपने आश्रयदाता का वंश परिचय दिया है। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि काशी नरेश ने उन्हें कृपा करके चौरा नामक गांव दिया था। यह गाँव वाराणसी से एक योजन और पंचकोशी से एक कोश की दूरी पर स्थित था[3]।

फिर वाराणसी का वर्णन एवं गंगा जी की स्तुति करने के पश्चात् वर्णित अलंकारों (भेदों सहित) की सूची दी गई है। यह सब वर्णन ४८ दोहों और

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ २८४

२—संवत् सत्रह से अधिक बरिस छानवे पाय
माघ सुकुल श्री पंचमी प्रगट भयो सुखदाय ॥ १५ ॥ र० मो०

३—उन मो पैं करि के कृपा, दीन्हौ चौरा गाउं।
जाको जम्बूदीप में जगमगात है नाउं ॥ १० ॥ र० मो०
जोजन भरि वारानसी पंचकोश इक कोस।
उत्तर दिसि दच्छिण लसे सुरसरि आपु परोस ॥ ११ ॥ र० मो०

कवित्तों में किया गया है । पुस्तक का विभाजन तन्त्रों (अध्यायों) में किया गया है । ऐसा जान पड़ता है कि पुस्तक में केवल दो ही तंत्र हैं । प्रथम तंत्र में तो उपर्युक्त ४८ छन्द हैं और अन्त में उसकी समाप्ति पर लिख दिया गया है "इति श्री कवि रघुनाथ बन्दीजन काशी वासी विरचिते काव्यरसिकमोहने अलंकार नाम कथनं प्रथम तन्त्रः" । परन्तु दूसरे तंत्र की समाप्ति पर 'द्वितीय स्तंत्रः' न लिख कर लिखा गया है "इति श्री रघुनाथ बन्दीजन काशी वासी विरचिते काव्य रसिक मोहने उपमादिक अलंकार वर्णनं सम्पूर्णम्" । इन तंत्रों का विभाजन समान और एक सा नहीं है । प्रथम तंत्र में कुल ४८ छन्द हैं, जबकि दूसरे में ४३७ छन्द हैं ।

सम्पूर्ण ग्रंथ में ४८५ पद हैं । इसमें केवल दोहा, कवित्त और सवैया छन्दों का ही प्रयोग किया गया है । अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा उदाहरण कवित्त या सवैयों में प्रस्तुत किए गए हैं । इस पुस्तक में केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन है और वह भी उपमालंकार के वर्णन से प्रारम्भ होता है । शब्दालंकारों का वर्णन यहाँ नहीं है ।

सर्वप्रथम उपमालंकार के अवयवों का विवेचन करके उपमालंकार का लक्षण दिया गया है और फिर 'पूर्णोपमा' का स्वरूप निर्धारित किया गया है। उपमा के भेदों का अभाव है, हां, 'तबकोपमा' का वर्णन अवश्य है जिसका निरूपण चन्द्रालोक में किया गया है । इस ग्रन्थ में कुल १०१ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं । परन्तु 'पूर्वरूप' और 'अतद्गुण' को स्थान नहीं दिया गया; यद्यपि अलंकार सूची में 'पूर्वरूप' की गणना कराई गई है । 'अपन्हुति' के अतिरिक्त एक 'अपन्हव' नाम का अलंकार भी यहां मिलता है जिसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

जहां उत्प्रेक्षा मों मिली आप अपन्हुति होत ।
ताहि अपन्हव कहत हैं अलंकार कवि गोत ।। १०० । र० मो०

इसके दो उदाहरण भी प्रस्तुत किए गए हैं । एक उदाहरण देखिए :
खंजन की अरु मीनन की अरु अंवुज की जिए जोति बसे तें ।
काम के बानन की मृग की और दुरेफन की छवि देखि हँसे तें ।
ऐसे निसोगु नए रघुनाथ न मंजन अंजन रेख लसे तें ।
तेरे विलोचन यातें भटू भये तीखें तर्योननि छ्वै निकसे तें । १०१ । र०मो०

इसी प्रकार 'श्लेष' के अतिरिक्त 'श्लेपाभास' को भी उन्होंने एक अलंकार माना है । उसका लक्षण है :

एकै पद औ अर्थ इक है ह्वै को असलेस ।
सो असलेसाभास है बरनत सुकवि सुखेस ।। १६७ ।। र० मो०

'आवृत्तिदीपक' को पृथक् अलंकार नहीं माना गया है। 'दीपक' के तीन भेदों में ही उसका अन्तर्भाव कर दिया गया है[1]। पदावृत्ति, २. अर्थावृत्ति और ३. पदार्थावृत्ति। वस्तुतः ये 'दीपक' के भेद न होकर आवृत्तिदीपक के ही भेद हैं।

'सम्बन्धातिशयोक्ति' के दो भेदों—'जोग में अजोग' और 'अजोग में जोग— के अतिरिक्त रघुनाथ ने एक 'जोगाजोग' नामक अन्य भेद की और कल्पना करते हुये उसका लक्षण इस प्रकार दिया है।

जितै जोग में होत हैं देखो आइ अजोग ।
होत जोग फिरि आइ तेहि कहियतु जोगाजोग ।। ११५ ।। र० मो०

'व्याजोक्ति' नाम के यहाँ दो अलंकार कहे गए हैं, पर पहिला 'व्याजोक्ति' वस्तुतः 'व्याजस्तुति' ही है। देखिए :

निन्दा सो अस्तुति जहाँ प्रगट परति है जोइ ।
अस्तुति सो निन्दा जहां व्याज उक्ति तहं होइ । २१० । र० मो०

इसके अतिरिक्त निन्दा सों निन्दा 'व्याजोक्ति' का लक्षण भी पृथक् रूप से दिया गया है[2], जो वास्तव में 'व्याजनिन्दा' का ही नामान्तर है।

एक स्थल पर 'अल्पालंकार' को 'सूक्ष्मालंकार' बता दिया गया है। समझ नहीं पड़ता कि यह कवि की भूल है अथवा छापे की, अथवा इसी प्रति में ऐसी भूल हो गई है। लक्षण 'अल्प' का दिया गया है, पर उसे कहा गया 'सूक्ष्म' है। आगे चलकर 'सूक्ष्मालंकार' का लक्षण पुनः दिया गया है। अतः मेरी दृष्टि में यह छापे की ही भूल हो सकती है। देखिए :

सूक्ष्छम अलंकार लच्छन

सुच्छम जहाँ अधेय सों सूछम होय अधार ।
सकल सुकवि बरनत करत सो सुच्छमालंकार ।। २८७ ।। र० मो०

'अत्युक्ति' के प्रसंग में 'प्रेमात्युक्ति' का भी वर्णन किया गया है। उत्तरालंकार को 'गूढ़ोत्तर' और 'चित्रोत्तर' नाम से ही कहा गया है जैसा कि कुवलयानन्द

१—दीपक जो सो तो तीन बिधि, इक है पद आवृत्ति ।
अरथावृत्ति सु एक है, और पदार्थावृत्ति ।। १४४ ।। र० मो०

२—निन्दा सों निन्दा जहाँ प्रगट परति पहिचानि ।
सो निन्दा व्याजोक्ति सब, कबि कुल करत बखान । २१५ । र० मो०

में पाया जाता है। अन्य हिन्दी आचार्यों की भांति रघुनाथ ने उन्हें 'उत्तर' और 'चित्र' नाम से नहीं पुकारा।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त रसिक मोहन में अलंकारों के नाम, भेद और वर्णन-क्रम वैसा ही है जैसा कि कुवलयानन्द में पाया जाता है। परन्तु बहुत थोड़े स्थलों पर कुछ व्यतिक्रम सा हो गया है। जैसे 'विशेष' को यहाँ 'वैशेष' नाम दिया गया है। भेदों की दृष्टि से भी कुछ अन्तर है। कुवलयानन्द में 'विषमालंकार' के केवल तीन भेद किए गए हैं, परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उसके सात भेद बताए गए है। प्रत्येक भेद के लक्षण और उदाहरण भी पृथक् पृथक् दिए गए हैं। इसी प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के कुवलयानन्द की वृत्ति में पांच भेदों के उनके नाम सहित उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, पर रसिक मोहन में उनकी कोई चर्चा नहीं है। हाँ, क्रम में कोई अन्तर नहीं है। अलंकारों का क्रम वही है जो आधार ग्रन्थ कुवलयानन्द में है।

अलंकारों के लक्षण प्रायः कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं। पर कुवलयानन्द की भांति रसिक मोहन में स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह के लक्षण उनके नामों में न बता कर स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् विस्तार के साथ दिए गए हैं। साथ ही इन अलंकारों के सादृश्य सम्बन्धी चमत्कार को भी लक्षणों में प्रकट किया गया है, यद्यपि अन्य अनेक हिन्दी आचार्यों ने ऐसा नहीं किया।

'रसिक मोहन' के प्रायः सभी लक्षण स्पष्ट और सरल हैं। भूषण आदि के लक्षणों के समान उनमें शिथिलता नहीं पाई जाती।

रघुनाथ कवि के उदाहरण अलंकारों की स्पष्टता एवं कवित्व दोनों दृष्टियों से अपना महत्व रखते हैं। प्रतीप, द्वितीय उल्लेख और पर्यस्तापन्हुति जैसे कुछ अलंकारों को छोड़कर प्रायः सभी के एक से अधिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, कहीं कहीं तो सात सात तक उदाहरण दिए गए हैं (देखिये शुद्धापन्हुति)। ये उदाहरण अधिकतर कवित्त छन्द में ही हैं, कहीं कहीं सवैया का भी उपयोग किया गया है।

इन उदाहरणों की एक विशेषता तो यह है कि वे केवल शृंगार से ही सम्बन्धित नहीं है, वरन् वीर आदि अन्य रसों से भी उनका सम्बन्ध है। कहीं कहीं तत्कालीन प्रवृत्ति के अनुसार उनमें अपने आश्रयदाता की प्रशंसा भी है। इस बात को स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है[1]। परन्तु इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह कि उनके प्रायः सभी चरण प्रस्तुत अलंकार के स्वरूप

१—बिच बिच काशी नृपति के कहं बिसद गुन गाय। ४८३। र० मो०

को बहुत स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं। स्वर्गीय श्री रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में इस बात को स्वीकार किया है[1]।

कविता की दृष्टि से भी रघुनाथ कवि के उदाहरण सहृदयों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हैं। उनमें कवि की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण देखिये :—

रूप अनूप निहारि के दूर ते देखिबे कौं अपनो मन दीन्हो,
पाइ दबे चलि पास गयो रघुनाथ कहै अति लोभहि लीन्हो।
लोचन के दुख मोचन को सो कहा कहिए रंग नेकु न चीन्हो,
वाम के पायल की सुनतैं धुनि घायल काम धनुर्धर कीन्हो ॥

१८६। र० मो०

यहाँ 'परिकरांकुर' अलंकार का चमत्कार तो है ही, पर उसकी भावुकता भी उल्लेखनीय है।

मूल्यांकन :—यद्यपि आचार्यत्व की दृष्टि से 'रसिक मोहन' का कोई विशेष महत्व नहीं है, तथापि कवित्व की दृष्टि से उसका मूल्य कम नहीं किया जा सकता। कुवलयानन्द से प्रभावित होने पर भी कवि ने उसका अन्धानुसरण नहीं किया है। 'अपन्हव' और 'श्लेषाभास' जैसे अलंकारों का वर्णन करके रघुनाथ कवि ने अपनी कुछ मौलिकता का भी प्रदर्शन किया है। भूषण आदि की भाँति 'रसिक मोहन' के लक्षणों और उदाहरणों में न तो अस्पष्टता है और न शिथिलता ही। सर्वत्र लेखन-शैली की एकरूपता ने उस ग्रन्थ को और भी आकर्षक बना दिया है। इन्हीं सब कारणों से तत्कालीन अलंकार-ग्रन्थों में उसका अपना एक विशिष्ट स्थान है।

कर्णाभरण : गोविन्द कवि

(वि० सं० १७९७)

गोविन्द कवि ने वि० सं० १७९७ में[2] कर्णाभरण[3] नामक अलंकार विषयक ग्रन्थ लिखा था। इसमें कवि ने न तो अपना ही जीवन परिचय दिया है और न कहीं किसी आश्रयदाता का ही उल्लेख किया है। यह ग्रंथ सन् १८९४ ई० में

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास दसवां संस्करण, रामचन्द्र शुक्ल पृष्ठ २८७।
२—नग निधि रिषि विधु बरस मै सावन सित तिथि संभु।
कीन्हो सुकवि गुबिन्द जू, करणाभरण अरंभु ॥ ३३८ ॥ कर्णा०
३—ना० प्र० स० काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति।

डुमराव निवासी नकछेदी तिवारी द्वारा भारत जीवन प्रेस, काशी से प्रकाशित हो चुका है। यह पुस्तक ४६ पृष्ठों में समाप्त हुई है।

इस पुस्तक में केवल अर्थालंकारों की चर्चा बड़ी संक्षिप्त और सरल शैली में की गई है। इसमें कुल ३३८ दोहे हैं। सर्वत्र दोहा छन्द का ही प्रयोग हुआ है, जिससे ग्रंथ की सुकरता स्वतः सिद्ध है।

प्रथम तीन दोहों में मंगला चरण, ग्रंथ-रचना तथा ग्रंथ के विषय का प्रतिपादन करने के पश्चात् चौथे दोहे से ही विषय का प्रतिपादन आरम्भ हो जाता है। जान पड़ता है अन्य कवियों की भाँति गोविन्द कवि को इधर उधर की व्यर्थ बातें लिखना पसन्द नहीं है। विषय का आरम्भ उपमालंकार के वर्णन से होता है। पहले उपमा के चारों अंगों का स्वरूप-कथन है, पश्चात् पूर्णोपमा का लक्षण है। इसके पश्चात् अन्य अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

करणाभरण में कुल १०० अर्थालंकारों का विवेचन है। इन अलंकारों के नाम, भेद और क्रम सभी कुवलयानन्द के अनुसरण पर हैं। यहां भाषा भूषण की भांति कवि ने एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने का प्रयास किया है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं कर पाया। अधिकतर स्थलों पर तो एक दोहे में लक्षण और दूसरे दोहे में उसका उदाहरण है।

विषय प्रतिपादन की दृष्टि से ग्रंथ में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं है। उसमें अपने पूर्ववर्ती कवियों की शैली का भी अनुसरण किया गया है। भ्रम, स्मरण और सन्देह अलंकारों के लक्षण क्रमशः भ्रान्ति, स्मृति और सन्देह में ही उनके नामों में ही मानकर उदाहरण दे दिए गये हैं। उनका विस्तृत स्वरूप-निर्धारण नहीं है।

भ्रम सुमिरन सन्देह सो अलंकार ये तीनि।
भ्रांतिमान स्मृतिमान सन्देह बखाने बीनि ।। ४१ ।। कर्णाभरण

इसके वर्णन में कहीं कहीं अन्य लेखकों से नवीनता भी दिखाई पड़ती है, जैसे गोविन्द कवि के अनुसार श्लेप के तीन भेद हैं: प्रकृत प्रकृत, प्रकृताप्रकृत और अप्रकृताप्रकृत। ये शब्दों से व्यक्त होने वाले प्रकृत या अप्रकृत अर्थों के आधार पर हैं।

कहीं कहीं लक्षणों में भ्रम सा भी हो जाता है। जैसे तुल्ययोगिता और दीपक का लक्षण देखने में एक सा जान पड़ता है। व्याख्या द्वारा ही उन्हें स्पष्ट किया जा सकता है, अन्यथा साधारणतया उसमें भ्रम हो जाने की संभावना है। यथा :

तुल्ययोगिता :

एकै धर्म अवर्न्य को और वर्न्य कौ होइ।
सिगरे कवि कोविद कहत तुल्ययोगिता सोइ। ८३। कर्णा०

दीपक :

वर्न्य अवर्न्यन को जहां, एकै धर्म लखाइ।
दीपक तासों कहत हैं, सिगरे कवि समुदाय ॥ ६० ॥ कर्णा०

यहाँ दोनों का भेद स्पष्ट करने के लिए यह व्याख्या करनी पड़ेगी कि तुल्ययोगिता में अवर्ण्यों और वर्ण्यों का पृथक् पृथक् एक धर्म होता है और दीपक में वर्ण्यों एवं अवर्ण्यों दोनों का एक धर्म होता है। इस प्रकार का अर्थ करने में भ्रम होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

कहीं कहीं उदाहरण भी कुछ दोषपूर्ण हो गए हैं। 'सापन्हवातिशयोक्ति' का जो उदाहरण दिया गया है वह 'पर्यस्तापन्हुति' का सा जान पड़ता है। देखिए :

सापन्हवातिशयोक्ति :

तेरी सुनज़रि में सुधा, भूलि कहत विधु माहि।
कालकूट कुनजरि वृथा, जहं तहं बरनत ताहि।। ६६ ॥ कर्णा०

यहाँ चन्द्रमा के धर्म-सुधा का चन्द्रमा में निषेध करके वाणी में बताने से यहाँ 'पर्यस्तापन्हुति' का उदाहरण बन गया है।

परन्तु इस प्रकार के भ्रम उत्पन्न करने वाले स्थल अधिक नहीं हैं। अधिकांशतः उनके लक्षण और उदाहरण दोनों स्पष्ट और सुबोध हैं। उदाहरण कवि के अपने हैं, जो बड़े सुन्दर और संयत हैं। उनमें अन्य कवियों के उदाहरणों की भाँति अशिष्टता या मलिनता कहीं नहीं पाई जाती। उनकी सरलता बड़ी आकर्षक है। भाषाभूषण की शैली का ही यहां अधिकांशतः अनुसरण किया गया है, पर इसके लक्षण और उदाहरण भाषा भूषण से भी अधिक स्पष्ट और सरल हैं। उनकी स्पष्टता के लिए किसी व्याख्या या टीका की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह ग्रन्थ शैली, लक्षण आदि की दृष्टि से चन्द्रालोक और कुवलयानन्द से प्रभावित जान पड़ता है। शैली तो चन्द्रालोक की है ही अलंकारों के नाम, भेद और क्रम भी कुवलयानन्द के ही अनुसार है। लक्षणों पर भी कुवलयानन्द का प्रभाव है। दो एक उदाहरण दृष्टव्य हैं :

सापन्हवातिशयोक्ति :

अतिसयोक्ति के भीतरहि जहां अपन्हुति होइ ।
तहां कहत सापन्हवातिसयोक्ति सब कोइ ।।१६८।। कर्णा०
यद्यपन्हुति गर्भत्वं सैव सापन्हवा मता ।। ३७ ।। कुवल०

अधिक : जहाँ बड़े आधार तें अधिक होइ आधेय ।
अलंकार जानहु तहाँ, अधिक अधिकमति ज्ञेय ।। १८१ कर्णा०
अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्य वर्णनम् ।। ६५ ।। कुवल०

अल्प : जहं ओछे आधेय तें ओछो है आधार ।। १८५ ।। कर्णा०
अल्पं तु सूक्ष्माधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ।। ६७ ।। कुवल०

इसी प्रकार अन्य लक्षण भी देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कोई विशेष नवीनता नहीं है, जिसका आचार्यत्व की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सके। यह एक साधारण कोटि का ही ग्रंथ है और प्राचीन परिपाटी का पालन ही उसमें अधिक दिखाई पड़ता है। पर अलंकार के विद्यार्थियों के लिए यह बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है।

कविकुल कण्ठाभरण — दूलह कवि

(वि० सं० १८०० के लगभग)

अन्तर्वेद वनपुराग्रामवासी श्री कालिदास त्रिवेदी के पौत्र कवीन्द्र श्री उदयनाथ कवि के सुपुत्र दूलह कवि ने 'कविकुल कण्ठाभरण'[1] की रचना की थी। कवि ने पुस्तक का रचनाकाल नहीं दिया है। आचार्य शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल संवत् १८०० से १८२५ तक माना है। इसी आधार पर डा० भगीरथ मिश्र ने इस ग्रंथ का रचनाकाल वि० सं० १८०० के लगभग बताया है[2]। दूलह कवि की यही एकमात्र रचना है जो अलंकार विषय का बड़ा ही सुन्दर ग्रंथ है। कुवलयानन्द की भाँति यहाँ भी थोड़े थोड़े क्रम से अलंकार-रीति का वर्णन हुआ है[3]।

ग्रंथ परिचय :—यह ८२ पदों का एक छोटा सा ग्रंथ है। इन्हीं पदों के भीतर सभी अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत कर दिये गए हैं एक ही सवैया अथवा

१—ना० प्र० स० काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति।
२—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृष्ठ ४१
३— थोड़े क्रम क्रम तें कह्यो, अलंकार की रीति ।। १ ।। क० कु० कं०

एकाधिक कवित्त और सवैया में चार से लेकर छह अलंकारों तक के लक्षण और उदाहरण क्रम से आ गए हैं। इससे ग्रन्थ की संक्षिप्त शैली का अनुमान हो सकता है। पर इस संक्षिप्तता का परिणाम यह हुआ कि उनके अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए व्याख्या की आवश्यकता पड़ जाती है। परन्तु परिभाषायें अशुद्ध नहीं हो पाईं।

मंगलाचरण के उपरान्त ही कवि अलंकार के महत्व पर प्रकाश डालता हुआ कहता है :—

चरण बरण लक्षिण ललित, रचि रीझै करतार।
बिनु भूषण नहिं भूषहीं, कविता वनिता चार ॥ २ ॥ क० कु० कं०

यहाँ केशव के अनुकरण पर ही दूलह कवि ने बताया है कि कविता और वनिता भूषण (अलंकार) के बिना शोभा नहीं पाती। विधाता तो सुन्दर चरण, वर्ण और लक्षणों से युक्त चार प्रकार की स्त्रियों का निर्माण करके प्रसन्न हो जाता है, परन्तु समाज में आभूषणों के बिना उस स्त्री की शोभा नहीं होती, इसी प्रकार कवि भी सुन्दर चरण, वर्ण (अक्षर) और लक्षणों से युक्त कविता की रचना करता है, परन्तु अलंकार के बिना कविता की शोभा नहीं होती और न सभाओं एवं दरबारों में अलंकारों के बिना उसका सम्मान ही होता है। अतः केशव के समान दूलह की दृष्टि में भी कविता के लिए अलंकारों का होना आवश्यक है।

यद्यपि ऐसे महत्वपूर्ण विषय का सैकड़ों कवियों ने बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है तथापि दूलह कवि ने उसी विषय पर अपने ग्रन्थ की रचना एक लघु प्रयत्न के रूप में की है :—

दीरघ मत सत कविन के अरथासय लघु तर्न।
कवि दूलह यातें कियो, कविकुल कण्ठाभर्न ॥ ३ ॥ क० कु० कं०

इस ग्रन्थ की रचना अलंकार-प्रेमी विद्यार्थियों के कण्ठस्थ करने के लिए ही की गई थी। इसका निर्देश भी कवि ने इस प्रकार किया है :—

जो यह कण्ठाभरन को, कण्ठ करे सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहैं अलंकृती ठहराय ॥ ४ ॥ क० कु० कं०

इसे कण्ठस्थ करने वाला अलंकृती कहलायगा और सभा में उसकी प्रतिष्ठा भी होगी। इस प्रकार ग्रन्थ के महत्व को भी कवि ने स्वयं यहाँ प्रकट कर दिया है।

इस ग्रन्थ में १०० अर्थालंकारों (चित्र को छोड़ कर), ७ रसवदादि तथा ८ प्रत्यक्षादि, एवं संसृष्टि और संकर इन सबको मिलाकर कुल ११७ अलंकारों का निरूपण है। अन्त में छेक, यमक, और वृत्ति-अनुप्रास इन तीन शब्दालंकारों की चर्चा बहुत संक्षेप में हुई है। संकर और संसृष्टि के तो लक्षण दे दिए गए हैं, पर उनके भेदों के लक्षण नहीं हैं और न उदाहरण ही, उनके केवल नाममात्र ही गिना दिए गए हैं।

जिस प्रकार जयदेव ने नवीन अलंकारों को स्वीकार कर लिया था[1] और अप्पयदीक्षित ने भी उन पंद्रह अलंकारों का विवेचन किया था[2]। उसी प्रकार दूलह कवि ने भी कुवलयानन्द को प्रमाण मानकर उन अलंकारों का बहुत ही संक्षिप्त निरूपण किया है :—

कहै कवि दूलह सो पंचदश औरो सुनौ।
　　औरे औरे ग्रन्थन में जे वे ठीक ठाने हैं।
चार रसवत् प्रेय ऊर्जस्वी, समाहित हैं,
　　तीन भाव उदै संधि सबलता साने हैं
परतच्छ प्रमुख प्रमान आठों अलंकार,
　　कुवलयानन्द में बखाने जग जाने हैं। ७१। क० कु० कं०

अर्थालंकार वर्णन :—

अर्थालंकारों का वर्णन पांचवे दोहे से प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम उपमा के अवयवों का निरूपण है। फिर वर्ण्य, अवर्ण्य, प्रस्तुत और अप्रस्तुत शब्दों को स्पष्ट किया गया है।

१. चन्द्रादिक उपमान हैं वदनादिक उपमेय।
　तुल्य अर्थ वाचक कहै, धर्म एक सो लेय ॥ ५ ॥ क० कु० कं०

२. विषई उपमानै कहैं, अरु अवर्ण्य उपमान।
　विषय वर्ण्य उपमेय कहि, कविजन करत बखान ॥ ६ ॥ क०कु०कं०

३. प्रासंगिक प्रस्तुत कहैं, अप्रस्तुत अप्रसंग।
　नाम जानिवे हेत ये अलंकार के अंग ॥ ७ ॥ क० कु० कं०

इसके पश्चात् उपमा आदि अलंकारों का वर्णन चलता है।

१—अलंकारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम्।
　तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥ ५-१२५ ॥ चन्द्रालोक।

२—एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान्विदुर्बुधाः। १७१ कु०

अलंकारों के नाम, भेद और क्रम :—

अलंकारों की संख्या की भांति नाम, भेद और क्रम भी कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर हैं। परन्तु कतिपय स्थलों पर कुछ व्यतिक्रम भी पाया जाता है, वह भी नाममात्र को। अन्य पूर्ववर्ती कवियों की भांति यहाँ भी उत्तर को 'गूढ़ोत्तर', विशेष को 'विशेषक' नाम दिया गया है। 'चित्रोत्तर' को स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, जबकि कुवलयानन्द में वह उत्तर का ही एक भेद बताया गया है। इससे जान पड़ता है कि भाषा-भूषण दूलह कवि के सामने था। पर कहीं भी उस पुस्तक का नामोल्लेख नहीं है।

भेद और क्रम कुवलयानन्द के ही समान हैं, उनमें कहीं कोई व्यतिक्रम नहीं है। यहाँ तक कि वृत्तिभाग में जो 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के पाँच भेदों के उदाहरण कुवलयानन्द में हैं, उनका भी दूलह कवि ने वर्णन किया है। अन्तर इतना ही है कि दूलह ने इन भेदों का उल्लेख और उदाहरण 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के लक्षण उदाहरण देने के पहले कर दिया था।

अलंकारों के लक्षण :—

वैसे तो सभी अलंकारों के लक्षण दूलह कवि ने दिए हैं, परन्तु जहाँ अलंकारों के कई भेद हैं वहाँ, उनके लक्षण नहीं दिए। भेदों की विशेषताओं भर को समझा दिया है। उपमा के अंग—उपमान, उपमेय आदि तो बता दिए गए हैं, पर न तो उपमा का लक्षण है और न उनके भेदों के लक्षण हैं। अपन्हुति, उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकारों के विषय में भी यही बात देखने को मिलती है।

कतिपय स्थलों पर अलंकारों के लक्षण संक्षिप्तता के कारण स्पष्ट नहीं हो पाए। दो उदाहरण देखिए :—

परिणाम —

वहां होता है जहाँ क्रिया सम्बन्ध से विषयी का विषय पर आरोप होता है[1]। क्रिया सम्बन्ध के अभाव में वह 'रूपक' हो जायगा। दूलह ने जो इसका लक्षण दिया है उसमें क्रिया सम्बन्ध का कथन नहीं है। देखिए :—

विषयी विषै ह्वै फुरे, जानो परिनाम। १४। क० कु० कं०

सापन्हवातिशयोक्ति :—यह अलंकार वहां होता है जहां अपन्हुति पूर्वक अतिशयोक्ति होती है[2]। पर दूलह कवि ने जो लक्षण दिया है वह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। जैसे : —

१—परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना। २१। कु०

२—यद्यपन्हुति गर्भत्वं सैव सापन्हवा मता ॥ ३७। कु०

कहे कवि दूलह अपन्हुति गरभ यहै, सापन्हुति बरन विशेष रचना लही। २०। क० कु० कं०

इस अस्पष्टता का कारण है कुवलयानन्द के लक्षणों का अनुवाद। यदि इस लक्षण के पहले दूलह ने 'अतिशयोक्ति' का लक्षण दे दिया होता तो सम्भवतः यह दोष न रह जाता। इसके विपरीत यहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' का लक्षण और उदाहरण दिया गया है जिससे लक्षण के 'यहै' शब्द का बोध नहीं हो पाता। कुवलयानन्द में भी यही बात है, पर वृत्ति पढ़ने से वहाँ अस्पष्टता समाप्त हो जाती है। कुवलयानन्द का अन्धानुसरण करने के कारण ही यह अस्पष्टता इस लक्षण में आ गई है। वस्तुतः लक्षण ठीक और शुद्ध हैं।

'सहोक्ति' अलंकार के लक्षण में भी चमत्कार के अभाव में सदोषता आ गई है। जयदेव और अप्पयदीक्षित[1] ने चमत्कार लाने के लिए जनरंजन पद का प्रयोग किया है। भाषा-भूषण ने 'रसरसाई' द्वारा उसे व्यक्त किया है। पर दूलह ने इस प्रकार के किसी शब्द द्वारा वह चमत्कार व्यक्त नहीं किया है। केवल 'भासै सहभाव' से ही 'सहोक्ति' अलंकार नहीं हो जाता। इसी कारण वह लक्षण सदोष हो गया है।

भासै सहभाव जहाँ उक्ति सो सहोक्ति कहावै ॥ २८। क० कु० कं०

स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह के लक्षण दूलह कवि ने भी अन्य पूर्ववर्ती कवियों की भांति उनके नाम में ही बताए हैं :—

स्मृति नाम भ्रांतिनाम तीसरी संदेहनाम,
नाम ही तें जान लीजै लक्षण के तौर हैं। १५। क० कु० कं०

इतना होने पर भी दूलह के अन्य लक्षण संक्षिप्त, पर स्पष्ट और सुगम हैं। दीपक, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा, विभावना आदि के लक्षण इस दृष्टि से दृष्टव्य हैं। तुल्योगिता और दीपक, दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकारों में जो सूक्ष्म भेद है वह दूलह के लक्षणों में बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। भाषा-भूषण के लक्षणों में यह स्पष्टता नहीं है। कुछ लक्षण देखिए :—

१. तुल्ययोगिता :—

वर्ण्यन को अथवा अवर्ण्यन को एकै धर्म,
तुल्ययोगिता सो कवि त्रिविध विचारी है। २३। क० कु० कं०

१—(अ)—सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः। ४८। कु०

(आ)—सहोक्तिः सहभावश्चेद्भासते जनरंजनः। ५-६०। चन्द्रालोक

ऊपर की पंक्ति में यहाँ 'अथवा' शब्द विचारणीय है।

(२) दीपक :—

वर्ण्य को अवर्ण्य को धरम एक दीपक है। २४ क० कु० कं०

वैसे इन दोनों अलंकारों के लक्षण प्रायः समान हैं, पर तुल्ययोगिता का 'अथवा' शब्द इनके भेद को स्पष्ठ कर रहा है।

अलंकारों के उदाहरण :—

यद्यपि एक ही सवैया में एकाधिक अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दूलह ने प्रस्तुत किए हैं, परन्तु फिर भी उनमें कोई गड़बड़ी नहीं होने पाई है। यही दूलह की सबसे बड़ी विशेषता है। पहले अलंकार का लक्षण और उसके बाद उसी का उदाहरण रक्खा गया है। इसके बाद ही दूसरे अलंकार का लक्षण और उसी का उदाहरण रक्खा गया है। इस प्रकार उदाहरण प्रत्येक अलंकार के लक्षण के ठीक बाद में रक्खे गए हैं। परन्तु कहीं कहीं परस्पर असम्बद्ध अलंकारों के लक्षण और उदाहरण भी एक साथ रख दिए गए हैं। जैसे आक्षेप और विरोधाभास, विकल्प, समुच्चय और कारक-दीपक, आदि।

एक ही कवित्त में एक से अधिक लक्षण और उदाहरण रखे जाने से दूलह के उदाहरणों में अन्य कवियों के उदाहरणों के समान काव्यगुण प्रस्फुटित नहीं हो सका। इस कारण काव्य की दृष्टि से उनका महत्व नहीं हैं, पर काव्य-शास्त्र की दृष्टि से वे महत्वहीन भी नहीं हैं। इन उदाहरणों की एक विशेषता यह हैं कि उनकी एक ही शब्दावली अलंकार के उपभेदों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट कर देती है। अभेद रूपक के उपभेदों के उदाहरण देखिए :—

राम अवियोगी तुम, राम तुम यज्ञपाल,
राम तुम लंक के, विरोध बिन ही अहै। १३ ।। क० कु० कं०

इन पंक्तियों में 'राम तुम' से तो 'अभेद रूपक' का सामान्य उदाहरण बन गया है। 'तुम राम (परन्तु) अवियोगी' हो से 'अधिक' का उदाहरण हो गया— 'राम महान थे तुम वही हो, परन्तु राम वियोगी थे तुम अवियोगी हो—उनसे अधिक हो'। सम में 'तुम यज्ञपाल राम हो, राम भी यज्ञपाल थे तुम भी यज्ञपाल हो'—दोनों में अभेद तथा समता भी है। तीसरे उदाहरण में बताया गया है कि 'राम में लंका विजय की सामर्थ्य थी तुम में नहीं है'—अभेद होते हुए भी न्यूनता है।

परन्तु इस प्रकार के उदाहरण सर्वसामान्य के लिये स्पष्ट और सरल नहीं कहे जा सकते हैं। इनसे तो उन्हें उलटी कठिनाई ही हो सकती है।

कहीं कहीं इन उदाहरणों में कुछ दोष आ गए हैं। छन्द के चरण का पूर्ति के लिये कहीं कहीं भरती के शब्द या वाक्यांश आ गए हैं जिनसे पाठकों को भ्रम हो सकता है। जैसे अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिए:—

सुधाधरमुखी जो सुधाधर उदित भयो,
मेरे जान करत है वसुधा सुधामई। १८॥ क० कु० कं०

यहां 'सुधाधरमुखी' शब्द निरर्थक है। दूसरे 'सुधा' की यहां चार बार आवृत्ति होने से पाठक को भ्रम हो सकता है कि लेखक इस शब्द की आवृत्ति में चमत्कार बताना चाहता है।

ऐसे ही और उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं।

कहीं कहीं भरती के शब्दों के कारण एक अलंकार का उदाहरण दूसरे अलंकार का उदाहरण सा बन गया है:—

चारु चन्द-मण्डल में विद्रुम विराजै छन्द।
मोतिन के छाजै ते छपाए छपते नहीं॥ २०। कं० कु० कं०

यह 'रूपकातिशोक्ति' का उदाहरण है। प्रथम पंक्ति में तो यह ठीक है, पर दूसरी पंक्ति भरती मात्र है। इससे 'विशेषोक्ति' की गंध आने लगती है। मोती यहां दांतों के लिए और विद्रुम ओष्ठों के लिए आए हैं। परन्तु यहां जो बताया गया है कि मोतियों की छाज (शोभा) से विद्रुम की कान्ति छिपाए नहीं छिपती—इससे वह चमत्कार न्यून हो गया है जो 'रूपकातिशयोक्ति' में होना चाहिए।

इसी प्रकार कहीं कहीं उदाहरण न देकर परिस्थितियों का संकेत मात्र कर दिया गया है (देखो—छेकापन्हुति, उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा)। कहीं कहीं अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग से उदाहरण का सौंदर्य समाप्त हो गया है (देखो—समासोक्ति के उदाहरण में 'भिरति है' शब्द का प्रयोग)।

पंचदश अलंकार प्रकरण

दूलह कवि ने अलंकारों के पश्चात् रसवदादि और प्रत्यक्षादि आठ—कुल १५ अलंकारों का वर्णन भी कुवलयानन्द की भांति किया है। भाषा-भूषण में इनका विवेचन नहीं हैं।

इन अलंकारों के संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दूलह ने प्रस्तुत किए हैं। परन्तु प्रत्यक्षादि अलंकारों के लक्षण नाममात्र में ही प्रकट किए गए हैं। देखिए।—

प्रतक्ष प्रतक्ष अनुमिति कीने अनुमान
उपमिति ही तें उपमान पहिचानिए।
शब्द वेदवाद त्योंही, समृति पुरानागम,
लौकिक आचार आतम तृष्टि उर आनिए।

तीन शब्दालंकारों का वर्णन हुआ है। शेष दोहों में मंगलाचरण, रचनाकाल, आधार-ग्रन्थ तथा कविवंश का परिचय दिया गया है। रचना-काल ग्रन्थ के प्रारम्भ में पांचवें दोहे में और अन्त में १८७वें दोहे में दो बार दिया गया है। इसी प्रकार आधार-ग्रन्थों का परिचय भी प्रारम्भ में चौथे दोहे में और अन्त में १८७वें दोहे के प्रथम भाग मे दो बार किया गया है। १८४वें दोहे के बाद दो दो दोहों को मिला कर एक दोहा मानकर उनकी संख्या १८७ की गयी है। वस्तुतः उनकी कुल संख्या १९० है।

प्रथम दो दोहों में मंगलाचरण लिखने के पश्चात् तीसरे दोहे में अलंकार-स्वरूप का कथन है। रसिक सुमति के अनुसार शब्दार्थ की विविध विचित्रता को अलंकार कहते हैं :—

सबद अरथ की चित्रता, बिबिध भांति की होई।
अलंकार तासों कहत रसिक विवुध कवि लोइ ।।३।।

यहाँ परिभाषा में शब्द का कथन पहले है, और अर्थ का कथन बाद में, फिर भी चन्द्रोदय में अर्थालंकारों का वर्णन पहले हुआ है और शब्दालंकारों का उसके पश्चात्। संभवतः अर्थालंकारों की प्रधानता को ध्यान में रख कर ऐसा किया गया हो।

उपमान और उपमेय से अनेकों अलंकार बनते हैं, इसीलिए रसिक सुमति को सर्वप्रथम उन्हीं का वर्णन करना अभीष्ट है :—

उपमान रु उपमेय तें अलंकार बहु होत।
यातें पहले दुहुनि के लछन करत उदोत ।।६।। अ० चं०

अतः सबसे पहले उन्हीं के लक्षण दिए गए हैं, फिर वाचक और साधारण धर्म के। उपमेय और उपमान के सम्बन्ध से ही वे सभी उपमाओं का वर्णन करते हैं। 'मालोपमा' और 'रसनोपमा' को देखिए :—

उपमेय इक उपमान बहु, मालो उपमा सोइ।
खजन ऐसे मीन से मृग से दृग अवलोइ ।।१९। अ० चं०

जहाँ प्रथम उपमेय ही, होतु जाइ उपमान।
रसनोपम सो कंज से नैन, नैन से बान ।।२०।। अ० चं०

इस प्रकार रसिक सुमति ने भी उपमा की महत्ता प्रतिपादित करके उसको प्रधानता दी है।

चन्द्रोदय का आधार यद्यपि कुवलयानन्द है, जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रन्थ के आदि में और अन्त में दो स्थलों पर उल्लेख किया है[1], तथापि उसमें व्याज स्तुति,

---

१—(i) रसिक कुवलयानन्द लखि, असि मन हरष बढ़ाइ।
अलंकार चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाइ ।।४।। अ० चं०
(ii) तिनि मथि कुवलयानन्द मत अनौं किया उद्योग।
अलंकार चन्द्रोदय निकार्यो सुमति लिखिवे जोग ।।१८७।। अ० चं०

ब्याज निन्दा, कारक दीपक, प्रौढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, विषादन, उल्लास, अवज्ञा, विशेष, सूक्ष्म, पिहित, विवृतोक्ति और छेकोक्ति—इन तेरह अलंकारों का विवेचन नहीं हुआ है, शेष ८७ अलंकारों का उनके भेदों सहित प्रतिपादन किया गया है। इन अलंकारों को छोड़ देने का कोई कारण ज्ञात नहीं होता। परन्तु मालोपमा और रसनोपमा को यहां स्थान मिल गया है।

चन्द्रोदय में अलंकारों का जो क्रम रक्खा गया है, वह भी कुवलयानन्द के क्रम से सर्वथा भिन्न है। उनमें तनिक भी समानता नहीं है। अलंकारों के नामों में भी कुवलयानन्द से कुछ भिन्नता है। जैसे यहां कारणमाला को 'गुम्फ', पर्याय को 'क्रम पर्याय' के नाम से लिखा गया है।

इस ग्रन्थ की शैली को देखकर यह जान पड़ता है कि कवि ने उसे सरल से सरल बनाने का प्रयास किया है। एक तो भाषा-भूषण की भांति यहाँ भी एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं और दूसरे उपमेयोपमान वाले, विशेष्य विशेषण वाले अथवा वाक्यगत अलंकारों के पहले उनमें आने वाले पारिभाषिक शब्दों—उपमान उपमेय, विशेष विशेषण, वाक्य-पद—का स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

यद्यपि चन्द्रोदय में वर्णित अलंकारों के क्रम में कुवलयानन्द और चन्द्रालोक दोनों से भिन्नता है, और कहीं कहीं नामों में भी अन्तर है, तथापि उस पर कुवलयानन्द का प्रभाव स्पष्ट है। ग्रन्थ की लेखन शैली में चन्द्रालोक और भाषा-भूषण से भी सम्भवतः सहायता ली गई होगी, पर लक्षण और उदाहरणों में मुख्यतया कुवलयानन्द को ही आधार बनाया गया है। इसी कारण कवि ने अपने शब्दों में उसी के ऋण को स्वीकार किया है। चन्द्रालोक और भाषा-भूषण का तो नामोल्लेख तक कहीं पर भी नहीं किया गया है। कुछ लक्षण एवं उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :—

परिकर : साभिप्राय विशेषन जु परिकर सोई होई। ८०। अ० चं०
अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे ॥ ६२ ॥ कुवल०

दीपक : दीपक वर्न्य अवर्न्य की, एक कृपा जो सोइ।
गज मद सों नृप तेज सों, जग में भूषित होइ ॥ ८८ ॥ अ० चं०
वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः ॥ ४८ ॥ कुवल०

प्रतिवस्तूपमा : इक समता सूचक सबद वाक्य जुगनि जुग रूप ॥ ९३ ॥ अ० चं०
वाक्ययोरेक सामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ॥ ५१ ॥ कुवल०

तद्गुण : तदगुन निज गुन छांडि कै, संगति को गुन लेइ।
तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीय गुण ग्रहः ॥ १४१ ॥ कुवल०

ऐसे अनेकों लक्षण उद्धृत किए जा सकते हैं जो या तो कुवलयानन्द के अनुवाद हैं, अथवा छायानुवाद हैं। उदाहरण भी अनेक ऐसे हैं जिनमें मूल की छाया है, अथवा कहीं कहीं अनुवाद मात्र भी हैं :—'दीपक' का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। दो एक उदाहरण और भी देख लीजिए :—

गुंफ : दान हेतु धन तें जगत किति दान तें होइ । ३२ । अ० चं०
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः । १०४ । कुवल०

कैतवापन्हुति : यह लखि तरुनि कटाछ मिस बरषतु मन्मथ बान । ३७ । अ० चं०
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥ ३१ ॥ कुवल०

सहोक्ति : सुजस संग परताप तुग्र, नांखि गयौ दरयाऊ । ६४ । अ० चं०
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥ ५८ ॥ कुवल०

इन उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द्रोदय के लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं।

---

*भूषणदाम : खण्डन काइस्थ

(वि० सं० १७८७)

दिलीपनगर निवासी कायस्थ श्रीवास्तव मलूकचन्द्र के पुत्र खण्डन[1] ने 'भूषणदाम' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना वि० सं० १७८७ में की थी[2]। इस ग्रन्थ की रचना उन लोगों के लिए की गई जो इस विषय को नहीं जानते, पर उनके लिए यह रचना नहीं की गई जो सुमति के निकेत हैं[3]।

---

*सा० सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय से प्राप्त हस्तलिखित प्रति संख्या १३४६।२११६ के आधार पर।

१—काइथ खरे सुरहिरिया श्रीवास्तव बुद्धिधाम।
वासी नगर दिलीप के चन्द्र मलूक सुनाम ॥४१२॥ भू० दा०
तिनके सुत खण्डन भए, मंद सुमति वसु जाम।
रच्यौ ग्रन्थ तिन यह सुखद, नाम सुभूषनदाम ॥४१३॥ भू० दा०

२—संवत रिष वसु गुन सु सतरस ऊपर सुखदान।
माघ मास त्रितिया सुकल वार तमापति जानि ॥४१६॥ भू० दा०

३—जो जानत यह मत नहीं, कीनो तिनको हेत॥
तिन कारन कीनो नहीं, जे हैं सुमति निकेत ॥४१४॥ भू० दा०

यह ग्रन्थ कुल ४१६ छन्दों में समाप्त हुआ है, और अन्त में लिखा है "इति श्री खण्डन काइस्थ कृत भूषणदाम सम्पूर्णम् सुभं भवत् ।" भूषणदाम में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों दोनों की विवेचना की गई है। सबसे पहले शब्दालंकारों का वर्णन करने का कारण बताता हुआ कवि कहता है :

बरनत प्रथमहि सब्द के सुमतिवान करि चित्त ।
फिर बहु भांतन अरथ के अलंकार सुन मित्त ॥२॥ भू० दा०
होत सब्द ही तैं अर्थ यहे चित्त में आन ।
पूरब ही तातैं कहो सब्द अलंकृत जान ॥३॥ भू० दा०

क्योंकि शब्द से ही अर्थ का जन्म होता है, अतः शब्द की प्रमुखता के कारण कवि पहले शब्दालंकारों का वर्णन करता है। पर कविता में अलंकार उक्ति भेद से होते हैं, अतः शब्दालंकारों में भी पहले 'वक्रोक्ति' का वर्णन अभीष्ट है :

अलंकार कविता विषैं उक्ति भेद तें होइ ।
वक्र उक्त तातैं कहत प्रथम ग्रंथ मत जोइ ॥४॥ भू० दा०

शब्दालंकारों में यहाँ वक्रोक्ति (श्लेष, काकु), अनुप्रास (विदग्ध, वृत्ति और लाट), यमक, श्लेष और चित्र का निरूपण हुआ है। चित्रालंकार के अन्तर्गत कमलबन्ध, पर्वतबंध, मंत्रीगति, अश्वगति, चन्द्रबंध, चर्मबंध, डवरूबंध, धनुषबंध, हारबंध, कपाटबंध, सर्वतोभद्र आदि बंधों एवं चक्रों, तथा अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि भेदों को भी रक्खा गया है।

'पुनरुक्तवदाभास' को कवि ने उभयालंकार माना है :

भासैं पदपुनरुक्त सो निज पुनरुक्तहि आनि ।
पुनरुक्तीवदभास सो सब्द अर्थ तैं जानि ॥ ६० ॥ भू० दा०

इनके साथ ही शब्दालंकार का प्रकरण समाप्त हो जाता है, और अर्थालंकारों का प्रारम्भ होता है। सबसे पहले उपमान और उपमेय की चर्चा करने में कवि कारण उपस्थित करता है :

उपमान रु उपमेय कर मुष्य अलंकृत होत ।
इन ही को तातें कहत, प्रथम रूप उदोत ॥ ६४ ॥ भू० दा०

तत्पश्चात् 'उपमा' और 'पूर्णोपमा' की विवेचना की गई है। 'पूर्णोपमा' के 'श्रौती' एवं 'आर्थी' दो भेद किए गए हैं। उनके लक्षण नहीं, पर उदाहरण दिए गए हैं। उपमा के बाद फिर अन्य अलंकारों का वर्णन चलता है। यहाँ हेतु तक १०० अलंकारों का उनके भेदों सहित निरूपण हुआ है।

अलंकारों की संख्या, नाम, भेद और क्रम सभी कुछ कुवलयानन्द के अनुकरण पर हैं। भेदों की दृष्टि से थोड़ा सा व्यतिक्रम यह हुआ है कि कुवलयानन्द में

'विशेषोक्ति' अलंकार के भेद नहीं हैं पर भूषण दाम में उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिंत्यनिमित्ता नामक तीन भेदों की चर्चा है जो संभवतः रसिक रमाल या काव्य प्रकाश से लिए गए हैं। अलंकारों का ही नहीं, उनके भेदों का क्रम भी वैसा ही है जैसा कि कुवलयानन्द में पाया जाता है।

कवि की इच्छा तो इनके अतिरिक्त अन्य अलंकारों के वर्णन करने की थी, पर ग्रन्थ के विस्तार-भय से वह ऐसा न कर सका।

सब्द अर्थ भूषन रुचिर बरने मति अनुसार।
और हेत ते ना कहे डरपि ग्रन्थ विस्तार॥ ४११॥ भू० दा०

जिन अलंकारों का कवि यहाँ विस्तार भय से वर्णन नहीं कर सका, वे संभवतः पंचदश तथा संसृष्टि और संकर अलंकार ही होंगे जिनका वर्णन कवि के आधार-ग्रन्थ कुवलयानन्द में हैं।

अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में हैं। वैसे तो लक्षण और उदाहरण में संगति है। एक दोहे में लक्षण कहकर दूसरे दोहे में उदाहरण दे दिया गया है, पर जहां अलंकार के भेदों का निरूपण है वहां यह संगति नहीं रह सकी। भेदों का निरूपण एक साथ कर दिया गया है, तब एक साथ उनके उदाहरण रख दिए गए हैं (देखो-प्रतीप आदि अलंकार)। परन्तु उदाहरण को समझने में कठिनाई नहीं पड़ती क्योंकि उदाहरण के साथ उसके अलंकार का शीर्षक दे दिया गया है।

सभी लक्षण स्पष्ट, सरल और सुबोध हैं, उसी प्रकार उदाहरण भी। लक्षण सभी कुवलयानन्द के अनुकरण पर ही हैं। कवि ने उनका अनुवाद सा किया है, पर अनुवाद करते समय लक्षणों की स्पष्टता का ध्यान रक्खा गया है। दो एक उदाहरण देखिए :—

रूपक : बर्नत है विषई विषय कर अभेद तद्रूप।
अधिक हीन सम विपत्रविधि है रूपक सुअनूप॥ ८८॥ भू० दा०
विषय्यभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत्।
रूपकं तत्त्रिधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः॥ १७॥ कुवल०

परिणामः लहि अभेद उपमेय सों करै क्रिया उपमान।
प्रकत रूप पहिरै न वै परिनाम सुबुधिवांन॥ ९५॥ भू० दा०
परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना॥ २१॥ कुवल०

प्रतिवस्तूपमाः जहां वाक्य जुग को धरम भिन्न पदन सों एक।
है तहं प्रतिवस्तूपमा वरनत सुकवि अनेक॥ १५९॥ भू०दा०
वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता॥ ५१॥ कुवल०

यहाँ भूषणदाम का लक्षण संस्कृत लक्षण से अधिक स्पष्ट हैं, इससे ज्ञात होता है कि कवि ने आधार-ग्रन्थ का शब्दशः अनुवाद अंधानुकरण करके नहीं किया वरन् अपनी बुद्धि का भी उसने उपयोग किया है।

ऐसे अनेक उदाहरण इस ग्रन्थ में भरे पड़े हैं जहां कवि ने स्वतंत्र बूझ से काम लेकर अनुवादों को सफल बना दिया है।

उदाहरणों में भी आधार-ग्रन्थ की छाया है, पर वहाँ कवि ने अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया है। ये उदाहरण प्रायः शृंगार रस से सम्बन्ध रखते हैं।

अन्त में यह कहना उचित ही है कि भूषणदाम का आधार ग्रन्थ कुवलयानन्द है। हां, शब्दालंकारों के विवेचन में तथा श्रौती और आर्थी भेदों में काव्य प्रकाश एवं साहित्य दर्पण से भी सहायता ली गई है।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से ग्रन्थ का विशेष मूल्य नहीं हैं, लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी का पालन करने वाले ग्रन्थों में ही उसकी गणना की जा सकती है।

अलंकार-रत्नाकर : दलपतिराय वंशीधर

(वि० सं० १७९१)

'अलंकार-रत्नाकर' ग्रन्थ की रचना अहमदाबाद निवासी दलपतिराय वंशीधर ने वि० सं० १७९१ में की थी[१]। इसकी एक अपूर्ण प्रति पं० कृष्णबिहारी मिश्र ग्रन्थालय, गंधौली (सीतापुर) में विद्यमान है। इसमें दलपतिराय ने तो कुवलयानन्द के अर्थ को बांधा है, और वंशीधर ने कहीं कहीं कवित्त बनाकर रक्खे हैं[२]। ग्रन्थ-रचना का कारण बताते हुए कवि कहते हैं :—

कीन्हो रसमय रसिक कवि सरस बढ़ाय विवेक।
छाया लहि गिरिवान की भाषा ग्रंथ अनेक ॥ ५ ॥
तदपि अलंकृत ग्रन्थ को काहू कवि नहिं कीन।
भाषा भूषन है जऊ कहुं यक लक्षण हीन ॥ ६ ॥
याते ताहि सुधारि कै, देखि कुवलयानन्द।
अलंकार रत्नाकर जु किय, कवि आनंद कन्द ॥ ७ ॥
कहूं कहूं पहले धरे उदाहरण सरसाय।
कहूं नये करिकै धरैं लक्षन लक्ष्य जताय ॥ ८ ॥ अ० र०

१— सत्रह सौ यक्यानवै माह पक्ष शशि सार।
शुभ वसंत पांचें भयो यहै ग्रंथ अवतार ॥ २० । अ० र०

२— अर्थ कुवलयानन्द को बांध्यो दलपतिराय।
वंशीधर कवि ने धर्यो कहूँ कवित्त बनाय ॥ ९ । अ० र०

इस ग्रन्थ का 'अलंकार-रत्नाकर' नामकरण क्यों किया गया है इसका स्पष्टीकरण कवियों ने स्वयं इस प्रकार किया है :—

धरे कविन के कवित बहु तिन ही को गुण लेहु ।। १२ ।।
कहुं सिंगार कहुं हास रस कहूं वीर कहुं भीति ।
कहूं शान्त करुणा कहूं कहुं अद्भुत कहुं नीति ।। १३ ।।
इन्हें आदि दै रस सकल बरनै कविता अंग ।
कहूं कहूं क्रम बिनु धरे सो सो पाय प्रसंग ।। १४ ।।
अलंकार रत्नाकर जु दयो नाम एहि हेतु ।
चारि तरंगन कै रच्यौ, अलंकार संकेतु ।। १५ ।। अ० र०

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल चार तरंगें हैं। प्रथम तरंग में पीठिका (भूमिका) दूसरी में सौ अलंकार, तीसरी में रस-प्रमान (रसवदादि तथा प्रमाणादि अलंकार) और चौथी तरंग में शंकर अलंकार का निरुपण किया गया है[1] ।

उपलब्ध प्रति में केवल दो तरंगे हैं, अन्त की दो तरंगें नहीं हैं, पर तीसरी तरंग में वर्णित होने वाले अलंकारों की सूची यहां हैं :—

करि प्रणाम तिन चरण को दीनी बुधि जिन देव ।
अलंकार औरै कह्यौ प्रगट पंचदश भेव ।। १
रसवत बहुर्यो प्रेय बहुरि उर्ज्जस्वितहि लहि ।
समाहितहि पुनि जोरि बहुरि भावोदय ही कहि ।।
भावसंधि पुनि लेखि बहुरि कहि भाव सबलता ।
पुनि प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान प्रबलता ।।
पुनि शब्द अरु अर्थापत्ति कहि अनुपलब्धि संभव सहित ।
एतिह्य पंचदश जानि यहु अलंकार सुकविचित ।। २

फिर 'यथा रसवदाऽलंकार' लिखने के पश्चात् कुछ नहीं है। इस 'यथा' शब्द से अनुमान होता है कि आगे रसवदादिक अलंकारों के उदाहरण दिए गए होंगे। अस्तु—

इस उपर्युक्त कथन से इतना प्रमाणित हो जाता है कि यह एक शुद्ध अलंकार ग्रन्थ ही है और इसमें केवल अर्थालंकारों का ही वर्णन है, शब्दालंकारों का नहीं। इन प्राप्त दो तरंगों में से प्रथम तरंग में बीस और द्वितीय तरंग में ४०३, कुल मिलाकर ४२३ छन्द हैं। इनमें दोहा और कवित्त का प्रयोग किया गया है।

अपनी अलंकार विषयक धारणा को प्रगट करते हुए कविद्वय ने लिखा है :—

जदपि नारि सुन्दरि सुघर दिपति न भूषन हीन ।
त्यों न अलंकृत बिनु लसै कविता सरस प्रवीन ।। १-४ ।। अ० र०

१—प्रथम पीठिका दूसरे अलंकार सत जान ।
रस प्रमान तीजे धरे, चौथे शंकर मान ।। १६ ।। अ० र०

इस कथन से सिद्ध होता है कि कविता के सरस होने पर भी अलंकार के अभाव में वह उसी प्रकार शोभित नहीं हो सकती जिस प्रकार सुन्दर और सुघर स्त्री आभूषणों के बिना शोभित नहीं हो पाती। अतः इस ग्रन्थ के कर्ताओं की दृष्टि में अलंकार कविता के लिए आवश्यक है। केवल सरसता ही कविता के लिए पर्याप्त नहीं, अलंकार भी आवश्यक हैं। अलंकारों के सद्भाव में ही कविता सुन्दर हो सकती है, अलंकारों के बिना उसका कोई महत्व नहीं, भले ही उसमें सरसता क्यों न हो।

अलकार वर्णन का प्रारम्भ 'अनन्वय' अलंकार से होता है यहाँ, उपमा, उल्लेख, स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह और स्वभावोक्ति अलंकारों को छोड़ दिया गया है। उपमा जैसे मूलभूत और महत्वपूर्ण अलंकार का निरूपण क्यों नहीं किया गया—इसका कोई कारण समझ में नहीं आता और न उसका ग्रन्थ में ही कोई उल्लेख है। अलंकारों के नाम, क्रम तथा भेद वैसे ही हैं जैसे कि कुवलयानन्द में। कुवलयानन्द की भांति 'परिणामालंकार' के पश्चात् उल्लेखादि अलंकार आने चाहिए थे, पर उनका यहां कोई उल्लेख नहीं है। इसी कारण 'परिणाम' के बाद यहां 'अपन्हुति' अलंकार आया है। हां, 'विरोधाभास' का क्रम अवश्य कुछ भिन्न है। कुवलयानन्द में यह 'आक्षेप' के पश्चात् आता है और यहां उसे 'विभावना' के बाद स्थान दिया गया है।

अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में लिखे गए हैं। लक्षण उदाहरण लिखने के लिए चन्द्रालोक की शैली अपनाई गई है। अर्थात् दोहे के आधे अंश में लक्षण और दूसरे आधे भाग में उदाहरण दिया गया है। परन्तु किसी भी अलंकार के लिए एक उदाहरण पर्याप्त नहीं समझा गया। कहीं कहीं तो दो से भी अधिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। ये उदाहरण दोहों के अतिरिक्त कवित्त और सवैयों में भी लिखे गए हैं। ये उदाहरण केवल ग्रन्थकर्ताओं के अपने ही नहीं हैं, वरन् अन्य हिन्दी कवियों से भी उद्धृत किए गए हैं। पर प्रत्येक ऐसे उदाहरण के साथ 'इति दलपति-रायस्य', 'इति वंशीधरस्य', 'इति हृदयानन्द सनावरस्य', लिखकर उन कवियों का नाम-निर्देश अवश्य कर दिया गया है। इनके अतिरिक्त यहाँ सेनापति, राधाकृष्ण, केशव, बलभद्र, मुकुन्दलाल, सूरति, बिहारी, देव, चिंतामणि, मतिराम आदि अन्य कवियों के छन्द भी उद्धृत किए गए हैं। इससे जान पड़ता है कि कविद्वय ने इन सभी कवियों का अध्ययन किया था।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता तो इस बात में है कि कविद्वय ने अलंकारों का स्वरूप समझाने के लिये यथाशक्ति उनका स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। इसी कारण अनेक अलंकारों में प्रायः वार्तिक (गद्य में) लिखा गया है। यथा—"प्रतिवस्तूपमालंकार–वार्तिकः जहां दोइ वाक्य होय तामें एक एक उपमेय

और दूजो उपमान और दोय वाक्यन को सम धर्म जुदे जुदे पद होय ये दोहून धर्मन को भावार्थ एक ही हैं शोभा रूप।" इसी प्रकार के वार्तिक रूपक, परिणाम, शुद्धापहुन्ति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, दीपकावृत्ति आदि अनेक अलंकारों के साथ दिए गए हैं।

अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में अन्विति है। एक अलंकार का लक्षण देने के बाद ही उसका उदाहरण भी दे दिया गया है। इस कारण कहीं कोई गड़बड़ नहीं हो पाई है।

अलंकारों के लक्षणों में कुवलयानन्द की छाया स्पष्ट है। दो एक उदाहरण यहां दिए जाते हैं:—

प्रस्तुतांकुर :

प्रस्तुत अंकुर है किए प्रस्तुत में प्रस्ताइ।
कहां गयो अलि केवरा छांड़ि सकोमल जाइ॥ ५० ॥ अ० र०
प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुतांकुरः ।
किं भृंग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया॥ ६७ कु० ।

समासोक्ति :

समासोक्तिअप्रस्तुत फुरै प्रस्तुत वरनन मांझ।
कुमुदिनि हू प्रफुलित भई देखि कलानिधि सांझ॥ २५ अ० र०॥
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।
अयमैन्द्री मुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमाः॥ ६१ कु०॥

इसी प्रकार के और अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ पर कुवलयानन्द का प्रभाव है जो संभवतः भाषा-भूषण के माध्यम से आया है। क्योंकि ये लक्षण और उदाहरण भाषा-भूषण के ही हैं। कवियों ने भी स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि भाषा-भूषण में कहीं-कहीं लक्षण हीन हैं, अतः उनको सुधारकर और कुवलयानन्द को देखकर ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है। यथाः—

तदपि अलंकृत ग्रंथ को काहू कवि नहिं कीन।
भाषाभूषन है जऊ कहुँ यक लक्षण हीन॥ ६
याते ताहि सुधारि कै देखि कुवलयानन्द—।
अलंकार रत्नाकर जु किय कवि आनंद कंद॥ ७

रस-पीयूष-निधि—सोमनाथ

(वि० सं० १७९४)

सोमनाथ मिश्र ने अपने विश्रुत ग्रन्थ 'रसपीयूषनिधि' की रचना वि० सं० १७९४ में व्रजनरेश बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह की आज्ञा से की थी[१]। उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

मिश्रनरोत्तम नरोत्तम भए छिरौरा वंस ।
रामसिंह के मंत्रगुरु माथुर कुल अवतंस ।। २-२ ।
तिनके पुत्र प्रसिद्ध देवकी नन्दन भए ।। २-३ ।
तिनके अनुज अनूप एक श्रीकंठ सुहाए ।।
ताके जागे भाग जिननि वेद रसन पाए ।। २-४ ।
उपजे नंदनमिश्र के चारि पुत्र सुखदानि ।
नीलकंठ मोहन बहुरि मिश्र महामति जानि ।। २-५ ।।
चौथे राजा राम पुनि निजमन में पहिचानि ।। २-६ ।।

१—अ—सत्रह सौ चौरानवा संवत जेठ सुमास ।
कृस्न पछ दसमी भृगौ भयो ग्रन्थ परगास ।। २१-३०५ । र०पी०नि०

आ—तिनके भयो प्रसिद्ध अति बदनसिंह सौ लाल ।
दियो राज व्रज को हरषि जिनकों श्रीनंदलाल ।। १-१० ।। वही

इ—बखत बली है तनय सब तिनके प्रगट अपार ।
राजकाज करता बड़े सूरज मल्ल उदार ।। १-१३। र०पी०नि०
बाहुबली तिनके अनुज श्री परताप सुजान ।
धरम धुरंधर जगत में मौज भोज परवान ।। १-१५ ।। र०पी०नि०
सो यह कुंवर प्रताप को हुकुम पाइ सविलास
रसपियूषनिधि ग्रंथ को बरनत सहित हुलास ।।२-१ । र०पी०नि०

नोट—रसपीयूषनिधि की जो हस्तलिखित प्रति मुझे डा० व्रजकिशोर मिश्र लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त हुई है, उसमें केवल इक्कीस तरंगें ही हैं, परन्तु डा० भगीरथ मिश्र ने अपने 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' नामक ग्रन्थ में १२६ पृष्ठ पर उसका जो विवरण दिया है, उसमें बाईस तरंगों का उल्लेख है। डा० सत्यदेव चौधरी ने भी इतनी ही तरंगों की बात कही है। यह अन्तर सम्भवत: लिपिकार की इस गलती के कारण हो गया है कि उसने बीसवीं तरंग में ही यहां गुणों के साथ शब्दालंकारों का वर्णन कर दिया है और गुण निरूपण के अन्त में बीसवीं तरंग समाप्त न लिखकर उसी में शब्दालंकारों का वर्णन कर दिया है। वस्तुत: यह वर्णन इक्कीसवीं तरंग में होना चाहिए था।

तिनके पुत्र आनन्द निधि बड़े उजागर जानि ।। २-८ ।।
गंगाधर तिनके अनुज गंगाधर परवान ।
सोमनाथ तिनको अनुज सबते निपट अयान ।। २-९ ।। र०पी०नि०

अर्थात् सोमनाथ महाराज रामसिंह के मंत्रगुरु, माथुर ब्राह्मण छिरौरावंशावतंस नरोत्तम मिश्र के वंशधर, नीलकण्ठ मिश्र के आत्मज तथा गंगाधर के छोटे भाई थे।

ग्रन्थ-परिचय :—सोमनाथ का यह ग्रन्थ 'रस-पीयूस-निधि' हिन्दी काव्यशास्त्र का सम्पूर्ण काव्यांगों का विवेचन करने वाला अत्यधिक प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। यह २१ तरंगों (अध्यायों) में विभक्त है, और इसमें कुल ११०५ छन्द हैं। प्रथम तरंग में २५ छन्दों में मंगलाचरण, राजकुलवर्णन, व्रज वर्णन और सभा वर्णन है, द्वितीय तरंग कविप्रशंसा और कविकुलपरिचय से सम्बन्धित है और यह ११ छन्दों में ही समाप्त हो जाती है। तृतीय से लेकर पंचम तरंग तक में कुल १८५ छन्दों में मात्रिक और वार्णिक छन्दों का विचार किया गया है। षष्टम तरंग ५५ छन्दों में काव्यलक्षण आदि पर विचार करती है। सप्तम तरंग में ५१ छन्दों में ध्वनिवर्णन, तथा अष्टम तरंग से लेकर एकादशम तरंग तक में १८३ छन्दों में शृंगार रस, भेदों सहित स्वकीया, गणिका, अन्यसंभोगदुःखिता, मान स्वाधीनपतिका आदि का विवेचन हुआ है। द्वादशम एवं त्रयोदशम तरंगें सखी, नायक, आदि के वर्णन से सम्बन्ध रखती हैं, जिनमें कुल मिलाकर ७० छन्द हैं। चतुर्दश तरग में ३३ छन्दों में हावों का विश्लेषण है, तथा पंचदश् और शोडष तरंग में ४५ छन्दों में वियोग शृंगार, उसकी दस दशाओं एवं हास्यादि अष्ट रस की व्याख्या की गई है। सप्तदशम तरंग ४३ छन्दों में भावध्वनि पर विचार करके समाप्त हो जाती है। अष्टादशम तरंग में अठारह ही छन्द हैं और मध्यमकाव्यवर्णन से सम्बन्ध रखती हैं। एकोनविंशतितम तरंग के ४६ छन्द दोषों का निरूपण करते हैं, विंशतितम तरंग अपने ३३ छन्दों के भीतर गुण, चित्रकाव्य एवं अनुप्रास की चर्चा करके समाप्त होती है। अन्तिम एकविंशतितम तरंग ३०५ छन्दों में अर्थालंकारों का निरूपण करती है। यही तरंग अन्य सब तरंगों में सबसे बड़ी है।

छन्दों पर विचार करने के पश्चात् सोमनाथ काव्यस्वरूप, प्रयोजन, हेतु आदि का कथन करते हैं। पिंगलवर्णन को प्राथमिकता देने का कारण उन्होंने बताया है कि पिंगल-ज्ञान के बिना छन्द की रीति समझ में नहीं आती (काव्यछन्दोबद्ध होता है, अतः काव्य का ज्ञान करने के लिए छन्दोज्ञान भी आवश्यक है) यथा—

छंद रीति समुझै नहीं बिनपिंगल के ज्ञान ।
पिंगलमत ताते प्रथम रचियतु सहित सयान ।। ३-१ । र०पी०नि०

आगे काव्य-स्वरूप आदि का जो वर्णन है वह अधिकांशतः काव्यप्रकाश से प्रभावित है। काव्य का लक्षण उन्होंने किया है:—

सगुन पदारथ दोष बिन पिंगलमत अविरुद्ध ।
भूषन जुत कविकर्म जो सो कविता कहि शुद्ध ।। ६-२ र०पी०नि०

काव्य-प्रयोजन: कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देत ।
करति भलो उपदेश नित यह कविता चित चेति ।।६-३। र०पी०नि

कारण : कवि सों सुनिये वहुत पुनि करिये अति अभ्यास ।
तासों कविता होति है बाढ़त हिए हुलास ।। ६-४ । र०पी०नि०
बिना सुने अभ्यास बिनु कविता होत अनंत ।
सो प्रसाद गुरु देव को बरनत सब गुनवंत ।। ६-५ । र०पी०नि०

यह सम्पूर्ण विवेचन काव्यप्रकाश को आधार बनाकर किया गया है। तुलना करने पर उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी। मिलाइए:—

काव्य-स्वरूप : तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि । ११ का०प्र०

इस लक्षण और सोमनाथ के लक्षण में अन्तर इतना ही है कि मम्मट को कहीं कहीं अलंकार के बिना भी काव्यत्व स्वीकार्य है, पर सोमनाथ काव्य को 'भूषनजुत' ही मानते हैं। अलंकार हीन कविता को कविता कहना वे स्वीकार नहीं करते। साथ ही उनके अनुसार कविता को पिंगलमत से अविरुद्ध होना भी आवश्यक है। मम्मट के लक्षण में इस तथ्य का कथन नहीं है।

काव्य-प्रयोजन: काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।। १-२ । का० प्र०

काव्य हेतु : शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।। १-३ । काव्य०प्र०

काव्य-प्रयोजन दोनों ग्रंथों में एक समान हैं पर काव्यहेतु में सोमनाथ ने मम्मट का शब्दशः भाषान्तरित नहीं किया। उन्होंने मम्मट की काव्यज्ञशिक्षा और अभ्यास इन दो बातों को लेते हुए गुरुकृपा को भी काव्योत्पत्ति में एक हेतु बताया है।

इस प्रकार काव्य-स्वरूप और हेतु में मम्मट का अनुसरण करते हुए भी सोमनाथ ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है, केवल संस्कृत आचार्यों का उलथा करके नहीं रख दिया है।

आगे चलकर सोमनाथ ने 'व्यंग्य' को काव्य का प्राण बताया है, शब्द को शरीर तथा अर्थ और गुण को उसकी शोभा एवं दोषों को दूषण[1]। दूसरे शब्दों में

१—व्यंगि प्रान अरु अंग सब इष्ट अरथ पहिचानि ।
दोष और गुन अलंकृत दूषनादि उर आनि ।। ६-६ । र०पी०नि०

काव्य पुरुष का प्राण है व्यंग्य, तथा शब्द, अर्थ गुण और अलंकार आदि उसके अंग हैं। इस कथन से ज्ञात होता है कि सोमनाथ ध्वनिसिद्धान्त के अनुयायी थे।

तत्पश्चात् जो काव्यभेद, ध्वनि, रस आदि का धारावाहिक वर्णन किया गया है उसका आधार भी प्रायः काव्य प्रकाश और ध्वन्यालोक है। रस निरूपण में उन्होंने भरतमुनि और अभिनवगुप्त के मत उद्धृत करते हुए कहा है:—

जहाँ विभाव अनुभाव सहित संचारी भाव व्यगि कियौ थिरभाव।
यही रस रूप बताव। ७-४४। भरतमत को लक्षण कह्यौ।

परन्तु यहाँ भरतमत[२] से कुछ भिन्नता जान पड़ती है। क्योंकि यहां सोमनाथ ने 'व्यंगिकियौ थिर भाव' वाली जो बात कही है, वह भरतमत में स्पष्ट नहीं है। आगे अभिनवनुप्त का मत दिया गया है:—

अथ नवगुप्तपदाचार्य को लक्षण कहत हैं :—

सुनि कवित्त कौं चित्त मधि सुधि न रहै कछु और।
होइ मगन विहि मोद मैं सो रस कहि सिरमौर ॥ ७-४५ र०पी०नि०

दोषों के लक्षण और उदाहरण बहुत ही स्पष्ट हैं और व्यवस्थित ढंग से दिए गए हैं। गुण निरूपण में प्रसाद, माधुर्य और ओज नामक तीन गुणों का उसकी सामग्री सहित सुन्दर वर्णन हुआ है। इस वर्णन में गुण और अलंकार का स्पष्टीकरण भी किया गया है। प्रथम पूर्व पक्ष में शंका करके उत्तर पक्ष में उसका समाधान करते हुए दोनों का अन्तर स्पष्ट किया गया है। यथा :—

दोऊ रस दाइक प्रगट गुन अरु भूषन जानि।
भेद दोहुनि में होय क्यों कहिये सो हित बानि ॥२०-१३। र०पी०नि०

अब याकों उत्तर :—"गुन सदा एक रस है और अलंकार कहुँ रस कों पोषतु है कहूँ उदास है, कहूँ दूषक है यह भेद"।

अलंकार किस प्रकार रस का पोषण करता है, किस प्रकार रस से उदास रहता है और किस प्रकार रस का दोषक होता है, इस बात को पृथक् पृथक् उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। देखिए :—

रसपोषक अलंकार :—

कंचन सेतन सारी सुरंग किनारी सो दामिन जोति जितौनिवे।
ओट अली की अचानक आई हरे हसि पीर वियोग वितौनिवे।
और कहा कहिए ससिनाथ करी उन ता छिन हेत हितौनिवे।
नैनन में कस कै अजहू बरछी सी बनी तिरछौहीचितौनिवे।
२०-१४ ॥ र० पी० नि०

२—विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। भरत मुनि।

यहां 'बरछी सी' यह 'उपमाअलंकार' सिंगार कों पोषतु है।

अथ रस ते उदास अलंकार यथा :—

विद्या बुद्धि विचार बल वाहन वित्त अपार।
अंत समैं पै होत ए वृथा सवै इक बार। २०-१५। र० पी० नि०

यहां 'शान्त रस' में 'वृत्यनुप्रास' उदास है।

अथ रस को दोषक अलंकार यथा :—

गहकि गहकि कर खरग गहि लहकि लहकि पग देत।
झनक भनक बखतरनि पैं वाहत वाहन लेत॥ १०-१६। र०पी०नि०

यहां रुद्र रस में 'छेकानुप्रास' दोपक है। ए शब्द ह्यां न चाहिए।

इसी बीसवीं तरंग में गुणनिरूपण के साथ शब्दालंकार और चित्रालंकार का विवेचन भी हुआ है। शब्दालंकारों में हैं—वक्रोक्ति, अनुप्रास (लाट, छेक, वृत्ति) यमक और श्लेष। सर्वप्रथम 'वक्रोक्ति' के लक्षण और उदाहरण हैं। उसको प्राथमिकता देने का कारण है :—

अलंकार जो होत सो उक्त भेद तें होतु।
वक्र उक्ति कों प्रथम ही तातें करत उदोतु॥ २०-१७। र० पी० नि०

फिर, अनुप्रास का लक्षण और उसके भेद दिए गए हैं। सोमनाथ ने अनुप्रास के तीन भेद किए हैं—"लाटा छेक वृत्ति पुनि त्रिविध हिये पहिचानि"। अब तक आचार्यों ने (जसवंतसिंह, कुलपति मिश्र आदि ने) केवल दो भेद ही माने थे, 'लाट' को अनुप्रास का भेद नहीं बताया था। मम्मट भी अनुप्रास के 'छेक' और 'वृत्ति' दो भेद ही बताते हैं। सोमनाथ का 'लाट' को अनुप्रास के अन्तर्गत रखना उचित ही है क्योंकि 'लाट' में भी अनुप्रास की भांति वर्णों की आवृत्ति होती है। यहां 'श्लेष' को शब्दालंकारों के अन्तर्गत ही बताया गया है, अर्थालंकार में नहीं, जबकि अप्पयदीक्षित आदि ने उसे अर्थालंकार ही माना है, शब्दालंकार नहीं। कुलपति मिश्र ने मम्मट के आधार पर 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार ही स्वीकार किया है। सोमनाथ ने 'वक्रोक्ति' की गणना दोनों प्रकार के अलंकारों में कराई है।

'चित्रालंकार' में सोमनाथ ने भूषनबंध—फूलबंध--कपाटबंध—चक्रबंध—धनुबंध,—मित्रगति—गतागतचित्र और चरणगुप्त का उल्लेख किया है।

सोमनाथ का यह शब्दालंकार निरूपण मम्मट से प्रभावित है। मम्मट का यह प्रभाव कुलपति के माध्यम से आया जान पड़ता है। क्योंकि सोमनाथ और कुलपति दोनों के लक्षण एक समान हैं, यदि कहीं कुछ हेरफेर है भी तो वह कहीं शब्दों को इधर उधर रखने अथवा कहीं पर्यायवाची शब्द बदल देने से हो गया है। देखिए :—

वक्रोक्ति :— शब्द कछू औरै कहै कढ़ै और ही अर्थ ।
ताही को वक्रोक्ति कहि वरनै सुकवि समर्थ ॥२०-१८। र० पी० नि०
कहै बात औरै कछू अर्थ करै कछू और ।
वक्र उक्ति ताको कहें श्लेष काकु द्वै ठौर ॥७-४। र० र०
यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ९-७८ । का०प्र०

यहाँ अन्तर इतना ही है कि कुलपति ने मम्मट की भांति श्लेष और काकु दो भेद भी वक्रोक्ति-लक्षण के साथ ही कह दिए हैं, पर सोमनाथ ने भेदों की कोई चर्चा नहीं की ।

यमक : शब्द एक ही भांति अरु अर्थ और ई होइ ।
जमक ताहि पहिचानियौ सुनत हिए सुख भोइ ॥२०-३०। र०पी०नि०
अर्थ होय भिन्नै जहाँ, शब्द एक अनुहार ।
जमक कहत तासों सबै, भेद अनन्त विचार ॥ ७-१६ । र० र०
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकम्..॥ काव्यप्रकाश

श्लेष : एक शब्द के होत जंह अर्थ अनेक सुभाइ ।
श्लेष कवित्त सुजानिये प्रगट कह्यो समुझाइ ॥ २०-३२ । र०पी०नि०
कहि जहिं अर्थ अनेक को, रहै एक ही रूप ।
शब्द तहां सु श्लेष है, आठ भांति सु अनूप ॥ ७-२७ । र०र०

यहाँ पर भी रसरहस्यकार ने श्लेष के आठ भेदों का उल्लेख कर दिया है, पर सोमनाथ ने भेदों की न इस दोहे में चर्चा की और न अन्यत्र ।

अर्थालंकार

सर्वप्रथम उपमेय और उपमान का वर्णन किया गया है और उनकी प्राथमिकता का कारण अलंकार का मूल बताया गया है:—

अलंकार के मूल हैं उपमेय अरु उपमान ।
ताते तिनकों प्रथम ही बरनत सुनो सुजान ॥ २१-१। र० पी०नि०

यहां उपमा सहित कुल मिलाकर १०१ अर्थालंकारों और संसृष्टि एवं संकर तथा उभयालंकारों में पुनरुक्तवदाभास का वर्णन किया गया है ।

अर्थालंकारों के नाम, क्रम और भेद प्रायः अप्पयदीक्षित के ही अनुकरण पर हैं। यह अनुकरण भी सम्भवतः जसवंतसिंह के माध्यम से किया गया जान पड़ता है । नामों में अप्पयदीक्षित से जो अन्तर पाया जाता है, वह सोमनाथ का अपना

किया हुआ नहीं है, क्योंकि वह अन्तर भाषाभूषणकार जसवंतसिंह के समय से ही प्रचलित है। क्रम में थोड़ा व्यतिक्रम हो गया है। अप्पयदीक्षित में सबसे अन्तिम अलंकार हेतु है पर यहाँ 'प्रत्यनीक' को सबसे बाद में रक्खा गया है। वास्तव में इसे 'समाधि' अलंकार के पश्चात् आना चाहिए था।

भेदों की दृष्टि से इतना ही अन्तर है कि भाषाभूषण अथवा कुवलयानन्द में उपमा के शाब्दी और आर्थी भेद नहीं हैं पर रसपीयूषनिधि में उनकी चर्चा कर दी गई है। ये भेद सम्भवतः साहित्यदर्पण से लिए गए हैं। क्योंकि उनके लक्षणों में समानता पाई जाती है। यथा :—

सो जिमि जैसे ऐसैई शाब्दी और सम समान सदृशतुल्य ए आरथी
उपमा कहिए। ७४-४। र० पी० नि०
श्रौति यथेववा शब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि।
आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः॥ १०-१६ सा० दर्पण

शेष सभी भेद कुवलयानन्द की ही भांति हैं।

लक्षण और उदाहरण :—अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में ही दिए गए हैं, पर उदाहरण दोहा के अतिरिक्त कवित्त सवैयों में भी लिखे गए हैं। सोमनाथ के लक्षण अधिकतर स्पष्ट और सरल हैं। पर कहीं कहीं वे अपूर्ण और अशुद्ध भी हो गए हैं। इसका कारण प्रायः जसवन्तसिंह का अनुकरण करना जान पड़ता है, यद्यपि कहीं सोमनाथ ने जसवन्तसिंह की कमी को पूर्ण करने का प्रयास भी किया है। यथा :—

विवृतोक्तिः—वहां होता है जहां कवि द्वारा श्लिष्ट गुप्त भाव प्रकट कर दिया जाता है :—

विवृतोक्ति श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि। १५५। कुवल०

जसवंतसिंह ने इसी का लक्षण किया है :—

स्लेष्य छप्यो परगट किए विवृतोक्ति है ऐन। १८४। भा० भू०

यहां 'कवि वाली बात' नहीं आ पाई—परन्तु सोमनाथ ने इस त्रुटि को पूर्ण करते हुए कुवलयानन्द के आधार पर इसका लक्षण इस प्रकार दिया :—

पर को प्रकट करत जहं दुर्‌यौ सलेष सुवात।
बरनत ताको सुकवि कहि विवृतोक्ति अवदात॥२१-२७३। र०पी०नि०

अपूर्ण और अशुद्ध लक्षणों के उदाहरण :—

प्रतिवस्तूपमा, और निदर्शना अलंकारों में औपम्य गर्भित होता है। सोमनाथ ने जसवंतसिंह की भांति इनके लक्षण लिखते समय उक्त बात का ध्यान नहीं रक्खा और फलतः उनके लक्षण सदोष हो गए :—

प्रतिवस्तूपमा : होइ समान सु वाक्य द्वै प्रतिवस्तूपम सोइ। २१-९२। र०पी०नि०
प्रतिवस्तूपम समझिये दोऊ वाक्य समान॥ ८५। भा० भू०

मीमांसाद शब्दवत श्रुति लिंग को प्रमान है।
यहै लखाय जोग अर्थापत्ति मानिए।
है न है अनुपलब्धि सम्भवित सम्भव सो,
यहै होय ऐतिह्य सो ये प्रमान जानिए ॥ ७५ ॥ क० कु० कं०

इसके पश्चात् एक ही कवित्त में उनके उदाहरण भी दे दिए गए हैं। इस प्रकार इन पन्द्रह अलंकारों का वर्णन कुल ६ कवित्तों में समाप्त हो गया है।

तदुपरान्त 'संकर' और 'संसृष्टि' के लक्षण देकर 'संकर' के पांच भेदों—अंगांगिभाव, समप्राधान्य, सन्देह, एकवाचकानुप्रवेश, नृसिंहाकृति—के नाम दिए गए हैं। उनके लक्षण और उदाहरण नहीं हैं। कुवलयानन्द में भी इनके लक्षण नहीं हैं, पर उदाहरण अवश्य हैं। 'संसृष्टि' का उदाहरण है, पर 'संकर' का नहीं।

'तिल तंदुल न्याय' वाले को 'संसृष्टि' और 'नीर क्षीर न्याय' वाले को 'संकर' बताया गया है :—

जानि है संसृष्टि तिल तन्दुल के न्याय करि,
नीर क्षीर न्याय करि संकर प्रमानि हैं। ७७। क० कू० कं०

शब्दालंकार वर्णन

शब्दालंकारों में केवल 'छेक' और 'यमक' के ही लक्षण एवं उदाहरण हैं। दोनों के लक्षण एक ही दोहे में, और दोनों के उदाहरण एक ही कवित्त में प्रस्तुत किए गए हैं। फिर तीन वृत्तियों–उपनागरिका, कोमला और परुषा–के नाम गिनाए गए हैं।

इस प्रकार इन पंचदश अलंकारों तथा दो शब्दालंकारों का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त और चलताऊ ढंग से किया गया है। इस वर्णन में कोई विशेष उल्लेखनीय या महत्वपूर्ण बात नहीं है।

दूलह कवि और संस्कृत आचार्य

इसमें सन्देह नहीं कि दूलह के सामने रचना करते समय जसवन्तसिंह का भाषा-भूषण था, तथापि उनपर कुवलयानन्द का प्रभाव सर्वाधिक है। कुवलयानन्द के ऋण को उन्होंने कई स्थलों पर उसका संदर्भ देकर स्वीकार भी किया है :—

(1) कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते तें कहीं, लुपता ये आठों, आठों प्रहर मानिए। ९ ॥

(२) परतच्छ प्रमुख प्रमान आठों अलंकार कुवलयानन्द में बखाने जग जाने है। ७१ ॥ क० कु० कं०

अलंकारों के नाम भेद और क्रम भी कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, लक्षणों में भी उस ही का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि दूलह कवि भाषा-भूषण से सहायता लेने पर भी चन्द्रालोक से और सबसे अधिक कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द ही उनके आधार-ग्रंथ हैं।

मूल्यांकन :—'कविकुलकण्ठाभरण' निस्सन्देह अलंकार का प्रामाणिक ग्रंथ है। यद्यपि संक्षिप्त शैली अपनाने के कारण उसमें कहीं कहीं अस्पष्टता आ गई है और कहीं कहीं उदाहरणों में कुछ दोष आ गए हैं, तथापि उसके गुणों पर कोई दूषित प्रभाव उन बातों से नहीं पड़ता है। अलंकारों की परिभाषाएं स्पष्ट और सुगम हैं। उदाहरण अलंकार के लक्षण के ठीक बाद में रखे जाने से अलंकार-प्रेमियों के लिए उसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

एक ही छन्द में कई अलंकारों के लक्षण और उदाहरण एक साथ आ जाने से उदाहरणों में काव्य-गुण की कमी अवश्य आ गई है, परन्तु अलंकारों को कण्ठस्थ करने के लिए, अथवा उसके आधार पर व्याख्या करने या अपनी अलंकार सम्बन्धी विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिये यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी है। आचार्यत्व की दृष्टि से भले ही उसका विशेष महत्व न हो, पर यथार्थ में यह ग्रन्थ कविकुल का कण्ठाभरण ही है।

काव्य निर्णय : भिखारीदास

(वि० सं० १८०३)

हिन्दी आलंकारिकों में भिखारीदास का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी जगत में रीति ग्रन्थों का प्रवर्तन करने के कारण केशवदास सर्व प्रथम आचार्य कहे जाते हैं, परन्तु भिखारीदास उपनाम दास कवि कुछ बातों में तो केशव से भी आगे बढ़ गए हैं। भिखारीदास ने वैसे तो छन्दार्णव, रससारांश आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, पर उनकी ख्याति एवं प्रतिष्ठा का कारण उनका 'काव्य निर्णय' ही है। इसकी रचना उन्होंने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वी पति सिंह के भाई हिन्दूपति सिंह के आश्रय में रह कर संवत् १८०३ में की थी[१]।

१. अट्ठारह सौ तीन हौ, संवत् आश्विन मास।
ग्रन्थ काव्यनिरनय रच्यौ, विजय दसै दिनदास ॥१-४॥ का० नि०

ग्रन्थ रचना का कारण और उसका आधार :

दास जी ने भाषा की सुरुचि का ध्यान होने के कारण ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसके लिए कवि को 'चन्द्रालोक' और 'काव्य प्रकाश' तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा था। इन संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् ही भाषा में इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता का अनुभव करके उन्होंने यह प्रयास किया था। कवि ने स्वयं संस्कृत ग्रन्थों के इन ऋण को स्वीकार करते हुए उसका स्पष्ट उल्लेख किया है। यदि इन संस्कृत ग्रन्थों की ही वही सारी बात यहाँ कही जाती तो वह केवल एक अनूदित ग्रन्थ ही होता, और यदि सब कुछ अपनी ही ओर से कहा जाता तो स्वकल्पित होने के कारण उसकी श्रेष्ठता शंकास्पद ही रहती। अतः उन्होंने दोनों का मिश्रण करके ही इस ग्रन्थ का निर्माण करना उचित समझा। अर्थात् संस्कृत ग्रन्थों का आधार लेते हुए भी उसमें यथावसर मौलिकता का सन्निवेश किया है। इस मिश्रण को वे एक प्रकार का अपराध समझ कर कवियों से उसके लिए क्षमा याचना करते हैं[1]।

ग्रन्थ परिचय एवं वर्ण्य विषय :—

काव्य निर्णय में कुल २५ उल्लास हैं। प्रथम उल्लास में काव्य-प्रयोजन, भाषा लक्षण आदि, दूसरे में शब्द-शक्ति, तृतीय में अलंकार मूल वर्णन, चतुर्थ में रस और उनके अंगादि, पांचवें में रस को अपरांग, छठे में ध्वनि-भेद, सातवें में गुणीभूत व्यंग्य, आठवें से अठारहवें तक में अलंकार, उन्नीसवें में गुण-निर्णय, बीसवें में श्लेषादि शब्दालंकार, इक्कीसवें में चित्रालंकार, बाईसवें में तुक, तेईसवें में दोष, चौबीसवें में दोषोद्धार और पच्चीसवें में रस दोष आदि विषयों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ८ उल्लासों में काव्य प्रयोजन, शब्द शक्ति, गुण, दोष आदि पर, तथा १७ उल्लासों में अलंकार विषय पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय उल्लास में अलंकार मूल वर्णन है, आठवें से अठारहवें तक के ११ उल्लासों में अर्थालंकारों का, बीसवें में श्लेषादि पांच शब्द अलंकारों, इक्कीसवें में चित्रालंकार का वर्णन तो है ही। इसके अतिरिक्त उन्नीसवें उल्लास में गुणों के साथ अनुप्रासादि शब्दालंकारों को, तथा पांचवें में अपरांग के साथ साथ रसवत् आदि अलंकारों को भी स्थान मिलने के कारण ये दो उल्लास भी अलंकार वर्णन से सम्बद्ध हैं। 'तुक'

---

१. बूझि सु चन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकासहु ग्रंथ।
समुझि सुरुचि भाषा कियौ, लै औरौ कवि पंथ ।।५।।
वही बात सिगरी कहैं, उलथो होत यकंक।
सब निज उक्ति बनाय हूँ, रहै स्वकलपित संक ।।६।।
यातें दुहुँ मिश्रित सज्यो, छमिहैं कवि अपराधु। ७।। का० नि० प्र० उ०

वास्तव में 'अन्त्यानुप्रास' ही है, इसका एक पूरे उल्लास में वर्णन हुआ है। अत: सबको मिला देने पर १७ उल्लासों में अलंकारों का निरूपण पाया जाता है। शेष आठ उल्लासों में अन्य काव्यांगों का। इस दृष्टि से ग्रन्थ का अधिकांश भाग अलंकारों को ही दिया गया है। यहाँ तुक वर्णन कवि का मौलिक प्रयास है, साथ ही शब्दशक्ति को भी किसी अन्य हिन्दी आचार्य ने अपने ग्रन्थों में विस्तृत स्थान नहीं दिया है, अत: इसे भी हिन्दी में कवि का एक नवीन प्रयास ही समझना चाहिए।

अलंकार विषयक दृष्टिकोण :

दास जी ने यद्यपि अपने ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग अलंकार निरूपण के लिए समर्पित करके उन्हें अधिक महत्व दिया है, तथापि उनके सम्बन्ध में दास जी का दृष्टिकोण ध्वनिवादियों के अनुरूप ही हैं। उनकी दृष्टि में रस कविता का अंग है, अलंकार तो भूषणों के समान उन्हें भूषित करने वाले हैं।

रस कवित्त को अंग, भूषन हैं भूषन सकल। १—१३।

अत: अलंकार उसी प्रकार शब्दार्थ रूप काव्य शरीर को बाह्य रूप से अलंकृत करने वाले साधन हैं जिस प्रकार हारादिक आभूषण ऊपर से शरीर की सुन्दरता बढ़ाने वाले साधन होते हैं :—

अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालंकार।
ऊपर तें भूषित करें जैसे तन को हार। १९-६६।

यह वास्तव में 'काव्य प्रकाश' के अनुकरण का प्रभाव है। वहाँ भी अलंकारों के विषय में यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। मिलाइए :—

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय :। ८—६७ का० प्र०

आगे चल कर स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं :

अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि।
सुकवि वचन रचनानि सों, देत दुहुंन को मंडि॥ १९—६७। का० नि०

अर्थात् अलंकार रस के बिना और रस अलंकार के बिना रह सकते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अलंकार के बिना भी कविता सरस हो सकती है। अत: अलंकार कविता के लिए अनिवार्य नहीं हैं। रस और अलंकार ये दोनों कविता में कवि कौशल द्वारा एक साथ स्थान पा जाते हैं।

जहाँ काव्य में अलंकारों के प्रयोग का और कोई हेतु नहीं होता, केवल अलंकार निर्वाह ही उसका उद्देश्य होता है, वहां कविगण ऐसे काव्य की गणना

'अवर काव्य' (अधम काव्य) में करते हैं।[1] अवर काव्य का स्वरूप निर्णय करते हुए दास जी लिखते हैं :—

वचनारथ रचना जहां, व्यंग न नेकु लखाइ।
सरल जानि तेहि काव्य को, अवर कहैं कविराइ ॥ ७-२५ । का० नि०
अवरकाव्यहू में करैं, कवि सुघराई मित्र।
मनरोचक करि देत हैं, वचन अर्थ कौ चित्र । ७-२६ । का० नि०

तात्पर्य यह है कि जहाँ तनिक भी व्यंग्य नहीं होता है, ऐसे वचन गत और अर्थगत काव्य को सरल होने के कारण अवर काव्य कहा जाता है। कविगण अपने कौशल से अवर काव्य में शब्द और अर्थ को मन रोचक बना देते हैं। इस प्रकार दास जी की दृष्टि में उत्कृष्ट काव्य के लिए व्यंग्य का होना आवश्यक है। व्यंग्य के अभाव में अलंकारों का निर्वाह मात्र उसे अवर कोटि में पहुँचा देता है। ऐसे सरल काव्य का उद्देश्य रोचकता मात्र होता है। दास जी का यह दृष्टि बिन्दु काव्यप्रकाशकार मम्मट के ही अनुकूल है। उन्होंने भी अवर काव्य के स्वरूप-निर्धारण में अपना यही मत व्यक्त किया है[2]।

दास जी ने अपने उक्त मत के समर्थन में ऐसे उदाहरण उपस्थित किए हैं जो रस विहीन होते हुए भी अलंकार चमत्कार से पूर्ण हैं, तथा अलंकार विहीन होते हुये भी सरस हैं। देखिए :—

चित्त चिहुँट्टत देखि के, जुट्टत दारहि दार।
छन छन छुट्टत पट रुचिर, टुट्टत मोतिय हार ॥ १९-६८ ॥ का० नि०

यहाँ किसी रस की स्थिति नहीं है, पर परुषावृत्ति अनुप्रास का चमत्कार है।

झारि डारु घनसार इत, कहा कमल को काम।
अरी दूरि करि हारु यों, बकति रहति नित बाम। १९-७० ॥ का० नि०

यहाँ रस है, पर अलंकार नहीं। ये उदाहरण 'काव्य प्रकाश' में उद्धृत उदाहरणों के अनुवाद मात्र है[3]।

१—और हेतु नहि केवलै, अलंकार निर्वाहु।
कवि पंडित गनि लेत हैं, अवर काव्य में ताहु । ८-५ । का० नि०

२—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। १-५ । का० प्र०

३—चित्ते विघटते न त्रुट्यति सा गुणेषु, शय्यासु लुठति विसर्पति दिङ्मुखेषु।
वचने वर्त्तते प्रवर्त्तते काव्यबन्धे, ध्यानेन त्रुट्यति चिरं तरुणी प्रगल्भा
॥ कर्पूरमंजरी ॥ ६-३४३ का० प्र०

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला । ८-३४१ । का० प्र०

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस विहीन कविता में अलंकार केवल उक्ति-वैचित्र्य मात्र मालूम होते हैं जैसा कि प्रथम उदाहरण में दिखाया गया है। वहाँ रस न होने पर केवल अनुप्रास का चमत्कार ही है, जिससे उक्त सूक्ति के वाचक रूप अंग में विचित्रता अवश्य आ गई है, पर उसके रसमय व्यक्तित्व को उस से कोई लाभ नहीं। परन्तु वही अलंकार शब्द और अर्थ में सौन्दर्याधान करते हुए रस रूप काव्यात्म तत्व का उत्कर्ष भी बढ़ाते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मम्मट की भांति दास जी की दृष्टि में भी अलंकार सरस कविता में सौन्दर्य बढ़ाने वाले होते हैं, रस का उत्कर्ष बढ़ाते हैं, पर रसविहीन कविता में वे केवल विचित्रता ही या चमत्कार ही उत्पन्न करते हैं, उसे सरस नहीं बना सकते। अतएव अलंकार कविता के लिए अनिवार्य वस्तु नहीं है और न उनके बिना सरस कविता की सरसता ही कम हो सकती है। हाँ, वे सरस कविता के सौन्दर्य की वृद्धि करने में सहायक अवश्य हो सकते हैं। इसी कारण वे कविता के बाह्य आभूषण मात्र हैं।

ये अलंकार कहीं वाच्य होते हैं और कहीं व्यंग्य।

कहूँ वचन कहुँ व्यंगि में, परै अलंकृत आइ। ३-१। का० नि०

जिस प्रकार मम्मट ने अलंकारव्यंग्यों का वर्णन ध्वनि के अन्तर्गत किया है, और वाच्य अलंकारों का अलंकार प्रकरण के, उसी प्रकार दास ने भी अनुकूल अलंकार-व्यंग्यों को ध्वनिभेदों में और वाच्य अलंकारों को अलंकार प्रकरणों में स्थान दिया है।

अलंकार वर्णन :

अलंकारों का प्रसंग काव्य निर्णय में स्थूल रूप से तीन बार आया है। प्रथम तो तृतीय उल्लास में, द्वितीय बार अष्टम से अष्टादश तक के ग्यारह उल्लासों में और तीसरी बार बीसवें तथा इक्कीसवें उल्लासों में शब्द चित्र नाम से। इसके अतिरिक्त पांचवें और उन्नीसवें उल्लासों में भी अपण्ङ्ग तथा गुणों के साथ रसवदादि एवं अनुप्रासादि अलंकारों का वर्णन हुआ है। अर्थालंकारों और शब्दालंकारों के वर्णनों के बीच में कवि ने गुण वृत्ति आदि का निरूपण कर दिया है, जबकि उनका वर्णन पहले होना चाहिए था। ऐसा क्यों किया गया इस का कोई उल्लेख कवि ने नहीं किया है।

अर्थालंकार :

अर्थालंकारों का वर्णन दो बार आया है। पहले तृतीय उल्लास में और फिर आठवें से अठारवें उल्लास तक। तृतीय उल्लास में किया गया वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है, बाद का विस्तृत। हो सकता है पहले के संक्षिप्त

वर्णन में जो कमी रह गई थी उसी को पूरा करने के लिये ही दास ने आगे चल कर अर्थालंकारों का विस्तार के साथ वर्णन किया हो।

तृतीय उल्लास :—

यहाँ मूल (मुख्य) अलंकारों का वर्णन किया गया है, यद्यपि दास ने इसका नाम रक्खा है "अलंकार मूलवर्णनम्" जिसका अर्थ होता है 'अलंकारों के मूल का वर्णन'। परन्तु वर्णन देखने से यही ज्ञात होता है कि इस नामकरण से कवि का प्रयोजन मुख्य अलंकारों के विवेचन से ही है। यहाँ संसृष्टि और संकर को मिलाकर कुल ४९ अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। भेदोपभेदों की चर्चा यहां नहीं हैं और न अन्य अलंकारों को ही यहाँ स्थान दिया गया है। हाँ 'प्रतीप' के विवेचन में "प्रतीप है, पंच प्रकार सु फेर" कहकर उनके भेदों की ओर संकेत किया है। उपमा के प्रसंग में भी "यों ही औरों जानि" द्वारा उसके भेदों को भी स्वीकार किया है। चूँकि इस उल्लास में केवल संक्षिप्त विवेचन ही अभीष्ट था, इसी कारण यहां भेदोपभेदों की विशेष चर्चा नहीं की गई। आगे इनका और अन्य अलंकारों का भी निरूपण विस्तार के साथ किया गया है जिससे सिद्ध होता है कि दास को अलंकार विषयक तथा उनके भेदोपभेद विषयक ज्ञान का पूर्ण परिचय था।

इस उल्लास में वर्णित अलंकारों को निम्नलिखित १२ वर्गों में विभक्त किया गया है।

१. उपमालंकार वर्णन : उपमा, अनन्वय उपमेयोपमा, प्रतीप। ४
२. दृष्टान्तालंकार वर्णन : दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता। ४
३. उत्प्रेक्षालंकार वर्णन : उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह। ५
४. व्यतिरेकालंकार वर्णन : व्यतिरेक, रूपक। २
५. अतिशयोक्ति वर्णन : अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक। ३
६. अन्योक्त्यादि वर्णन : अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप। ४
७. विरुद्धालंकार वर्णन : विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति। ३
८. उल्लासदि वर्णन : उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित। ४
९. समालंकार वर्णन : सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति। ६
१०. सूक्ष्मालंकार वर्णन : सूक्ष्म, परिकर। २
११. स्वभावोक्ति वर्णन : स्वभावोक्ति, काव्यलिंग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर ४
१२. संख्यालंकार वर्णन : यथासंख्य, एकावली, पर्याय। ३

संसृष्टि और संकर अलंकारों को किसी वर्ग में नहीं रक्खा गया है। इन का वर्णन पृथक् पृथक् किया गया है। संकर के अंगांगि, समप्रधान, और सन्देह तीन

भेद किए गए हैं। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण तो प्रस्तुत किए गए पर लक्षण नहीं दिए गए।

इस उल्लास में अलंकारों के वर्णन में 'चन्द्रालोक' की वर्णन शैली अपनाई गई है। प्रत्येक अलंकार का लक्षण दोहे की प्रथम पंक्ति में, और उदाहरण दूसरी पक्ति में दिया गया है। संसृष्टि और संकर के लक्षण एक एक दोहे में तथा उनके उदाहरण कवित्तों और दोहों में दिए गए हैं। संसृष्टि के दो उदाहरण कवित्तों में और संकर के उनके भेदों सहित ६ उदाहरण कवित्तों (२) और दोहों (४) में प्रस्तुत किए गए हैं। यहाँ तिलक के रूप में गद्य-भाषा में इन उदाहरणों का विश्लेषण भी कर दिया गया है। इस प्रकार इस उल्लास में कुल ५५ छन्द हैं जिनमें ४९ दोहे, ५ कवित्त सवैया और १ सोरठा है।

इस उल्लास में उपर्युक्त अलंकारों के वर्णन का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता, जबकि आगे चलकर दास ने ११ उल्लासों में इन्हीं का विस्तृत वर्णन किया है। यदि यहाँ उन्होंने अलंकारों के मूल उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का ही विस्तृत वर्णन किया होता और अन्य अलंकारों की केवल गणना ही करा दी होती, तो इस उल्लास की और उसके नामकरण 'अलंकार मूल वर्णन' की भी सार्थकता सिद्ध हो जाती। पर उन्होंने ऐसा न करके इस उल्लास को निष्प्रयोजन और व्यर्थ कर दिया।

संभव है 'बालानां सुखबोधाय' को ध्यान में रख कर पहले उन्होंने अलंकारों का यह वर्णन किया हो परन्तु फिर आगे चलकर उनका तथा अन्य अलंकारों का विस्तृत वर्णन करने की इच्छा हो गई हो जिसके फलस्वरूप आगे के ग्यारह उल्लास बाद में लिखे गए हों। पर इस तृतीय उल्लास को वे अपने इस ग्रन्थ से बहिष्कृत नहीं कर सके और इस प्रकार अलंकारों के ये दो संक्षिप्त एवं विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में संगृहीत हो गए हैं।

यहाँ अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों में वह गंभीरता, स्पष्टता और सामंजस्य नहीं दिखाई पड़ता जो उनके अगले ग्यारह उल्लासों में वर्णित लक्षणों और उदाहरणों में पाया जाता है। कुछ उदाहरण देखिए :

(अ) लक्षण :

अनन्वय : वासों वहै अनन्वया................। ३-३। का० नि०

निदर्शना : द्वै सु एक ही अर्थबल, निदरसना की टेक। ३-८। का० नि०

उत्प्रेक्षा : जहाँ कछू कछु सो लगै, समुझत देखत उक्त।
उत्प्रेक्षा तासों कहैं..............................। ३-१०। का० नि०

(आ) उदाहरण :

दृष्टांत : तरुनी में मो मन बसै, तरु म बसै बिहंग । ३-६ । का० नि०

विशेषोक्ति : महा महा जोधा थके, टर्‌यो न अंगद पाय । ३-२६ । का० नि०

स्मरण, भ्रम, सन्देह :

समुझत नन्द किसोर, चन्द निरखि तव बदन छवि ।
लखि भ्रम रहत चकोर, चन्द किधौं यह बदन है ३-१४ का० नि०

यहां एक ही दोहे में तीन अलंकारों के उदाहरण दिए गए हैं। इससे कवि की संक्षेपप्रियता का अनुमान तो अवश्य होता है, पर इससे विषय में स्पष्टता नहीं आ पाई है, वरन् दुरूहता बढ़ गई है ।

अत: मेरी दृष्टि में यह उल्लास व्यर्थ सा ही हो जाता है, जब कि आगे चल कर उन्होंने इसी विषय का विस्तृत निरूपण किया है ।

आठवें से अठारहवें तक के ग्यारह उल्लास :

इन उल्लासों में कवि ने तृतीय उल्लास में वर्णित तथा अन्य अलंकारों का विस्तृत विवेचन किया है । यहाँ अलंकारों के वही वर्ग हैं जो तृतीय उल्लास में बताए गए हैं । हाँ, उपमा और दृष्टान्त वर्गों को एक में ही यहाँ सम्मिलित कर लिया गया है । एक एक वर्ग का वर्णन यहां एक एक उल्लास में किया गया है । परन्तु अलंकारों की संख्या पहले से दुगुनी से भी अधिक हो गई है । ये अलंकार वर्गानुसार निम्नलिखित रूप में वर्णित किए गए हैं :

उल्लास	वर्ग	अलंकार	
८वां	उपमा	पूर्णोपमा, लुप्तोपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, मालोपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तिरन्यास, विकस्वर, निदर्शना, तुल्ययोगिता और प्रतिवस्तूपमा ।	१२
९वां	उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम, संदेह ।	५
१०वां	व्यतिरेक	व्यतिरेक, रूपक, उल्लेख ।	३
११वां	अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक, अल्प, विशेष ।	५
१२वां	अन्योक्ति	अप्रस्तुतप्रशंसा, (अन्योक्ति), प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति, व्याजस्तुति, आक्षेप, पर्यायोक्ति	६
१३वां	विरुद्ध	विरुद्ध, विभावना, व्याघात, विशेषोक्ति । असंगति, और विषम ।	६
१४वां	उल्लास	उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, तद्‌गुण, स्वगुण, अतद्‌गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, और विशेषक ।	१४

१५वां	सम	सम, समाधि, परिवृत्ति, भाविक, प्रहर्षण, विषाद, असंभव, सम्भावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, सहोक्ति, विनोक्ति, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थापत्ति	१६
१६वां	सूक्ष्म	सूक्ष्म, पिहित, युक्ति, गूढ़ोत्तर, गूढ़ोक्ति, मिथ्याध्यवसिति, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकर, और परिकराङ्कुर	११
१७वां	स्वभावोक्ति	स्वभावोक्ति, हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक, परिसंख्या, और प्रश्नोत्तर	१०
१८वां	(क) यथासंख्या	यथासंख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली और पर्याय	७
	(ख) दीपक	दीपक	१

ये ९६ अलंकार ग्यारह वर्गों में विभक्त किए गए हैं। इनमें संसृष्टि और संकर अलंकारों की गणना नहीं की गई है, 'परिणाम' को 'रूपक' का एक भेद माना गया है। अतः यदि इन तीनों अलंकारों को सम्मिलित कर लिया जाय तो यह संख्या ९९ हो जाती है। परन्तु यह संख्या दास की दी हुई संख्या से मेल नहीं खाती। दास की संख्या निम्नलिखित है :

भूषन छयासी अर्थ के, आठ वाक्य के जोर। २१-९२। का० नि०

इस प्रकार कवि के अनुसार अर्थगत और वाक्यगत अलंकारों की संख्या ९४ होती है और वर्ग विभाजन के अनुसार ९६ होती है। इस भेद का कारण संभव यह हो कि कवि ने पूर्णोपमा, लुप्तोपमा और मालोपमा को एक गिना हो, अथवा परिकर और परिकराङ्कुर को एक, तथा गूढ़ोक्ति और गूढ़ोत्तर को एक माना हो। इस प्रकार की संभावना से दोनों गणनाओं में साम्य बन जाता है।

दास ने काव्य निर्णय में कुल १०८ अलंकारों का वर्णन किया है, जैसा कि उनके दोहों से स्पष्ट ज्ञात होता है।

भूषन छियासी अर्थ के, आठ वाक्य के जोर।
त्रिगुन, वारि पुनि कीजिए, अनुप्रास इक ठौर ॥ २१-९२ ॥ का० नि०
सब्दालंकृत पांच गनि, चित्र काव्य इक पाठ।
एकइ रस तादिक सहित, ठीक सु ऊपर आठ ॥ २१-९३ ॥ का० नि०

अर्थात् अर्थालंकार ८६, वाक्यगत ८ (यथासंख्य, एकावली, कारणमाला, उत्तरोत्तर, रसनोपमा, रत्नावली, पर्याय, और दीपक[1]), त्रिगुन (त्रिगनि— भावोदयवत्, संधिवत् और सबलवत्) ३, चार पुनि (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित[2]) ४, अनुप्रास १, शब्दालंकार ५ (श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास), तथा इक्कइस गातादिक सहित चित्रालंकार १। इस प्रकार यह संख्या १०८ हो जाती है।

इन दोनों का विश्लेषण डा० ओम प्रकाश तथा डा० सत्यदेव चौधरी ने अपने अपने ग्रन्थों 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' और 'हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य' में भिन्न भिन्न रूप से किया है। डा० ओमप्रकाश ने आठ वाक्य के जोर में प्रमाणादि आठ अलंकारों की गणना की है, परन्तु यह उचित नहीं। क्योंकि क्रम, दीपक आदि को अपने ग्यारहवे उल्लास के प्रथम दोहे में वाक्यगत अलंकार स्वीकार किया है, और इनकी संख्या भी आठ ही है अतः 'आठ वाक्य के जोर से कवि का तात्पर्य इन्हीं यथा संख्यादि आठ अलंकारों से है, प्रमाणादि से नहीं।

डा० चौधरी ने 'त्रिगुन' शब्द से ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों को लिया है, यह भी उचित नहीं है। क्योंकि दास गुणों को अलंकारों से बिल्कुल भिन्न मानते हैं, अतः अलंकारों में गुणों की गणना उन्हें मान्य नहीं हो सकती। 'त्रिगुन' के स्थान पर 'त्रिगनि' पाठ होने से यह समस्या हल हो जाती है। और इनसे भावोदयवत्, भावसंधिवत् और भावसबलतावत् इन तीन अलंकारों की गणना उसके अनुसार संभव हो जाती है। दास ने 'रसवत् और भावोदय' आदि को अपने पांचवें उल्लास के प्रथम और दूसरे दोहों में अलंकार के रूप में स्वीकार भी किया है।

इसी प्रकार उन्होंने 'चारि पुनि अनुप्रास इक ठौर' का तात्पर्य अनुप्रास, वीप्सा, यमक और सिंहावलोकन इन चार अलंकारों से लेकर 'चार अनुप्रास एक स्थान पर रखकर' अर्थ किया है। परन्तु मेरी दृष्टि से 'चारि पुनि' से रसवदादि चार, 'अनुप्रास एक ठौर' से एक अनुप्रास (वीप्सादि वस्तुतः व्यापक अर्थ लेने

१—क्रम दीपक द्वै रीत के, अलंकार मति चारु।
अति सुखदायक वाक्य कै, जदपि अर्थ सौं न्यारु। १-८१। का० नि०

२—(अ) रस भावादिक होत जहं, और और को अंग।
तहं अपरांग कहें कोऊ, कोउ भूषन इहि ढंग ॥ ५-१ ॥ का० नि०

(ब) रसवत् प्रेया ऊर्जस्वी, समाहितालंकार।
भावोदयवत संधिवत, और सबलवत धार ॥ ५-२ ॥ का० नि०।

पर अनुप्रास के भेद ही समझे जाना चाहिए) का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से रसवत् आदि चार अलंकारों की और अनुप्रासों की भी गणना हो जाती है। और आगे चलकर 'इक रसवतादिक सहित' से रसवत् आदिक को एक अलंकार जैसा कि डा० चौधरी ने माना है, नहीं मानना पड़ेगा। रसवत् आदिक को एक अलंकार कहीं पर भी नहीं बताया गया है और न वास्तव में प्रेयस्, ऊर्जस्वित् आदि रसवत् के भेद ही हैं, जिनसे उन्हें एक मान लिया जाए। अतः यहाँ 'इकइस गातादिक सहित' पाठ को शुद्ध मान कर उसे 'चित्र काव्य इक पाठ से सम्बन्धित करके इक्कीस भेदों सहित 'चित्रालंकार' ऐसा अर्थ ग्रहण करने पर संगति बैठ जाती है। और अलंकारों की संख्या भी दास के मतानुसार ठीक १०८ हो जाती है।

उपर्युक्त वर्गीकरण की समीक्षा :

यद्यपि दास ने अपने उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार प्रस्तुत किया है, तथापि उसे निश्चित एवं वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। उपमा वर्ग में जो बारह अलंकार हैं उन्हें, दास ने उपमान और उपमेय का विकार माना है। यथा :

उपमान और उपमेय को है विकार समुझौ सुचित। ८-८। का० नि०

यह आधार इस वर्ग के प्रथम छह अलंकारों के लिए तो उचित है, परन्तु 'दृष्टान्त' आदि अन्तिम छह अलंकारों पर वैसा घटित नहीं होता जैसा पहले के छह अलंकारों पर।

उत्प्रेक्षा वर्ग में यहाँ भी पाँच अलंकार हैं, और तृतीय उल्लास के वर्गीकरण में भी इस वर्ग में यही अलंकार हैं। इनका आधार साधारण धर्म की एकता है। दास को स्मरण, भ्रम और सन्देह को उत्प्रेक्षा वर्ग का मानने में कुछ सन्देह होता है, परन्तु उन्हें वे इस वर्ग में सम्मिलित कर ही लेते हैं।

सुमिरन भ्रम सन्देह यह, लक्षन प्रगटै नाम।
उत्प्रेक्षादिक है नहीं, तदपि मिलै अभिराम ॥ ८-३२। का० नि०
जदपि भिन्न हूँ हैं तदपि, उत्प्रेछहि को गेह ॥ ३-९३ ॥ का० नि०

व्यतिरेक वर्ग में व्यतिरेक और रूपक को एक साथ रखना तो उचित है क्योंकि वे दोनों उपमान उपमेय से सम्बद्ध हैं, पर यहाँ 'उल्लेख' को उनके साथ किस आधार पर स्थान दिया गया है, यह बात समझ में नहीं आती।

चौथा वर्ग अतिशयोक्ति का है। इसमें अतिशयोक्ति आदि पाँच अलंकार हैं। यहाँ 'विशेष' अलंकार को स्थान देने में कोई औचित्य नहीं जान पड़ता। यदि किसी प्रकार खींचातानी करके उसके औचित्य को स्वीकार भी कर लें तो भी

अन्योक्ति वर्ग में आक्षेप और पर्यायोक्ति को सम्मिलित करने में कोई संगति नहीं है। अन्योक्ति वर्ग के छहों अलंकारों को वे अन्योक्तिमय कहते हैं[1], परन्तु अपने इस कथन का कोई आधार उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया है।

विरुद्ध वर्ग के सभी अलंकारों का आधार एक ही है, अतः उनको यहाँ एक साथ रखना उचित ही है। उल्लास वर्ग के अलंकारों का आधार कवि गुण दोष का आदान प्रदान बताता है। यथा :

सब गुन दोषादि प्रकार गनि, किए एक ही ठौर तति। १४-१। का० नि०

परन्तु यह गुण दोष वाला आधार विचित्र अलंकार तक तो पूर्ण रूप से घटित होता है, पर उससे आगे के अन्य अलंकारों में केवल गुणों का ही आदान प्रदान रह जाता है, अतः गुण दोष वाला आधार उनमें घटित नहीं होता।

सम वर्ग के अलंकारों में पारस्परिक साम्य का अभाव है। वे केवल भरती के ही जान पड़ते हैं। दास ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है :

उचित अनुचित बात में, चमत्कार लखि दास।
अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास॥ १५-१॥ का० नि०

सूक्ष्म वर्ग के अलंकारों का आधार कवि ने ध्वनि बताकर उन्हें वस्तु-व्यंजक अलंकार माना है :

ध्वनि के भेदन में इन्हें वस्तुव्यंजकै लेखि। १६-२। का० नि०

परन्तु यह ध्वन्यात्मकता या वस्तु व्यंजकता इस वर्ग के परिकर और परिकराङ्कुर अलंकारों में किसी भी प्रकार घटित नहीं होती है।

स्वभावोक्ति वर्ग में कुल दस अलंकार हैं। परन्तु उनमें कोई पारस्परिक साम्य तो क्या, सामीप्य भी नहीं है। अतः उसका कोई निश्चित आधार नहीं है। यदि निरुक्ति, लोकोक्ति और छेकोक्ति में तथा परिसंख्या और प्रश्नोत्तर में कुछ समीप्य किसी प्रकार मान भी लेवें तथापि अन्य स्वभावोक्ति हेतु, प्रमाण, काव्यलिंग और प्रत्यनीक को एक साथ स्थान देने में तो कोई भी औचित्य नहीं है।

यथासंख्या वाले अन्तिम वर्ग में जो आठ अलंकार हैं, वे सभी वाक्य गत हैं[2]। इस दृष्टि से उन्हें एक स्थान पर रखना उचित कहा जा सकता है, पर

१—जांन सकल अन्योक्तिमय, सुनहु सुकवि सिर मौर। १२-२। का० नि०

२—क्रम दीपक द्वै रीत के, अलंकार मति चारु।
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अर्थ सों चारु॥ १८-१॥ का० नि०

वस्तुत: उन सभी का एक वर्ग उचित नहीं है क्योंकि यथासंख्य से रत्नावली तक के छह अलंकारों में तो शृंखलाबद्धता रहती है, पर पर्याय और दीपक में उसका अभाव है ।

इस उपर्युक्त समीक्षा से स्पष्ट हो जाता है कि दास ने अपने वर्गीकरण में कुछ वर्गों का तो आधार स्वयं ही प्रकट कर दिया है, और कुछ वर्गों में केवल भरती ही की गई है । जिसे कवि ने स्वयं स्वीकार भी किया है । इस वर्गीकरण के 'सम वर्ग' और 'स्वभावोक्ति' वर्गों को छोड़कर अन्य सभी वर्गों को कुछ सीमा तक उचित कहा जा सकता है । परन्तु उसे पूर्ण और वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता ।

उल्लेख, विशेष, आक्षेप, पर्यायोक्ति, परिकर, परिकराङ्कुर और दीपक अलंकारों को उचित वर्गों में स्थान देने की आवश्यकता अभी भी है । प्रथम, द्वितीय और तृतीय वर्गों को सादृश्य के आधार पर मिलाकर एक बनाया जा सकता है, तथा दीपक, परिकर और परिकराङ्कुर को भी औपम्य के कारण उस एक वर्ग में सम्मिलित किया जा सकता है । इसी प्रकार के और भी अन्य संशोधन किए जा सकते हैं । वस्तुत: दास का यह वर्गीकरण अपने में पूर्ण और वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता तथापि यह निष्प्रयोजन या निष्फल नहीं हैं । उनका यह प्रयास सचमुच में स्तुत्य और मौलिक हैं । उससे हमें उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचय अवश्य मिल जाता है ।

अलंकारों के नाम और भेद :

'काव्य निर्णय' में अलंकारों के प्राय: वही नाम हैं जो अन्य संस्कृत ग्रंथों या हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों में पाए जाते हैं । हाँ, कुछ अलंकारों में अवश्य थोड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ता है । संस्कृत-ग्रन्थों में विशेषत: 'कुवलयानन्द' में 'विशेष' नाम के जो दो अलंकार हैं और जिनमें अन्तिम विशेष का नाम हिन्दी आचार्यों (जसवन्तसिंह, मतिराम, पद्माकर) ने 'विशेषक' दिया है, उनमें पहले 'विशेष' को दास ने 'विशेषण' नाम से अभिहित किया है और दूसरे को 'विशेष' के ही नाम से । जिसे चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'गूढ़ोत्प्रेक्षा' या 'गम्योत्प्रेक्षा' कहा गया है तथा 'साहित्य दर्पण' में 'प्रतीयमानोत्प्रेक्षा' बताया गया है, उसी को दास ने 'लुप्तोत्प्रेक्षा' नाम दिया है । इसी प्रकार 'सार' को वे 'उत्तरोत्तर' कहते हैं[1] ।

१—एक एक तें सरस लखि, अलंकार कहि सारु ।
याही को उतरोतरो, कहें जिन्हें मति चारु ॥ १८–११ ॥ का० नि०

'आवृत्ति दीपक' का उन्होंने स्वतन्त्र वर्णन नहीं किया, पर उसके तीन भेदों—शब्दावृत्तिदीपक, अर्थावृत्ति दीपक और उभयावृत्ति दीपक—का वर्णन किया है। कारक दीपक अलंकार का वर्णन प्रायः सभी आचार्यों ने किया है, पर दास ने इसके अतिरिक्त एक 'देहली दीपक' नाम के और नवीन अलंकार की चर्चा की है। कुवलयानन्द में 'उत्तरालंकार' के गूढ़ोत्तर और चित्रोत्तर दो भेद किए गए हैं और दोनों को अर्थालंकार बताया गया है। परन्तु दास ने 'गूढ़ोत्तर' को तो अर्थालंकारों में ही रक्खा है, किन्तु 'चित्रोत्तर' को 'चित्र' नाम से शब्दालंकारों में स्थान देकर विस्तार के साथ पूरे एक उल्लास में उसका निरूपण किया है।

तृतीय उल्लास में अलंकारों का संक्षिप्त वर्णन होने के कारण वहाँ उनके भेदोपभेदों पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया, पर आगे के उल्लासों में यही वर्णन विस्तार के साथ करना अभीष्ट था अतः यहाँ अलंकारों के भेदों और अवान्तर भेदों की भी चर्चा विस्तार के साथ की गई है[1]।

अलंकारों के भेद करने में दास अधिकांशतः 'कुवलयानन्द' से प्रभावित हैं, पर कतिपय भेदों में उन्होंने 'काव्य प्रकाश और 'साहित्य दर्पण' से भी सहायता ली है। और कुछ अलंकारों के भेदों में उन्होंने स्वतन्त्रता से भी काम लिया है। उपमा, परिसंख्या, रूपक व्यतिरेक, विरोध और अर्थान्तिरन्यास के भेद 'काव्य प्रकाश' के ही आधार पर किए गए हैं। 'काव्य प्रकाश' की भाँति दास ने भी उपमा के 'श्रौती' और 'आर्थी' दो भेद किये हैं, पर उनके वाक्यगा, समासगा, एवं तद्धितगा उपभेदों की चर्चा नहीं की है। इसी प्रकार 'परिसंख्या' के भी उन्होंने प्रश्नपूर्विका और अप्रश्नपूर्विका की ही भाँति 'प्रश्नपूर्वक परिसंख्या' और 'बिना प्रश्न परिसंख्या' ये दो भेद बताए. पर उनके 'व्यंग्यव्यवच्छेद्या' और 'वाच्यव्यवच्छेद्या' इन दो उपभेदों का कोई कथन नहीं किया और न उदाहरण देकर उनकी ओर संकेत ही किया है। अन्य अलंकारों के भेद 'काव्य प्रकाश' के ही समान किए गए हैं। 'अप्रस्तुप्रशंसा' के भेदों में भी कांव्यप्रकाश' का ही पूर्ण प्रभाव है। 'श्लेषपद समासोक्ति' नामक 'समासोक्ति' के भेद के लिए दास जी 'साहित्य दर्पणकार' के ऋणी हैं।

'कुवलयानन्द' में वर्णित रूपक के छह भेद तो दास ने अपनाए ही हैं, पर साथ ही काव्य प्रकाश के भी तीन और भेद निरंग, परम्परित और सांग सम्मिलित कर लिये हैं। वहाँ 'सांग' के भी दो भेद और किए गए हैं 'समस्तवस्तु विषयक' और 'एक देश विवर्ति'। इनमें से दास ने प्रथम उपभेद को तो 'समस्तविषयक रूपक' के रूप में ग्रहण कर लिया पर दूसरे भेद को त्याग दिया। इस प्रकार दास ने

१—अलंकार रचना बहुरि, करौं सहित विस्तार।
एक एक पद होत जे, भेद अनेक प्रकार॥ ८-१॥ का० नि०।

'रूपक' के नौ भेद गिनाए हैं: तद्रूप अधिकोक्ति, तद्रूप हीनोक्ति, तद्रूप समोक्ति, अभेद अधिकोक्ति, अभेद हीनोक्ति, अभेद समोक्ति, निरंग, परम्परित और समस्तविषयक। समस्तविषयक को भी कहीं उपमावाचक, कहीं उत्प्रेक्षावाचक, कहीं परिणामवाचक और कहीं रूपकवाचक के उदाहरण देकर अधिक विस्तृत बनाया है। जिस 'परिणाम' को अन्य आचार्यों ने स्वतंत्र अलंकार माना है, उसे दास ने रूपक का भेद बनाकर उसका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, परम्परित रूपक के, मालागत, श्लेषगत आदि उदाहरण देकर दास ने अपनी भेदोपभेद प्रिय मनोवृत्ति का परिचय दिया है। उल्लास के संकरगत, अपन्हुति के संसृष्टि विषयक, तथा उत्प्रेक्षा के मालागत उदाहरण भी उनकी उसी वृत्ति की ओर संकेत करते हैं।

'अतिशयोक्ति' के भेदों में उन्होंने स्वतन्त्रता से भी काम लिया है। अतिशयोक्ति के काव्यप्रकाशकार ने चार, साहित्यदर्पणकार ने पाँच, चन्द्रालोककार ने छह और कुवलयानन्दकार ने (चन्द्रालोक के भेदों में 'सापन्हवातिशियोक्ति' को मिला कर) सात भेद किये थे, पर दास ने उसी के ग्यारह भेदों की चर्चा कर डाली। उपमातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षातिशयोक्ति, संभावनातिशयोक्ति और अत्युक्ति ये चार अतिरिक्त भेद उनके अपने जान पड़ते हैं।

'व्याज स्तुति' और 'व्याज निन्दा' को उन्होंने पृथक् पृथक् नहीं माना है। वरन् 'व्याज निन्दा' को 'व्याज स्तुति' का ही एक भेद मानकर उसके चार भेद— 'निन्दा व्याज स्तुति', 'स्तुति व्याज निन्दा', 'स्तुति व्याज स्तुति', और निन्दा व्याज निन्दा'—किए हैं। 'स्वभावोक्ति' का वर्णन भी उन्होंने 'जाति' और 'स्वभाव' दो रूपों मे करके उसके दो भेद से बना दिए हैं। वैसे काव्यादर्श में 'स्वभावोक्ति' को 'जाति' कहा गया है, पर वहाँ इस प्रकार दो रूपों में उसका वर्णन नहीं हुआ है।

'मालोपमा' के भी उन्होंने कई भेद किए हैं। वैसे तो चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और काव्य प्रकाश में उसकी चर्चा तक भी नहीं है, भेदों की तो बात दूर रही। हाँ, साहित्यदर्पण में अवश्य उसका लक्षण दिया गया है, पर उसके भेदों का वहाँ भी कोई कथन नहीं है। इनके पूर्ववर्ती हिन्दी ग्रन्थों में भी उनका कोई उल्लेख नहीं है। अत: संभव है कि मालोपमा के ये चार भेद उनके अपने ही हों।

इनके अतिरिक्त प्रायः सभी अलंकारों क भेद कुवलयानन्द के ही आधार पर किए गए हैं। हां, 'भाविक' के भेद अवश्य वहाँ पर नहीं हैं, पर दास ने 'भूत, वर्तमान, और भविष्य के रूप में—उसके भेदों का कथन कर दिया है।

इस प्रकार दास ने भेदोपभेदों में अधिक रुचि लेकर अर्थालंकारों के इस वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तार दे दिया है। जिसके फलस्वरूप भेदों में भटकते रहने के कारण वह प्रकृत विषय की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सके। अन्यथा उनकी यह रचना और भी ललित एवं सुबोध बन गई होती।

अलंकारों के लक्षण

दास ने अलंकारों के लक्षण लिखने में जहाँ भाषा की सुरुचि का ध्यान रक्खा है, वहां उन्हें संक्षिप्त, सरल और सुबोध बनाने का भी स्तुत्य प्रयास किया है। परन्तु इस संक्षेप-प्रियता के मोह के कारण कहीं-कहीं उनमें अस्पष्टता और दुरूहता भी आगई है, यद्यपि ऐसे स्थल नगण्य ही हैं। कुछ लक्षण देखिए :–

१. प्रथमतुल्ययोगिता :

सम वस्तुन में गनि बोलिए, एकबार ही धर्म ।। ८-८१ ।। का० नि०

यहां अपेक्षित धर्मैक्य की स्पष्टता न होने के कारण लक्षण अस्पष्ट सा हो गया है। इसी प्रकार दीपक में भी धर्मैक्य[1] अस्पष्ट है। यथा :

एक शब्द बहु में लगे, दीपक जाने सोइ। ८-८२ ।। का० नि०

२. प्रतिवस्तूपमा :

[१] नाम जु है उपमेय को, सोई उपमा नाम।
ताको प्रतिवस्तूपमा, कहै सकल गुन धाम ।। ८-९० ।। का० नि०

[२] जहं उपमा उपमेय, को नाम अर्थ है एक।
ताहू प्रतिवस्तूपमा, कहै सो बुद्धि विवेक ।। ८-९१ ।। का० नि०

[३] जहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब नहिं, धर्महिं तें समठान।
प्रतिवस्तुपमा तेहि कहैं, दृष्टान्तहि मो जान ।। ८-९५ ।। का० नि०

ये तीनों लक्षण वस्तुतः बड़े अस्पष्ट और शिथिल हैं। 'प्रतिवस्तूपमा' में उपमेय और उपमान वाक्यों में एक समान धर्म का पृथक् निर्देश आवश्यक होता है[2]। परन्तु यहाँ प्रथम दो लक्षणों में सामान्य धर्म के पृथक् निर्देश का कोई कथन नहीं है, तृतीय लक्षण में भी समान धर्म का कथन तो है, पर उसके पृथक्

१— (अ) वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता ।। ४४ ।। कु०
(आ) वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।। ४८ ।। कु०

२—प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपिधर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्। १०-५० । साहित्यदर्पण

निर्देश का उल्लेख नहीं है। साथ ही साम्य वाले दो वाक्यों का भी स्पष्ट कथन नहीं है, यद्यपि 'बिम्बप्रतिबिम्बहि नहिं' पदों से उसका आभास हो जाता है। परन्तु कथन की स्पष्टता के अभाव में यहाँ भी अस्पष्टता आ ही गई है।

'उत्प्रेक्षा' का लक्षण[1] सम्भावना शब्द के न होने से सुष्ठु लक्षण नहीं कहा जा सकता।

अन्योन्य :

अलंकार में परस्पर उपकारभाव होना आवश्यक होता है[2]। परन्तु दास के लक्षण में इस भाव का अभाव है। अतः लक्षण शिथिल होगया है। यथा :

होत परस्पर जुगल सौं, सो अन्योन्य सुछंद ।।१५-३६।। का० नि०

इसी प्रकार 'विकल्प' में भी समान बलशाली वस्तुओं में विरोध दिखाया जाता है[3], दास के लक्षण में 'यह कै वहैं' कहने मात्र से विरोध स्पष्ट नहीं होता है।

है विकल्प यह कै वहै, यह निहचै जहं राजु । १५-४८ । का० नि०

इसी भांति सूक्ष्म, पिहित, समाधि, अतिशयोक्ति और परिसंख्या अलंकारों के लक्षण भी या तो अस्पष्ट हैं या शिथिल हैं। परन्तु ऐसे लक्षणों की संख्या प्रायः इतनी ही है। शेष अन्य लक्षण प्रायः शुद्ध और स्पष्ट हैं।

दास के लक्षणों की सुन्दरता और विशेषता उनकी सरलता और संक्षिप्तता में निहित है। 'अर्थापत्ति' और 'एकावलि' के लक्षणों में संस्कृताचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'कैमुत्य' तथा 'गृहीतमुक्त रीति' जैसे पारिभाषिक शब्दों को 'यह भयो तो यह कहा' एवं 'जंजीरा' जैसे साधारण शब्दों द्वारा स्पष्ट कर देना दास जैसे आचार्यों का ही काम है। इन शब्दों के प्रयोग द्वारा ये लक्षण संस्कृत ग्रन्थों के लक्षणों की अपेक्षा अधिक सरल और बोधगम्य बन गए हैं।

कहीं कहीं दो दो एवं तीन तीन तक अलंकारों के स्वरूप उन्होंने एक ही दोहे में स्पष्ट रीति से वर्णित कर दिए हैं। असंभव और संभावना, उन्मीलित और

१—वस्तु निरखि कै हेतु लखि, कै आगमफल काज।
कबि कै बकता कहत यह, लगें और सो आज। ६-२। का० नि०
समवाचक कहु परत यहु, मानहु मेरे जान।
उत्प्रेक्षा भूषन कहैं, इहि बिधि बुद्धि निधान। ६-३। का० नि०

२—अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्। ६८। कु०

३—विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः। १०-८४। सा० द०

विशेष, मीलित और सामान्य, अतद्गुण और पूर्वरूप, लोकोक्ति और छकोक्ति आदि युगलों के लक्षण इसी संक्षिप्त शैली में दिए हैं। परन्तु ऐसा करने पर भी लक्षणों में कोई विकृति नहीं आने पाई। हाँ, तीन अलंकारों—सहोक्ति, विनोक्ति और प्रतिषेध—के लक्षणों को एक साथ रख देने से अवश्य उनका अभीष्ट रूप व्यक्त नहीं हो पाया। यथा:

कछु कछु संग सहोक्ति कछु, बिन सुभ असुभ विनोक्ति।
यह नहिं यह प्रत्यक्ष ही, कहिए प्रतिषेधोक्ति। १५-४६। का० नि०

चन्द्रालोक के प्रभाव से स्मरण, भ्रम और संदेह के लक्षण दास ने भी भाषाभूषणकार आदि पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति उनके नामों में ही बताए हैं :

सुमिरन भ्रम संदेह यह, लक्षन प्रगटै नाम। ६-३२। का० नि०

तृतीय उल्लास में इन तीनों के उदाहरण भी एक ही दोहे में गूंथ दिए गए हैं। यह प्रणाली स्वस्थ नहीं कही जा सकती।

अलंकारों के उदाहरण

यद्यपि दास के उदाहरण कवित्व की दृष्टि से इतने सरस और हृदयग्राही नहीं हुए जितने अन्य रीति कालीन आचार्यों के पाए जाते हैं। वस्तुत: उदाहरणों में ही रीति युग के आचार्यों का कवित्व प्रस्फुटित हुआ है। संस्कृताचार्यों ने प्राय: अन्य ग्रंथों से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, पर हिन्दी आचार्यों ने अपने स्वयं के रचे हुए उदाहरण रक्खे हैं। अन्य आचार्यों ने उदाहरणों के लिए कवित्त और सवैया जैसे बड़े बड़े छन्दों का प्रयोग किया है, और अन्तिम चरण में ही अलंकारों आदि के लक्षण घटित हुए हैं, अन्य चरण व्यर्थ से हो गए हैं, पर दास के उदाहरणों में यह बात देखने को नहीं मिलती है। उन्होंने भी, वैसे तो, कवित्त और सवैये का प्रयोग किया है, परन्तु उनके प्रत्येक चरण की उपयोगिता लक्षणों की दृष्टि से आंकी जा सकती है।

दास के प्राय: सभी उदाहरण उपयुक्त और निर्दोष हैं। ये उदाहरण कहीं तो एक ही दोहे में अलंकार के लक्षण के साथ दे दिए गए हैं जो चन्द्रालोक की शैली का स्मरण दिलाते हैं (देखो—अल्प, विशेषोक्ति, विषादन, विकल्प आदि—तृतीय उल्लास में तो प्राय: सर्वत्र यही शैली अपनाई गई है), और कहीं लक्षण एक दोहे में और उदाहरण दूसरे दोहे या कवित्त में दिया गया है। कतिपय अलंकारों के तो एक से अधिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। कहीं कहीं तीन तीन अलंकारों के उदाहरण भी एक ही दोहे में प्रस्तुत कर दिए गए हैं, (देखो—स्मरण, भ्रम और संदेह—तृ० उल्लास)

जहाँ अलंकारों के भेद प्रभेद हैं वहाँ उन भेदों का वर्णन और उनके लक्षण एक साथ कई दोहों में कर दिए गए हैं, और फिर पृथक् पृथक् उनके शीर्षकों के साथ उदाहरण भी दे दिए गए हैं (देखो=अपन्हुति, अधिक, विरोध आदि) परन्तु कहीं कहीं एक भेद का लक्षण और फिर उसका उदाहरण—इस प्रकार भेदों के लक्षण और उदाहरण पृथक् पृथक् रूप में—एक साथ नहीं—वर्णित किए गए हैं (देखो—अतिशयोक्ति, उल्लास आदि)

दास के सभी उदाहरण प्रायः शास्त्रानुमोदित हैं। इनमें अनेकों उदाहरण तो दास के अपने स्वतंत्र हैं जैसे: भ्रान्तापन्हुति, उपमातिशयोक्ति, विभावना, निदर्शना आदि के उदाहरण। परन्तु कुछ उदाहरणों में दूसरों की छाया भी दृष्टि-गोचर होती है। कुछ अनुवाद एवं छायानुवाद भी हैं। कुछ बानगी देख लीजिए :

अर्थान्तर न्यास :

बरजत हूँ जाचक जुरैं, दानवंत की ठौर।
करी करन झारत रहैं, तऊ भ्रमत हैं भौंर ॥ ८-६३ ॥ का० नि०

इस उदाहरण में कुवलयानन्द में अर्थान्तरन्यास के प्रसंग में वृत्तिभाग में दिए गए निम्नलिखित श्लोक की छाया स्पष्ट है :

दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढ़े, को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत ?
यद्दन्तिनः कटकटाहतटान्मिमंक्षो, मंङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम्।
१२२–१२३ । कु०

भ्रान्तापन्हुति :

आनन है अरविन्द न फूल्यो अलीगन भूल्यो कहा मंडरात हो।
कीर तुम्हें कहा बाइ लगी भ्रम बिम्ब के ओठन कों ललचात हो।
दास जु व्याली न बेनी बनाव है, पापी कलापी कहा इतरात हो।
बोलती बाल न बाजति बीन कहा सिगरे मृग घेरत जात हो।
९–२८ । का० नि०

यह उदाहरण

वदनमिदं न सरोजं, नयने नेन्दीवरे एते।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुधा किं परिभ्रमसि।१०-३६। सा० द०

इस उपर्युक्त श्लोक की छाया में लिखा गया जान पड़ता है।

अनुवाद के उदाहरण भी देख लीजिए :

तुल्ययोगिता में हिताहित को फल सम :

जो सींचे सर्पिष सिता, अरु जु हनै कुठाल ।
कटु लागै तिन दुंहुन कौ, इहै नींव की चाल ।। ८-८६ ।। का० नि०
यश्चनिम्बं परशुना यश्चैनं मधुसर्पिषा ।
यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः सर्वस्य कटुरेव सः ।। ४६ की वृत्ति ।। कु०

तृतीय विषमः

सिंघीसुत को मानिभय, ससा गयो ससि पास ।
ससि समेत तहं ह्वै गयो, सिंघीसुत को ग्रास ।। १३-५१ ।। का० नि०

यह उदाहरण काव्य प्रकाश में दिए गए द्वितीय विषम के उदाहरण का अनुवाद है ।

सिंहिका सुतसंत्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः ।
जग्रसे साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः ।। १०-५३८ ।। का० प्र०

विचित्र

जीवन हित प्रानहि तजैं, नवैं ऊंचाई हेत ।
सुख कारन दुख संग्रहैं, ऐसे भृत्य अचेत ।। १४-२६ ।। का० नि०
प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुख हेतोः को मूढ़ः सेवकादन्यः ।। १०-७२ ।। सा० द०

अन्योन्य :

लसति चन्द सौं जामिनी, जामिनि ही सौं चन्द ।। १५-३९ ।। का० नि०
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ।। ५-८४ ।। चन्द्रालोक

ये अनुवाद कहीं तो शब्दशः किए गए हैं, कहीं अधूरे हैं और कहीं छायानुवाद मात्र हैं । छायानुवाद भी पूर्ण निर्दोष नहीं हो सके हैं ।

कहीं-कहीं इन उदाहरणों पर भाषाकवियों का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है यथा :

प्रतीप :

लख्यो गुलाब प्रसून में, मैं मधु छक्यो मलिन्दु ।
जैसे तेरे चिबुक में, ललिता लीला बिन्दु ।। ८-३५ ।। का० नि०
ललित स्याम लीला ललन, बढ़ी चिबुक छबि दून ।
मधु छाक्यो मधुकर पर्‌यो, मनो गुलाब प्रसून ।। बिहारी ।।

व्यतिरेक :

घटैं बढ़ैं सकलंक लखि, सब जग कहै ससंक ।
बाल बदन सम है नहीं, रंक मयंक एकंक ।। १०-८ ।। का० नि०
जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किम, चन्द बापुरो रंक ।। तुलसी ।।

शब्दालंकार

दास ने 'चित्र' को मिलाकर कुल ग्यारह शब्दालंकारों का वर्णन किया है। इनमें पांच शब्दालंकार—अनुप्रास, लाट, वीप्सा, यमक और सिंहावलोकन उन्नीसवें उल्लास में 'गुण-निर्णय-वर्णन' के साथ आए हैं। दस गुणों की चर्चा करने के पश्चात् ही इन अलंकारों का निरूपण हुआ है। गुण रस के नित्य धर्म हैं और गुणों का सौन्दर्य अनुप्रास पर आधारित है, अतः गुणों के बाद इन अलंकारों की चर्चा करना दास ने उपयुक्त समझकर गुण वर्णन के प्रसंग में ही उनको स्थान दे दिया है। किसी पृथक् उल्लास में उनका विवेचन नहीं किया। अनुप्रास को 'गुण-भूषण' उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है :

गुण-भूषण अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि । १९-३४ । का० नि०

अनुप्रास के उन्होंने दो—छेक और वृत्ति—भेद किए हैं। 'सिंहावलोकन' एक नवीन अलंकार नहीं है। इस अलंकार का सौन्दर्य कुण्डलिया छन्द के ही समान है। दास ने इसका लक्षण किया है :

चरन अन्त अरु आदि के, जमक कुन्डलित होइ ।
सिंहविलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रस सोइ ।। १९–६१ ।। का० नि०

यहाँ प्रथम चरण का अन्तिम शब्द दूसरे चरण के प्रारम्भ में पुनः आता है और दूसरे चरण के अन्तिम शब्द तीसरे चरण के प्रारम्भ में। यही बात कुंडलिया में भी देखने को मिलती है। अन्य अलंकारों के लक्षण मम्मट से प्रभावित हैं। 'वीप्सा' भी 'सिंहावलोकन' की भाँति नया अलंकार नहीं है। हाँ, दास के पहले किसी हिन्दी आचार्य ने इन अलंकारों का उल्लेख नहीं किया है। देव ने 'सिंहावलोकन' की चर्चा अवश्य की है।

लाट और वीप्सा में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। हर्ष, शोक आदि भावों के कारण जहाँ शब्दों या पदों की आवृत्ति होती है वहाँ 'वीप्सालंकार' होता है। यहाँ आवृत्त पदों का अर्थ एक ही होता है। परन्तु लाट में आवृत्त पदों का अर्थ एक होते हुए भी भिन्न भिन्न शब्दों के साथ उनका सम्बन्ध होने से उनके तात्पर्य में

अवश्य भिन्नता आ जाती है। 'वीप्सा' में तात्पर्य भिन्नता नहीं होती'[1]।

इनके अतिरिक्त बीसवें उल्लास में श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति और पुनरुक्तिवदाभास इन पांच अलंकारों का वर्णन हुआ है। इनमें से प्रथम चार को कुवलयानन्दकार ने अर्थालंकार माना है। 'पुनरुक्तिवदाभास' को मम्मट और विश्वनाथ ने उभयालंकार बताया है। पर दास ने इन सब को 'शब्दालंकारों' में परिगणित किया है। इसका कारण निर्देश करते हुए वे लिखते हैं :

इन पांचहु कौं अर्थ को भूषन कहै न कोई।
जदपि अर्थ भूषन सकल, सब्दसक्ति में होई। २०-२। का० नि०

सभी अर्थालंकार शब्दशक्ति पर निर्भर होते हैं, परन्तु इन पांचों को कोई अर्थ चमत्कार के कारण अलंकार नहीं कहता। अतः शब्दशक्ति पर नहीं वरन् शब्द पर आश्रित होने के कारण ही इन्हें शब्दालंकार कहा गया है।

'श्लेष' के उन्होंने दो भेद किए हैं। 'शब्द श्लेष' और 'उभय (शब्दार्थ) श्लेष'। यह दो, तीन, चार अर्थों वाला हो सकता है। चार अर्थ वाले 'श्लेष' का उदाहरण देते हुए उसके विषय में होने वाली शंका का समाधान भी करते हैं :

उदाहरण है : एतो गुन वारो, दास रवि है कि चंद है कि,
देवी को मृगेन्दु है, कि जसुमतिनन्द है। २०-७।

इस उदाहरण में सन्देहालंकार का सन्देह होना स्वाभाविक है। इस सन्देह को दूर करते हुए वे कहते हैं :

सन्देहालंकार इत भूलि न आनौ चित्त।
कह्यो स्लेस दिढ़ करन कौ, नहि समता थल मित्त। २०-८। का० नि०

उदाहरण में रवि, चन्द्र, मृगेन्द्र और कृष्ण जो नाम गिनाए गए हैं वे 'श्लेष' को दृढ़ करने के लिए आए हैं। अतः वहाँ 'सन्देहालंकार' मानने की भूल नहीं करना चाहिए। क्योंकि सन्देह में तो सादृश्य का होना आवश्यक होता है, वहाँ शाब्दिक समता नहीं होती है; 'श्लेष' में शाब्दिक समता होते हुए भी वास्तविक सादृश्य नहीं होता है। अतः यहाँ उपर्युक्त उदाहरण में शाब्दिक समता होते हुए भी वास्तविक सादृश्य नहीं है। अतएव यहाँ 'सन्देहालंकार' न होकर श्लेषालंकार ही है।

---

१ (अ) एक सब्द बहुबारगी, सो लाटानुप्रास।
तात्पर्य तें होतु है, औरे अर्थ प्रकास॥ १९-४८। का० नि०

(आ) एक सब्द बहु बार जहं, अति आदर सौं होइ।
ताहि वीप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ। १९-५२। का० नि०

'मुद्रालंकार' का मम्मट, विश्वनाथ और जयदेव ने कोई उल्लेख नहीं किया, पर अप्पयदीक्षित ने अवश्य इसे अर्थालंकार स्वीकार किया है। भोज ने उसे शब्दालंकार ही माना है। दास ने इसका लक्षण तो कुवलयानन्द के आधार पर किया है, पर उसकी गणना शब्दालंकारों में ही की है। यथा:

औरो अर्थ कवित्त को, सब्दौ छल ब्योहारु।
झलकै नाम कि नामगन, औरस मुद्रा चारु॥ २०-११। का० नि०

मिलाइए :

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थ परैः पदैः। १३९ कुवल०

'विरोधाभास' को किसी ने भी शब्दालंकार नहीं बताया, पर दास ने इसे शब्दालंकार कहा है। उसका लक्षण वे इस प्रकार करते हैं :

परैं विरुद्धी सब्द गन, अर्थ सकल अविरुद्ध।
कहैं विरुद्धाभास तिहिं, दास जिन्हें मति सुद्ध॥ २०-९। का नि०

अर्थात् विरोधी शब्दों के होते हुए भी जहाँ अर्थ में कोई विरोध नहीं होता वहाँ 'विरोधाभास' होता है। इसको निम्नांकित उदाहरण में घटित किया गया है।

लेखी में अलेखी में नहीं है छवि ऐसी औ,
असमसरी सम सरी दीबे कौं परैं लियैं। २०–१०। का० वि०

यहाँ 'लेखी' और 'अलेखी', 'असमसरी और समसरी' में शब्द विरोध होते हुए भी अर्थ विरोध नहीं है। यहाँ शब्द परिवर्तन न हो सकने के कारण ही 'अन्वयव्यतिरेक' से यह शब्दालंकार होता है। परन्तु 'अन्वय व्यतिरेक' के साथ साथ चमत्कार का होना भी आवश्यक होता है। इसी कारण मम्मट आदि ने इसे अर्थालंकार माना है क्योंकि इसमें शब्द की अपेक्षा अर्थ में चमत्कार अधिक होता है।

चित्रालंकार

इस अलंकार का दास ने बहुत ही विस्तृत वर्णन किया है। पूरा का पूरा इक्कीसवां उल्लास इसीके वर्णन के लिए दिया है। 'चित्रालंकार' का वर्णन सर्वप्रथम हमें दंडी के काव्यादर्श में मिलता है। फिर भोज तक आते आते इसी के समान 'गूढ़ोत्तर' और 'प्रश्नोत्तर' जैसे अलंकारों की भी गणना होने लगी। भोज ने इसका सर्वाधिक वर्णन किया है, फिर भी उन्होंने इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा है :

दुष्करत्वात्कठोरत्वाद् दुर्बोधत्वाद्विनावधेः।
दिङ्मात्रं दर्शितं चित्रे, शेषमूह्यं महात्मभिः॥ २–१३०॥ स०कं०म०

दंडी ने इसे दुष्कर, मम्मट ने कष्टकर और विश्वनाथ ने काव्यान्तर्गडुभूत और केशव मिश्र ने कौतुकविशेषकारी कहा है।

परन्तु दास ने कुलपति आदि का अनुसरण करते हुए 'चित्रालंकार' को सदोष नहीं माना।

दास सुकवि बानी थकै, चित्रकवित्तन मांहि।
चमत्कारहीनार्थ को, इहां दोष कछु नाहिं ।। २१-१ ।। का० नि०

इसके वर्णन में सर्वप्रथम उन्होंने उन सुविधाओं का कथन किया है जो इसके वर्णन में कवि को प्राप्त होती हैं :

ब व ज य बर्ननि जानिए, चित्रकाव्य में एक।
अर्द्धचन्द्र को जनि करौ, छूटें लगे विवेक ।।

फिर उसके प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वाणी चित्र और लेखनी चित्र—ये चार भेद गिनाए हैं। 'प्रश्नोत्तर' के नौ भेद हैं—इनमें पहले दो भेद 'अन्तर्लापिका और 'वहिर्लापिका' वास्तव में कुवलयानन्द के चित्रोत्तर हैं, जो वहां अर्थालंकार माना गया है। फिर वाणीचित्र के पांच निरोष्ठ, अमत्त, निरोष्ठामत्त, अजिह्व और नियमित वर्ण, तथा लेखनी चित्र के अनेक उपभेद बताए गए हैं।

दास के इस चित्र परिवार को हम तीन रूपों में बांट सकते हैं। १—बन्ध चित्र और आकार चित्र, २—प्रश्नोत्तर और ३—क्रम विशेष से वर्णों का स्थापन। इनमें प्रथम रूप ही वास्तव में 'चित्रालंकार' कहलाने के योग्य हैं, दूसरे को 'उत्तरालंकार' और तीसरे को 'अनुप्रास' का एक रूप मानना चाहिये।

तुक

बाईसवें उल्लास में 'तुक' का निरूपण किया गया है। दास का यह निरूपण मौलिक है। संस्कृत में तुक की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई थी क्योंकि वहाँ अतुकान्त छन्दों का ही प्रयोग होता था। अतः यह हिन्दी कविता की अपनी चीज है। यह वास्तव में एक प्रकार से अनुप्रास का ही रूप है। इसीलिए कई हिन्दी आचार्यों ने 'अन्त्यानुप्रास' के रूप में इसका वर्णन भी किया है। तुक के रूप में वर्णन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य दास ही हैं। उन्होंने इसके तीन भेद बताए हैं : उत्तम, मध्यम और अधम। फिर उनके भी उपभेद किए हैं।

उत्तम तुक ; समसरि, विषमसरि, और कष्टसरि।
मध्यम : असंयोगमिलित, स्वरमिलित और दुर्मिल।
अधम : अमिल सुमिल, आदि मत्ता अमिल, अन्त मत्ता अमिल।

भिखारी दास और संस्कृत आचार्य :

दास ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह स्वीकार किया है कि उन्होंने चन्द्रालोक और काव्य प्रकाश को अच्छी तरह समझ कर और अन्य कवियों का पथानुसरण

करते हुए काव्य निर्णय की रचना की है[1]। अतः यह स्वतः सिद्ध है कि इस ग्रन्थ पर चन्द्रालोक और काव्य प्रकाश का तो प्रभाव है ही, साथ ही साहित्य दर्पण और सरस्वती कंठाभरण आदि ग्रन्थों से भी वह प्रभावित है। यह प्रभाव लक्षणों तक ही सीमित न होकर उदाहरणों तक में व्याप्त है।

अलंकारों के अधिकतर नाम और भेद तो कुवलयानन्द से प्रभावित हैं ही, शैली पर भी चन्द्रालोक का प्रभाव है। यह हम पिछले पृष्ठों में दिखा चुके हैं। अलंकारों के उदाहरण शीर्षक में भी बताया जा चुका है कि वे या तो काव्य प्रकाश और साहित्य दर्पण से प्रभावित हैं, या चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की छाया उनमें विद्यमान है। यहां उनके लक्षणों का भी दर्शन कर लीजिए :

लुप्तोत्प्रेक्षा :

लुप्तोत्प्रेक्षा तिहि कहैं, बाचक बिन जो होइ। ६—१७। का० नि०
इवादिकपदाभावे गूढोत्प्रेक्षां प्रचक्षते। ५—३०। चन्द्रालोक

सम्बन्धातिशयोक्ति :

कहुँ जोग तें अजोग है, कहुँ अजोग तें जोग। ११-६। का० नि०
सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयोगे योगकल्पनम्। ३६। कुवल०

अल्प :

अल्प अल्प आधेय तैं सूक्षम होइ अधार। ११-४१। का० नि०
अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयादाधारस्य सूक्ष्मता। ६७। कुवल

समासोक्ति० :

जहं प्रस्तुत में पाइए, अप्रस्तुत को ज्ञान। १२-१६। का० नि०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्। ६१। कु०

इसी प्रकार अक्रमातिशयोक्ति, अधिक, असंगति, विभावना, बिषम, उल्लास अनुज्ञा, अतद्गुण' आदि अलंकारों के लक्षण भी कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। वे या तो कुवलानन्द के अनुवाद हैं या छायानुवाद हैं।

उदाहरण भी चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश या साहित्य दर्पण से प्रभावित हैं ही, साथ ही अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी उनपर प्रभाव है। दो एक उदाहरण देखिए।

विशेषोक्ति :

देह दसा निसिदिन बरै, घटै न हिय को नेह। १३-३४। का० नि०
हृदि स्नेहक्षयो नाभूत्स्मरदीपे ज्वलत्यपि। ८३। कुवल०

१—बूझि सु चन्द्रालोक अरु काव्यप्रकासहु ग्रन्थ।
समुझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरो कवि पंथ। १—५। का० नि०

अनुगुण :

नील सरोज कटाछ लहि, अधिक नील ह्वै जाइ । १४-३६ । का० नि०

कर्णोत्पलानि दधते कटाक्षैरपि नीलताम् । ५-१०६ । चन्द्रालोक

विकास पर्याय :

लाली हुती प्रियाधरहि, बढ़ी हिए लौं हाल ।

अब सुवास तनु सुरंग करि, ल्याई तुम पै लाल ।। १८-२५ ।। का० नि०

बिम्बोष्ठ एव रागस्ते तन्वि ! पूर्वमदृश्यत् ।

अधुना हृदयेऽप्येष मृगशावाक्षि ! लक्ष्यते । १०-५१४ । का० प्र०

संभावनातिशयोक्ति :

सागर सरित सर जहं लौं जलासै जग,

सब मैं जो केहूँ किल कज्जल रलावई ।

× × ×

होइ हद काजर कलम कागदन को,

गुपाल गुनगुन को तऊ न हद पावई । ११–२३ । का० नि०

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे ।

× × ×

तदपि तव गुणानामीश पारं न याति । महिम्नः स्तोत्र ।

कारणमाला :

विद्या देती विनय को, विनय पात्रता मित्त ।

पात्रत्वै धन धन धरम, धरम देत सुख नित्त। १८-१० । का० नि०

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम् । सुभाषित ।

ऐसे ही अन्य और उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो अन्य संस्कृत ग्रन्थों से प्रभावित हैं ।

आर्थी और श्रौती उपमा, विरोध, व्यतिरेक, परिसंख्या तथा रूपक आदि के भेद वर्णन में काव्य प्रकाश से, तथा श्लेष, समासोक्ति और रशनोपमा के लिए साहित्य दर्पण से भी सहायता ली गई है । चित्रालंकार का विस्तृत वर्णन तो भोज के सरस्वतीकंठाभरण से प्रभावित है ही । इस प्रकार दास जी अपनी इस रचना के लिये जयदेव, अप्पयदीक्षित, मम्मट, विश्वनाथ और भोज तथा अन्य संस्कृत कवियों के ऋणी हैं। साथ ही उन्होंने भाषा कवियों से भी सहायता ली है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है ।

दास की मौलिक उद्भावनाएँ

संस्कृत आचार्यों से प्रभावित होते हुये भी, और उनका ऋण स्वीकार करते हुए भी दास ने अपने इस ग्रन्थ में अनेक मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं जो उनकी प्रखर प्रतिभा की द्योतक हैं।

हिन्दी साहित्य में अलंकारों का वर्गीकरण करनेवाले सर्वप्रथम आचार्य दास ही हैं। यद्यपि यह वर्गीकरण अपने में पूर्ण नहीं है तथापि उन्होंने यह स्तुत्य प्रयास करके इस दिशा में अन्य कवियों के लिये मार्गप्रदर्शन किया है।

उन्होंने सूक्ष्म, पिहित आदि सूक्ष्म वर्ग के अलंकारों को वस्तुव्यंग्यात्मक ध्वनि पर आश्रित बताया है जो उनके स्वतंत्र चिंतन का ही परिणाम है। दास की इस धारणा से सूक्ष्मादि अलंकारों का विषय व्यंग्यकाव्य बन जाता है, तथापि यह अलंकारों के महत्व की सूचक अवश्य है।

कुवलयानन्द में प्रमाण के भेदों में जो 'एतिह्य' भेद बताया गया है, दास ने उसको ग्रहण न करके एक 'आत्मतुष्टि' नामक भेद की कल्पना की है। 'एतिह्य' वास्तव में 'शब्द प्रमाण' का ही अंग है; अतः उसे स्वतंत्र स्थान नहीं मिलना चाहिये। इसी बात को ध्यान में रखकर दास ने उसे स्वीकार नहीं किया। 'आत्मतुष्टि' एक स्वतः शक्तिशाली प्रमाण है।

जिस 'चित्रोत्तर' अलंकार को कुवलयानन्दकार ने उत्तर का ही भेद मानकर अर्थालंकारों में स्थान दिया था, उसे दास ने 'चित्र' नाम से अभिहित करते हुए शब्दालंकारों में परिगणित कराया। वास्तव में इस अलंकार में जितना चमत्कार शब्दगत है उतना अर्थगत नहीं है। 'अन्वय व्यतिरेक' से भी यह शब्दालंकार ही सिद्ध होता है। अतः उक्त अलंकार को दास ने उपयुक्त स्थान देकर अपनी मौलिकता का परिचय कराया है।

'भेदकातिशयोक्ति' को दास ने 'अनन्वय' का व्यंग्य[1] कहकर दोनों 'अनन्वय' और 'भेदकातिशयोक्ति' का अंतर स्पष्ट किया है। दोनों अलंकारों में उपमेय की अद्वितीयता बताना अभीष्ट होता है। पर एक में तो वह वाच्य होती है और दूसरे में व्यंग्य रहती है।

१—अनन्वयहु की व्यंगि यह, भेदकातिसय उक्ति। ११-५। का० नि०

'लुप्तोप्रेक्षा' की कुछ समानता दास ने 'काव्यलिंग में बताई है[१]। काव्यलिंग में समर्थनीय अर्थ का समर्थन होता है[२], लुप्तोत्प्रेक्षा या गम्योत्प्रेक्षा में इस समर्थन की संभावना रहती है। इस प्रकार की समानता की ओर किसी ने भी संकेत नहीं किया था।

'अप्रस्तुत प्रशंसा और 'व्याजस्तुति' के विषय में आचार्यों में मतभेद रहा है। एक की स्तुति से दूसरे की निन्दा में मम्मट आदि 'व्याजस्तुति' मानते हैं और दण्डी और कुन्तक 'अप्रस्तुत प्रसंशा' कहते हैं। परन्तु दास ने इनको कहीं भिन्न और कहीं अभिन्न स्वीकार किया है। यथा :

अप्रस्तुतपरसंस अरु व्याजस्तुति की बात।
कहुँ भिन्न ठहरात अरु कहूँ जुगल मिलि गात ।। १२-२३ ।। का० नि०

परन्तु दास के इस कथन से अचार्यो के मत-वैभिन्य का कोई निर्णय नहीं होता है।

तुक का विस्तृत वर्णन दास की मौलिक उद्भावना का सूचक है ही।

इस प्रकार दास ने अपनी प्रतिभा द्वारा अनेक मौलिक उद्भावनाएं उपस्थित करके अपनी स्वतंत्र चिन्तना एवं निरीक्षण शक्ति का परिचय देकर हिन्दी अलंकार साहित्य में अपना एक विशिष्ट महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

मूल्याङ्कन :

हिन्दी आचार्यों में दास का अपना एक विशिष्ट स्थान है। अलंकारों का विस्तृत वर्णन करने पर भी उन्होंने अपना रसध्वनि सम्मत दृष्टिकोण उपस्थित किया है जिससे हम उन्हें अलंकारवादियों की श्रेणी में नहीं रख सकते। अलंकारों के अतिरिक्त काव्य के अन्य अंगों का निरूपण करके उन्होंने अपने रीति विषयक विस्तृत ज्ञान का भी परिचय कराया है।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित होने पर भी दास ने उनका अंधानुसरण नहीं किया, वरन् अपनी मौलिक उद्भावनाएं भी उपस्थित की हैं, जिनसे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

उन्होंने अपने ग्रन्थ में जिस सहज और संक्षिप्त शैली को अपनाया है, उससे उनकी रचना भी सरल बन गई है, इस सरलता के कारण वह लोकप्रिय तो हैं ही, पर साथ ही उसकी मौलिक उद्भावनाओं ने विद्वानों का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है।

१—लुप्तोत्प्रेक्षा तिहि कहैं, वाचक बिन जो होइ।
याकी बिधि मिल जात है, काव्यलिंग में कोइ। ६-१७। का० नि०

२—समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम्। १२१। कुवल०

उनके लक्षणों और उदाहरणों में भाषा की सुरुचि भी दर्शनीय है। उदाहरणों की सरसता ने इस रचना को और भी सुन्दर बना दिया है। प्रयोजन यह कि दास अपनी इस रचना के द्वारा हिन्दी—रीति—जगत में अमर होगये और हिन्दी—साहित्य उनकी रचना से वैभव सम्पन्न बन गया।

तुलसी भूषण : रसरूप

(वि० सं० १८११)

तुलसी भक्त कवि रसरूप ने 'तुलसी भूषण' नामक ग्रन्थ[1] की रचना वि सं० १८११ में की थी[2]। काशी ना० प्र० स० के पुस्तकालय में प्राप्त हस्तलिखित प्रति संख्या २६२४/१५६७ में कुल ८२ पृष्ठ हैं। इसमें अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्तवदाभास इन छहशब्दालंकारों[3] और १११ अर्थालंकारों[4] का विवेचन किया गया है। ये वही अलंकार हैं जो तुलसी ने अपनी रामायण में रख दिए थे[5]। यहाँ लक्षण तो औरों से लिये गये हैं; पर लक्ष्य (उदाहरण) रामायण से उद्धृत किये गये हैं[6]। अतः तुलसी के लक्षण और अन्यों के भूषण (अलंकारलक्षण) के सम्मिलन से इस ग्रन्थ का नाम 'तुलसी भूषण' सार्थक है। अथवा तुलसी की वाणी में अभिव्यक्त भूषणों का वर्णन करने से भी ग्रन्थ के शीर्षक की सोद्देश्यता सिद्ध होती है।

तुलसी भूषण में दोनों प्रकार के अलंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों का वर्णन सबसे पहले हुआ है। शब्दालंकारों में अभी तक दास को छोड़कर प्रायः सभी

१—ना० प्रा० सभा काशी में प्राप्त हस्तलिखित प्रति के अधार पर
संख्या २६२४/१५६७

२—दस वसु सत संवत हुतो अधिक और दस ऐक।
किये सुकवि रस रूप ऐह, पूरण सहित बिवेक।'

३—अनुप्रास वक्रोक्ति पुनि जमक श्लेष सुचित्र।
पुनरुक्तवदाभास ऐ षटविधि शब्द विचित्र॥

४—एकादस अरु एक सत मुख्य अलंकृत रूप॥

५—श्री तुलसी निज भनित में, भूषन धरे दुराय।
ताहि प्रकासन की भई, मेरे चित में चाय।
रामायन में जो धरे, अलंकार के भेद।
ताहि जथामति बूझि कै, रच्यौ प्रबन्ध अखेद॥

६—औरनि के लच्छन लिए, रामायण के लच्छ।
तुलसी भूषन ग्रंथ को, या विधि कियो प्रतच्छ॥

हिन्दी आचार्यों ने अनुप्रास, यमक आदि को ही रक्खा था, पर रसरूप ने बक्रोक्ति, श्लेष, और पुनरुक्तवदाभास को भी सम्मिलित कर लिया है। ये मम्मट के प्रभाव से ही यहां रक्खे गए हैं। मम्मट ने इन्हीं छह शब्दालंकारों का विवेचन किया है। इन अलंकारों के लक्षण कवि ने दोहों में लिखे हैं और उदाहरण तुलसी की रामायण से उद्धृत किए हैं, साथ ही गीतावली से भी उदाहरणों के लिए सहायता ली है। उदाहरण देते समय कवि ने कवित्त रामायण विषे, गीतावली आदि लिख कर ग्रन्थों की ओर संकेत कर दिया है।

चित्राकलंकार का वर्णन कवि ने विस्तार के साथ किया है। उसमें खड्गबंध, हारबंध, गोमूत्रिका बंध, चक्रबंध, कमलबंध, सारिकाबंध, तथा छत्रबंध आदि को रंग बिरंगे बंधचित्रों द्वारा सम्यक् प्रकार से समझाया और सजाया गया है।

अर्थालंकार प्रकरण में अलंकारों का वर्णन अकारादि के क्रम से किया गया है। कवि ने स्वयं इस बात को स्पष्ट कर दिया है:

अछर को संबंध करि क्रम ही सों रस रूप।
आदि वरन के नेम सों भूषन रचे अनूप।

इसी कारण सबमे पहले यहां 'आशीष' अलंकार का वर्णन किया गया है। इस प्रकरण में स्थल स्थल पर कुवलयानन्द और चन्द्रालोक का नामोल्लेख भी किया गया है जिससे स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि कवि ने अमुक अलंकार का लक्षण कुवलयानन्द से या चन्द्रालोक से लिया है, और साथ ही वहाँ का श्लोक तक भी उद्धृत कर दिया है। देखिए:

शुद्धापन्हुति:

वरन मेंटि अवरन कहै सुद्धापन्हुति जानि
इन्दु नहीं अरविंद है नभ गंगा में मानि।।

जथा चौपई: मैं जे कहा रघुवीर कृपाला, बन्धु न होई मोर इह काला।
कुवलयानन्द: सुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि ? व्योमगंगासरोरुहम् ।। २६ ।। कु०

इसी प्रकार हेत्वपन्हुति, पर्यस्तापन्हुति, भ्रान्तापन्हुति, छेकापन्हुति, अवज्ञा, अनुज्ञा, अनन्वय, असंभव आदि अलंकारों के निरूपण के समय कुवलयानन्द का और अतद्गुण, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि के प्रसंग में चन्द्रालोक का, अधिकतद्रूपक में कल्पलता का नामोल्लेख किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में भी इन आचार्यों का ऋण कवि ने स्वीकार किया है:—

सम्मत काव्य प्रकास को और कुवलयानन्द।
चन्द्रालोक लताकलप, चन्द्रोदय सुभकन्द।।

इस प्रकार रस रूप का तुलसी भूषण-काव्यप्रकाश, कुवलयानन्द, चन्द्रालोक, कल्पलता और चन्द्रोदय से प्रभावित है। शब्दालंकारों में तो काव्य प्रकाश का प्रभाव स्पष्ट ही है, इसके साथ साथ श्रौती और आर्थी उपमाओं में भी काव्य प्रकाश की सहायता ली गई है। इतना होने पर सर्वाधिक सहायता कुवलयानन्द से ही प्राप्त हुई है; क्योंकि अधिकांश ग्रंथ में उसी का नाम कवि ने दिया है, ऐसा जान पड़ता है कि रसरूप उसी से अधिक प्रभावित थे।

उदाहरणों में कवि ने रामायण से तो उद्धरण लिए ही हैं, पर गीतावली और बरवै रामायण से भी अनेक उदाहरण उद्धृत किए गए हैं। और उचित स्थलों पर उनका निर्देश भी कर दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी भूषण में कवि का अपना कुछ नहीं हैं। उदाहरण तो तुलसी के हैं ही, लक्षण भी दूसरों से या तो अनूदित हैं, अथवा संस्कृत ग्रंथों की छाया उनमें विद्यमान है। अतः मौलिकता या नवीनता के नाते तथा अपना कुछ है यह कहने के नाते इस ग्रंथ में कुछ भी नहीं है। लक्षणों की भाषा उनकी अवश्य अपनी है। अतएव रसरूप न तो कवि के रूप में ही और न आचार्य के रूप में ही कुछ महत्व रखते हैं। परन्तु उदाहरणों में अपनी कवित्व शक्ति के प्रदर्शन का लोभ संवरण कर सत्कविता के प्रस्ताव का समुचित एवं नूतन उदाहरण उपस्थित किया है।

रूप विलास : रूपसाहि

(वि० सं० १८१३)

पन्ना नरेश महाराज छत्रसाल के पौत्र और श्री हिरदेश के सुपुत्र महाराज हिन्दूपति के आश्रय[१] में पन्ना निवासी कायस्थ-जाति-भूषण कमलनयन के सुपुत्र रूपसाहि ने[२] वि० सं० १८१३ के भाद्रपद शुक्ल पक्ष की दशमी शनिवार के

---

१ छत्रसाल बुंदेल मनि ता सुव श्री हिरदेश।
सभासिंह जाके तनय ता सुव हिन्दु नरेश॥ १२॥ रू० वि०

२ काइथ गुनि परवार है श्रीयवास पनराम।
सुभपरना अस्थान है बाग महल अभिराम॥ ३॥ वही
काइथ वंस कुलीन अति, प्रगट नराइनदास।
सिवाराम तिनके सुवन, कमलनैन सुत तास॥ ४॥ वही
फौजदार तिनके तनय रूपसाह यह नाम।
कीनौं रूप विलास तिन, ग्रन्थ अधिक अभिराम॥ ५॥ वही

रोज[1] 'रूपविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी हस्तलिखित प्रति संख्या ९०।२५ काशी ना० प्र० सभा के पुस्तकालय में प्राप्त है।

इस ग्रन्थ में कुल १४ विलास और ७२० पद हैं। प्रथम विलास में मंगलाचरण, राजवंश, कविवंश, वर्ण्य विषय, रचनाकाल के पश्चात् काव्य लक्षण, प्रयोजन और काव्य-कारण का कथन ३५ दोहों में हुआ है। दूसरे में ६२ पदों में मात्रिक छन्दों का, तीसरे में ११४ पदों में वार्णिक वृत्तों का, चौथे में २९ पदों में षट् प्रत्यय का, पांचवें के ५४ पदों में नायक वर्णन, छठवें विलास के १३ पदों में जातिगत नायिका का, सातवें के २० पदों में वयः नायिका का, आठवें विलास में ५२ पदों में स्वभाव नायिका का विवेचन हुआ है। फिर नवें विलास के ६६ पदों में समय नायिका, दसवें विलास के १७ छन्दों में सखी दूती का, ग्यारहवें में ९८ छन्दों में नव रसों का, बारहवें में ९६ छन्दों में अलंकारों का, तेरहवें विलास के ४७ पदों में चित्रालंकार का और चौदहवें विलास के १६ पदों में षट् ऋतु का निरूपण हुआ है। इस प्रकार कुल ग्रन्थ में काव्य लक्षण, छन्द, नायक-नायिका-भेद, रस, अलंकार और षट् ऋतु आदि विषयों की चर्चा की गई है। नायक-नायिका-भेद के लिए यहाँ ६ विलास और अलंकार वर्णन के लिए दो विलास समर्पित किए गए हैं। इस वर्ण्य विषय की चर्चा कवि ने अपने ही शब्दों में इस प्रकार की है :

कविता लच्छन प्रथम कहि वहुरि छन्द गन ग्यान।
पीछै नायक नायका पुनि नवरस परिवान ।। १-६ ।। रू० वि०
अलंकार दरसन वहुरि षट् रितु बरनन वेस।
पढ़त गुनत जाकै सुनत सुख सरसाइ सुदेस ।। १-७ ।। रू० वि०

इस प्रकार 'रूप विलास' काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालता है।

काव्य का लक्षण देते समय कवि ने प्राचीन, नवीन और अति नवीन मत का कथन किया है। प्राचीन मत में उन्होंने काव्य प्रकाश का उल्लेख करते हुए काव्य का लक्षण बताया है :—

जहाँ अदोषिल गुन सहित शब्द अर्थ निरधार।
अलंकार हू बिना पुनि कविता कहत उदार ।।१-१२।। रू० वि०
ओज आदि दै गुन गनैं दोषसिथिल पद आदि।
मत कहि काव्य प्रकास को, अलंकार रसवादि ।।१-१३।।रू० वि०

इसी प्रकार नवीन मत में "सरदागम आदि दै अलंकार मत गाइ" कहकर

---

१ गुन ससि वसु ससि जानिए संवत अंक प्रकास।
भादौं सुद दशमी शनौ, जनम्यौ रूप बिलास ।। १० ।। वही

अलंकार वादियों के मत की ओर संकेत किया है । अति नवीन कवि संमत मत का प्रतिपादन इस प्रकार किया है :

अति नवीन कवि काव्य को लक्षन...... प्रति आगे फटी हुई है
होइ विलक्षन चमत्कृति उक्त लक्षननि पाग ।
ताही सौं कविराज कुल कविता कहि अनुरागि ॥१-१६॥ रू० वि०

परन्तु कवि ने अपना लक्षण नहीं दिया है। आगे चलकर काव्य के पर्यायवाची शब्द "कविता काव्य कवित्त ये कहत नाम कवि तीन" देकर काव्य प्रयोजनों और काव्य के कारणों पर प्रकाश डाला है । विलास के अन्त में कवि ने लिखा है :

कविता वर वनिता वरनि भूषन अंग अपार ।
मोहित मन ह्वै रसिक जन, पद गति लखि सुकुमार ॥
१-३५ ॥ रु०वि०

इससे ज्ञात होता है कि कवि कविता के लिए अलंकारों को आवश्यक तो समझता है, पर उन्हें वह अंग रूप ही (साधन मात्र ही) बताता है; अलंकारवादियों की भाँति अंगी (आत्मा) नहीं ।

दूसरे विलास में छन्दों का वर्णन है । काव्य शास्त्रियों ने काव्यांगों के साथ छन्दों का वर्णन नहीं किया है, उसे एक पृथक् विषय मानकर ही संस्कृत-ग्रंथों में उसका विवेचन हुआ है । परन्तु यहाँ रूपसाहि ने छन्दों का वर्णन करने का कारण बताते हुए कहा है कि छन्द के बिना काव्य-शरीर की रचना नहीं हो सकती, अतः इसी कारण मैं उनका वर्णन कर रहा हूँ :

बनतु न काव्य सरीर है, बिना छंद की रीति ।
तातें पिंगल मत कहत, रूपसाह करि प्रीति ॥ २-१ ॥ रु० वि०

मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन यहाँ दो विलासों में किया गया है । इस वर्णन की यह विशेषता है कि जिस छन्द का लक्षण कहना है, उसे उसी छन्द में कहा गया है, जिससे पृथक् रूप से उसका उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं रह गई । अर्थात् एक ही छन्द में छन्द का लक्षण और उदाहरण आ गया है ।

इसके पश्चात् नायक-नायिका-भेद और नव रसों का वर्णन हुआ है। तदनन्तर बारहवें और तेरहवें विलास में अलंकारों का वर्णन आता है ।

रस प्रकरण में रस की परिभाषा करने के बाद उसके लौकिक और अलौकिक दो भेद किए गए हैं । पुनः, लौकिक रस के स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक—

तीन भेद बताकर उनके लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। इसके बाद ही नव रस का वर्णन प्रारम्भ होता है। रसों के लक्षण और उदाहरण मात्र ही दिए गए हैं, उनका विशेष विवेचन यहाँ नहीं है। शृंगार-रस में हावों का विवेचन भी हुआ है तथा वियोग–दशाओं की भी चर्चा की गई है। अनुभाव, विभाव, संचारी भाव आदि का वर्णन यहाँ नहीं है और न भावोदय, आदि की भी कोई चर्चा की गई है।

रस वर्णन के पश्चात् चार प्रकार की--कैशकी, भारती, आरभटी और सात्विकी-वृत्तियों का विवेचन हुआ है। यह वर्णन केशव के वर्णन के समान ही है। जिस प्रकार केशव ने यह बताया है कि कौन सी वृत्ति किस किस रस से मिलकर बनती है, उसी प्रकार रूपसाहि ने भी बताया है। देखिए :

करुन हास्य सिंगार मिलि वृत्ति कौसिकी जानि।
हास्य वीर अद्भुत सहित वृत्ति भारती मानि ॥ ११-९३ ॥ रू०वि०

अलंकार वर्णन

यहाँ सर्व प्रथम अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

उपमादिक करि होत जहं, भूषित काव्य स्वरूप।
अलंकार सो नारि कौं ज्यों आभरन अनूप ॥ १२-१ ॥ रू० वि०

इस लक्षण से स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि रूपसाहि के मत में अलंकार काव्य स्वरूप को भूषित करने वाले साधन हैं। इससे हम उनके अलंकार विषयक दृष्टिकोण का अनुमान कर सकते हैं।

कवि ने अलंकार के दो भेद माने हैं अर्थालंकार और वर्णालंकार।

अलंकार दो विधि वरनि, अर्थ वरन निर्धारि।
उपमादिक छेकादि ए, क्रम तें लेहु विचारि ॥ १२-२ ॥ रू० वि०

यहाँ लक्षण में सर्वप्रथम अर्थ का कथन हुआ है, अतः कवि ने क्रमानुसार पहले अर्थालंकारों का ही निरूपण किया है।

अर्थालंकारों में सर्वप्रथम 'उपमालंकार' का वर्णन किया गया है, पर उसकी प्रधानता के कारण का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है। यहाँ उपमालंकार सहित कुल ६८ अलंकारों का विवेचन हुआ है। सामान्य, अनुमान, काव्यलिंग, प्रौढ़ोक्ति, निरुक्ति, संभावना, आवृतिदीपक, प्रतिवस्तूपमा, निदर्शना, अर्थांतरन्यास, विकस्वर, असंगति, सम, व्याघात, एकावली, रत्नावली, पर्याय, परिसंख्या, प्रस्तुतांकुर, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, उल्लास, अनुगुण, अवज्ञा, मिथ्याध्यवसिति, ललित, मुद्रा, रत्नावली, सूक्ष्म, छेकोक्ति, विवृतोक्ति, प्रतिषेध, हेतु और विशेष इन ३७ अलंकारों को

स्थान नहीं मिला है। ललितोपमा, पहेली इन दो अतिरिक्त अलंकारों की चर्चा यहाँ है, पर कुवलयानन्द में नहीं है। 'उत्तरालंकार' का वर्णन नहीं है पर उसके एक भेद चित्र का वर्णन अवश्य है। 'यथासंख्य' और 'क्रम' नाम से दो अलंकार आए हैं। यह 'क्रम' अलंकार नवीन सा ही है, क्योंकि इसका जो लक्षण यहाँ दिया गया है वह 'यथासंख्य' से और पर्याय से भिन्न है।

अलंकारों का यहाँ जो क्रम रक्खा गया है, वह बहुत कुछ चन्द्रालोक से ही मिलता है, कुवलयानन्द से नहीं। परन्तु चन्द्रालोक से भी इसमें बहुत अन्तर पड़ गया है। 'उपमा' से लेकर 'विषाद' तक का क्रम तो समान है, पर उसके बाद व्यतिक्रम आ जाता है। साहित्य-दर्पण और काव्य-प्रकाश के क्रम से भी यहाँ के क्रम में कोई साम्य नहीं है।

यहाँ अलंकार के नामों में भी कुछ नवीनता है। जैसे 'कारणमाला' को यहाँ 'गुम्फ', 'व्याजस्तुति' और 'व्याजनिन्दा' को 'निन्दास्तुति' और 'स्तुतिनिन्दा' तथा 'अप्रस्तुतप्रशंसा' को 'अन्योक्ति' कहा गया है।

भेदों का जहाँ तक सम्बन्ध है, रूपसाहि ने सभी भेदोपभेदों का वर्णन नहीं किया। अपनी सुविधानुसार ही अलंकार के भेदों का वर्णन किया है। जैसे 'अपन्हुति' के केवल पांच भेदों का ही वर्णन किया। 'हेत्वपन्हुति' को उन्होंने नहीं लिया। 'अतिशयोक्ति के भेदों में 'सापन्हव', 'चपला' नामक भेदों की उपेक्षा कर दी। रूपक, व्यतिरेक, आक्षेप, विरोधाभास, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता अलंकारों के भेदों की तो चर्चा तक नहीं की। 'लुप्तोपमा' में केवल

"इक बिन दो बिन तीन बिन, लुप्तोपमा प्रमान"।
रति सी रमा सिया सती, राधा रूप निधान ।। १२-५ ।। रू० वि०

कहकर तीन प्रकार की 'लुप्तोपमाओं' का ही वर्णन किया है, अन्य लुप्ताओं को त्याग दिया है।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दोहा जैसे छोटे छन्द में दिए गए हैं। एक ही दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण दिया गया है। इससे जान पड़ता है कि कवि ने 'भाषा भूषण' का अध्ययन किया था। परन्तु इस शैली को अपनाने के कारण अनेक लक्षण अस्पष्ट रह गए। कहीं कहीं लक्षण अशुद्ध भी हो गए हैं। देखिए :

अनन्वय : उपमानै उपमेय यह कहत अनन्वय टेक

जहाँ उपमेय उपमान बनता है वहाँ 'अनन्वय' होता है, ऐसा कहने से ही लक्षण ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय बनाने

की बात तो 'रशनोपमा' और 'उपमेयोपमा' में भी होती है। इसलिए यहाँ होना चाहिए था कि एक ही वाक्य में एक ही वस्तु को उपमेय और उपमान जहाँ बनाया जाता है वहाँ 'अनन्वय' अलंकार होता है। इसी कारण साहित्य दर्पणकार ने उसकी परिभाषा की है :

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वन्वय: । १०-२६ । सा० द०

उपर्युक्त हिन्दी-लक्षण 'एक' के कथन का अभाव होने से निर्दोष नहीं हो पाया ।

अन्योक्ति : अन्योकति कहि और सो लगै अंत ही आइ । १२-८४ । रू० वि०

वस्तुत: जहां अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत का कथन होता है, वहां 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' या 'अन्योक्ति' अलंकार होता है। परन्तु इस लक्षण में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत कथन की बात स्पष्ट नहीं होती। वैसे लक्षण ठीक है, पर उसके भाव तक पहुँचने के लिए मस्तिष्क पर जोर डालने की आवश्यकता पड़ती है।

आक्षेप : आछेप कहि पहिल सो फिरि फेरिये विचारि ।।१२-४४।। रू० विं०

'आक्षेप' अलंकार वहाँ होता है जहाँ विवक्षित वस्तु की विशेषता प्रतिपादन करने के लिए निषेध सा किया जाता है। वस्तुत: 'आक्षेप' में निषेध नहीं होता, निषेध का आभास होता है। वह निषेधाभास इस लक्षण में 'फेरिए' शब्द से स्पष्ट नहीं है। अत: उसे निर्दोष और स्पष्ट लक्षण नहीं कहा जा सकता।

रूपक का लक्षण तो निश्चय ही ठीक नहीं है :

सो रूपक वाचक बिना, उपमेय रु उपमान ।१२-१३। रू० वि०

यहाँ वाचक शब्द बिना उपमेय और उपमान के वर्णन को रूपक बताया गया है जो बिल्कुल अशुद्ध है। यहाँ अभेद विवक्षा का कथन न होने से लक्षण अशुद्ध हो गया। उदाहरण उपयुक्त है।

इसी प्रकार 'विचित्र' के लक्षण में भी कुछ अस्पष्टता सी पाई जाती है। इनके अतिरिक्त अन्य लक्षण स्पष्ट और बड़े सरल हैं।

'परिणाम' अलंकार के यहाँ दो लक्षण मिलते हैं। यथा :

(i) उपमान वै उपमेय की करै क्रिया परिनाम ।।
(ii) उपमे अरु उपमान विच, सब्द कछू परिनाम ।।
१२-१४ ।। रू० वि०

ऊपर वाला लक्षण पृष्ठ के ऊपर टिप्पणी के रूप में है। दोनों लक्षणों में विशेष कोई अन्तर नहीं है।

स्मृति, भ्रम और सन्देह के लक्षण यहाँ उनके नामों में बताए गए हैं :

सुमिरन भ्रम सन्देह ये नामहिं लक्षन पाइ ।। १२-१६ ।। रू० वि०

पर उदाहरण पृथक् पृथक् दिए गए हैं ।

उदाहरण अत्यंत सरल और मनोहर हैं। एक अलंकार के लक्षण के बाद ही उसका उदाहरण भी दिया गया है। जहाँ किसी अलंकार के कई भेद हैं, वहाँ पहले एक भेद का वर्णन हुआ है। इस कारण लक्षण और उदाहरण में पूर्ण संगति पाई जाती है। इन उदाहरणों में कहीं कहीं कुवलयानन्द की छाया भी विद्यमान है।

स्मरण : राका ससि अवलोकि कै वा मुख की सुधि आइ ।।१२-१६।। रू० वि०

पंकजं पश्यत: कान्तामुखं मे गाहते मनः ।। २४ ।। कुवलयानन्द

परिकराङ्कुर : चार पदारथ देत हैं चतुर चतुर्भुज देख ।।१२-३०।। रू० वि०

चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ।। ६३ ।। कुवल०

परन्तु सर्वत्र ऐसा ही नहीं है। अधिकांशत: वे कवि के अपने हैं और विशेष कर उनका सम्बन्ध राधा और कृष्ण अथवा राम और सीता के सौन्दर्य से है।

वर्णालंकार

यहाँ चार अनुप्रासों—वृत्ति, छेक, अस्फुट और लाट—का तथा चित्रालंकार का निरूपण हुआ है। अस्फुट और लाट में थोड़ा अन्तर होता है, जो इस प्रकार है :

सुर विंजन बदले जहाँ सो अस्फुट परकासु ।
सुर विंजन बदले नहीं, सो लाटानुप्रास ।। १३-४ ।। रू० वि०

चित्रालंकार का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। यहां चित्र काव्य में एक से लेकर चार वर्णों तक के उदाहरण पाए जाते हैं। चित्र के अन्तर्गत भिन्नार्थगतागत, अभिन्नार्थगतागत, एकानेकोत्तर, व्यस्त समस्त उत्तर, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। तत्पश्चात् कपाटबंध, त्रिपदीचक्र, अर्धगुप्तचक्र, चरनगुप्तचक्र, हारबंध, पर्वतबंध, सर्वतोमुखचक्र, धनुषबंध, छत्रबंध, सर्वतोभद्रचक्र, खड्गबन्ध, कमलबंध, आदि के लक्षण और उदाहरण सुन्दर चित्रों के साथ दिखाए और सजाए गए हैं।

रूपसाहि और संस्कृत आचार्य :

इसमें सन्देह नहीं कि रूपसाहि ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को आधार बनाया था। यद्यपि अलंकारों के भेद और क्रम की दृष्टि से रूपसाहि में अन्तर दिखाई पड़ता है, तथापि लक्षण और उदाहरणों में उनका प्रभाव विद्यमान है।

अनेक लक्षण तो अनुवाद से जान पड़ते हैं, और अनेकों में उनकी छाया दिखाई पड़ती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं :

परिणाम : उपमान वै उपमेय की करै क्रिया परिनाम ॥ रु० वि०
परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ॥ २१ ॥ कुवल०

उल्लेख : समुझै बहु बहु भांति सौं एकै सो उल्लेख । १२-१५ । रु० वि०
बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते ॥ २२ । कुवल०

सहोक्ति : सो सहोक्ति जो एक संग सुनत सबै सुख होइ । १२-७१ । रु० वि०
सहोक्ति : सहभावश्चेद्भासते जनरंजन : ॥ ५८ ॥ कुवल०

यहां 'सुख होइ' और 'जनरंजन' शब्द विचारणीय हैं।

इसी प्रकार परिकर, परिकरांकुर, अधिक, अल्प आदि अलंकारों के लक्षण भी इसी दृष्टि से उद्धृत किए जा सकते हैं।

उदाहरणों के विषय में पहले दिखाया ही जा चुका है।

वर्णन शैली भी इसी की ओर संकेत करती है कि कवि ने चन्द्रालोक का अवलोकन किया होगा। 'ललितोपमा' कवि ने चन्द्रालोक से ही ग्रहण की है, क्योंकि कुवलयानन्द में उसकी चर्चा नहीं है। शब्दालंकारों के लिए भाषा भूषण से ही सहायता ली गई है तथा 'चित्रालंकार' के वर्णन में कवि ने दास का अनुकरण किया है। क्योंकि 'दास' ने भी चित्र के अनेक भेदोपभेदों का वर्णन किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रूपसाहि के 'रूप विलास' का आधार तो चन्द्रालोक और कुवलयानन्द है, यद्यपि कवि ने कहीं इसका उल्लेख नहीं किया है। इसके साथ ही 'भाषा-भूषण' और 'काव्य-निर्णय' भी उसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं।

भाषाभरण : बैरीसाल

(वि० सं० १८२५)

बैरीसाल ने अपने अलंकार-ग्रन्थ 'भाषा भरण' की रचना वि० सं० १८२५ में मधुमास के शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी बुधवार के रोज़ की थी[1]। बैरीसाल ने इस ग्रन्थ में अपना नाम ग्रन्थकर्ता के रूप में स्पष्ट रूप में कहीं नहीं दिया है[2], पर उसे

१ सर कर वसु विधु वर्ष में, निर्मल मधु को पाइ।
त्रिदस और बुध मिलि कियो, भाषाभरण सुभाइ ॥ ८ ॥ भा० भ०

२ हौं नहिं कवि नहिं पंडितै नहीं गुणन को धाम।
याही तें नहिं कहि सक्यो, प्रगट आपनो नाम ॥ ४७१ ॥ भा० भ०

जान लेने के लिए एक संकेत किया है :—

जान्यो चाहें ग्रंथ के करता को जो नाम ।
सप्तम दोहा ते लहै, बुधजन मति अभिराम ।। ४७२ ।। भा० भ०
दोहा के चहुँ चरण में, वरण विराजत चारि ।
तिन्हें देखि बुधवरनिकर लीहें नाम विचारि ।। ४७३ ।। भा० भ०

जिस सातवें दोहे में उनके नामाक्षर हैं वह इस प्रकार हैं :—

बैननि बोधि गुरू दयो, रीझि भगति को दान ।
सानुराग लपट्यों पगन, लखि सुरधेनु समान ।। ७ ।। भा० भ०

यहाँ प्रत्येक चरण का प्रथम अक्षर लेने से बैरी साल ग्रन्थकर्ता का नाम स्पष्ट हो जाता है ।

'भाषा भरण' एक शुद्ध अलंकार ग्रंथ है । इसमें केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन किया गया है, शब्दालंकारों का नहीं, वैसे अलंकार-रीति का वर्णन करते हुए उन्होंने तीन प्रकार के अलंकार बताए हैं :—

कहुँ पद तें कहुँ अर्थ ते, कहूँ दुहुन ते जोइ ।
अभिप्राय जैसो जहाँ, अलंकार त्यों होइ ।। १० ।। भा० भ०

समझ नहीं पड़ता अलंकारों के ये भेद बताने पर भी इस ग्रंथ में शब्दालंकारों और उभयनिष्ठ अलंकारों की चर्चा क्यों नहीं की गई । इसमें कुल ४७५ छन्द हैं जिनमें ४५३ छन्दों में अलंकार वर्णन है और शेष २२ छन्दों में मंगलाचरण, गुरुवंदना आदि की गई है ।

अलंकार वर्णन :—अलंकारों का वर्णन उपमा के अंगों के स्वरूप-निर्धारण से आरम्भ होता है । उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म की परिभाषा देकर 'पूर्णोपमा' का विवेचन किया गया है । तदनन्तर हेतु अलंकार तक लगभग १०० अलंकारों का निरूपण किया गया है । फिर रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि भावशबलता आदि सात अलंकारों और भेद सहित प्रमाण तथा संसृष्टि और संकर का वर्णन किया गया है । यदि एक ही पद में अनेक अलंकार आ जायें तो वहाँ कौन सा अलंकार माना जाना चाहिए—इस शंका का समाधान बैरीसाल ने प्रारम्भ में ही इस प्रकार दे दिया है :—

अलंकार यक ठौर में जो अनेक दरसाहि ।
अभिप्राय कवि को जहाँ सो प्रधान तिन मांहि ।। ११ ।। भा० भ०

इस कथन को स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण भी दिए हैं :—

ज्यों व्रज में ब्रजवधुन की निकसति सजी समाज ।
मन की रुचि जापर भई, ताहि लषत ब्रजराज ।। १२ । भा० भ०

ज्यों हरि फागुन खेल में लखि जुवतीगण संग ।
दै गुलाल तिनके दृगनि लावत प्यारिहिं अंग ।। १३ । भा० भ०

भाषाभरण में अलंकारों के नाम, क्रम, भेद कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर हैं । इस विषय में कुवलयानन्द का कहीं पर भी अतिक्रमण नहीं किया गया है । 'अप्रस्तुत प्रशंसा' तथा 'व्यतिरेक' के जो भेद कुवलयानन्द में वृत्ति भाग में दिए गए हैं उन तक का भी यहाँ उल्लेख किया गया है । परन्तु कुवलयानन्द में 'लुप्तोपमा' के केवल आठ ही भेद कहे गए हैं, पर यहाँ पन्द्रह भेद बताए गए हैं, इनमें एक 'पूर्ण लुप्तोपमा' भी है :—

जहां न चार्यौ हैं तहाँ पूरण लुप्ता नाम ।
ज्यहि लखि लाजति कोकिला ताहि लीजिए स्याम ।।

परन्तु विचार करने पर यह उदाहरण उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यहाँ उपमान कोकिला है ही । फिर चारों अंग कैसे लुप्त माने जायें । अतः मेरे विचार से उपमा का ऐसा भेद जिसमें चारों अंग लुप्त हों, सम्भव नहीं है ।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण :—

इनके लिए कवि ने विविध छन्दों का प्रयोग किया है जैसे:—दोहा, सोरठा, तोमर पद्धटिका, गाहा । परन्तु दोहा छन्द का प्रयोग ही सर्वाधिक किया है । लक्षणों और उदाहरणों में संगति है । पहले एक दोहे में अलंकार का लक्षण और फिर दूसरे दोहे में उसका उदाहरण दे दिया गया है । कहीं कहीं तो एक से भी अधिक उदाहरण रक्खे गए हैं । इन लक्षणों और उदाहरणों के लिखने में भाषा-भूषण, का ढंग अवश्य अपनाया गया है पर उसके समान एक ही दोहे में दोनों (लक्षण और उदाहरण) को नहीं रक्खा गया ।

लक्षण प्रायः कुवलयानन्द की छाया में लिखे गए हैं, हाँ; कुवलयानन्द का शाब्दिक अनुवाद अवश्य नहीं किया गया । इससे कवि की बुद्धि का परिचय मिल जाता है । उदाहरण कवि के प्रायः अपने हैं । उनकी स्पष्टता और सरलता के कारण विषय को शीघ्रता के साथ हृदयंगम किया जा सकता है । उदाहरण के दोहों में कहीं कहीं बिहारी का सा आनन्द आता है । यथा :—

क– राजत अंजन अधर लगि सोहत जावक भाल ।
भलो अपूरव रूप यह दरसायों नन्दलाल ।। ११४ । भा० भ०

ख– तेरो मुख मेरी भटू धरै सुधाधर चाल ।
ज्यहि सौतिन के कमल दृग देखत होत विहाल ।। १२३ । भा० भ०

भाषाभरण का आधार :—भाषाभरण की रचना कुवलयानन्द के आधार पर की गई है, इस बात को एक तो स्वयं बैरीसाल ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है:—

तेहि नारायण ईस को करि मन मांह समर्ण ।
रीति कुवलयानन्द की कीन्हों भाषा भर्ण ।। ४७० ।। भा० भ०

और दूसरे अलंकारों के लक्षण नाम, क्रम, भेद आदि भी इसी बात की पुष्टि करते हैं। नाम क्रम और भेदों के विषय में पहले कहा जा चुका है। यहाँ लक्षणों के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं :—

प्रतिवस्तूपमा :—

है जहँ वर्ण्य अवर्ण्य कौ धर्म येक पद होइ ।
ताको प्रतिवस्तूपमा कहत सुकवि सब कोइ ।। ११७ । भा० भ०

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता । ५१ ।। कुवल० ।

काव्यलिंग :—

हेतु पाइ वाक्यार्थ कहुँ कहूँ पदारथ पाइ ।
समर्थनीय समर्थिये, काव्यलिंग सो आइ ।। २९५ ।। भा० भ०

समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम् ।। १२१ । कुवल०

इसी प्रकार अर्थान्तरन्यास, लेश, अल्प, अधिक, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि भाषाभरण की रचना करते समय बैरीसाल ने कुवलयानन्द को देखा था और उस की रीति को अपनाकर इस ग्रन्थ की रचना की थी। ऐसी अवस्था में भाषाभरण पर कुवलयानन्द का प्रभाव क्यों न पड़ता ?

अलंकार मणिमंजरी : ऋषिनाथ

(वि० सं० १८३१)

असनी निवासी[1] ऋषिनाथ ने वि० सं० १८३१ की माघ शुक्ला बसंत पंचमी सोमवार[2] को काशिराज के दीवान दीहाराम के सुपुत्र सदानन्द रघुवर के

---

१ जस नी कौ नित करत है, असनी को रिषिनाथ । ८१ । अ० म० मं०

२ संवत नभ शंकर नयन सिधि बहुरौ निसिकंत ।
वार सोम सुभ माघ सुदि तिथि पंचमी वसंत ।। २० ।। अ० म० मं०
ऐसो सुभ दिन सोधि कै कीन्हो ग्रन्थ विचारु ।
अलंकार मनि मंजरी, रची जथामति चारु ।। २१ ।। अ० म० मं०

आश्रय में रहकर[1] 'अलंकार मणिमंजरी[2]' नामक 'अलंकार' ग्रन्थ की रचना की थी।

वर्ण्य विषय : इस पुस्तक में अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। यह कुल ५५ पृष्ठों की पुस्तक है। यह पुस्तक ४८३ पदों में समाप्त हुई है। मंगलाचरण, अपने आश्रयदाता का वंश परिचय, स्तुति और रचना काल देने के पश्चात् ही अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम उपमालंकार का वर्णन है। वहाँ उपमा के चारों अंगों का स्वरूप बताया गया है। अर्थालंकार का यह वर्णन ४६८ पदों में हुआ है और अन्त में "इति अर्थालंकारा: समाप्ता:" लिखकर इस प्रकरण को समाप्त किया गया है। तत्पश्चात् "अथ शब्दालंकार वर्णन" लिख कर शब्दालंकारों का विवेचन प्रारम्भ होता है और उनकी समाप्ति पर "इति शब्दालंकार' लिखा गया है। इसके बाद पुस्तक का महत्व इस प्रकार प्रगट किया गया है :

अलंकार मनि मंजरी कंठ राखि मतिवान।
सभा बीच सौभा लहैं, करहिं संत सनमान ।। ४८३ ।। अ०म०मं०

अंत में "इतिश्री कायस्थकुलकलपतरु सदानन्द रघुवर दयाल विरचितं अलंकार मनि मंजरी समाप्तम् शुभम्। सन् १८८० अक्टूबर ता० ३" लिखा हुआ है। यह तिथि संभवत: इस पुस्तक की प्रतिलिपि की है। इस पुस्तक को सेवकराम ने भवानी के प्रसाद से सोध कर लिखा था :—

अलंकार मनि मंजरी है यह अति अविवाद ।
सोधी सेवकराम ने, लिखी भवानि प्रसाद ।।

यह सेवक राम ऋषिनाथ के पनाती (प्रपौत्र) हैं जैसा कि उन्होंने स्वयं अपना परिचय दिया है :

श्री रिषिनाथ को मैं हौं पनाती, औ नाती हौं श्री कवि ठाकुर केरौं।
श्री धनी राम कौ पुत्र मैं सेवक संकर को लघु बंधु ज्यों चेरौं।
मान को बाप बवा कसिया को चचा मुरली धर कृष्ण हूँ केरौ।
अस्वनी में घर कासिका में हरिसंकर सिंह हैं रक्षक मेरौं।

---

१ सदानन्द रघुवर कृपा करिकैं कियो सनाथ।
अलंकार मनि मंजरी रची सुकवि रिषिनाथ ।। १६ ।। अ० म० मं०

२ ना० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय में प्राप्त मुद्रित प्रति संख्या ८१३ अ० १

अर्थालंकार वर्णन

अलंकारों के नाम, भेद, क्रम संस्कृत के कुवलयानन्द के ही समान हैं। यहाँ क्रम की दृष्टि से 'परिकरांकुर' के बाद 'परिकर' अलंकार का वर्णन हुआ है जबकि कुवलयानन्द में पहले 'परिकर' का, फिर उसके बाद 'परिकरांकुर' का। इसमें लगभग १०४ अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण हैं। साथ ही एक 'भूषण' नाम का नया अलंकार यहाँ दिखाई पड़ता है जिसका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार दिया गया है :

लक्षण : जहं द्वै वस्तु अन्योन्य है, औरहि सोभा देत।
अलंकार भूषन तहां, कहत सुकवि करि हेत ।२८२। अ० म० मं०

उदाहरण : कंकन सों मनि रूप है, मनि सों कंकन रूप।
मनि कंकन मिलि कै, करत करै की प्रभा अनूप ।।२८३।।अ०म०मं०

उत्तरालंकार के कुवलयानन्द में जो गूढ़ोत्तर और चित्रोत्तर दो भेद किए गए हैं, उनका वर्णन पृथक् पृथक् रूप में यहाँ हुआ है और चित्रोत्तर के भी दो भेद (एक ही वाक्य में प्रश्नोत्तर और बहुत बातों का एक ही उत्तर) किए गए हैं।

भेदों की दृष्टि से यहाँ कुवलयानन्द का ही अनुसरण किया गया है। परन्तु 'विषम' के यहाँ सात भेद बताए गए हैं, जबकि कुवलयानन्द में उसके केवल तीन ही भेद हैं। ये भेद रघुनाथ के रसिक मोहन की भाँति ही हैं। 'प्रत्युक्ति' अलंकार में 'विरह प्रत्युक्ति' और 'दान प्रत्युक्ति' के भी उदाहरण दिए गए हैं। 'लुप्तोपमा' के यहाँ पर भी कुवलयानन्द की भाँति आठ भेद हैं। साथ ही रसनोपमा, स्तबकोपमा और मालोपमा के भी लक्षण और उदाहरण यहाँ दिए गए हैं। कुवलयानन्द में इनका वर्णन नहीं है। इनमें 'स्तबकोपमा' तो 'चन्द्रालोक' से तथा 'रसनोपमा' और 'मालोपमा' साहित्य दर्पण से ली गई जान पड़ती हैं।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण :

लक्षण दोहा छन्द में ही दिए गए हैं और उदाहरण दोहा, कवित्त, सवैया तथा गाथा छन्द में हैं। कहीं कहीं एक से अधिक उदाहरण भी हैं। लक्षण के पश्चात् ही प्रत्येक अलंकार के उदाहरण दिए गए हैं, जहाँ भेद हैं वहाँ भी पहले भेद का लक्षण और तब उदाहरण दिया गया है। इससे लक्षण और उदाहरण में अन्विति होने के कारण उनको समझने में गड़बड़ी नहीं होती। 'अपन्हुति' और 'अतिशयोक्ति' के लक्षण नहीं दिए गए, पर कुवलयानन्द की ही भाँति उनका विवेचन 'शुद्धापन्हुति' और 'रूपकातिशयोक्ति' के लक्षण देकर प्रारम्भ होता है।

स्मृति, भ्रम और सन्देह के लक्षण उनके नामों में न बताकर विस्तार के साथ कहे गए हैं, पर उन लक्षणों में सादृश्य के चमत्कार को महत्व नहीं दिया गया है। अन्य सभी लक्षण स्पष्ट और सरल हैं। ये सभी लक्षण कुवलयानन्द से प्रभावित हैं, कहीं कहीं तो वे अनुवाद मात्र से जान पड़ते हैं।

उदाहरण कवि के अपने हैं जिनका सम्बन्ध अधिकतर शृंगार रस से है। तत्कालीन प्रवृत्ति का अनुसरण उनमें दिखाई पड़ता है। उदाहरणों की भाषा सरल और सुबोध है।

शब्दालंकार वर्णन

शब्दालंकारों का वर्णन अर्थालंकार वर्णन के पश्चात् हुआ है। यह वर्णन बहुत ही संक्षिप्त और चलताऊ है। यहाँ केवल छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, यमक और वृत्यनुप्रास (उपनागरिका, परुषा, और कोमलावृत्तियों से सम्बन्धित) का ही निरूपण हुआ है। यह वर्णन भाषा भूषण के समान है। संभवतः उसी को आधार मान कर शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है।

ऋषिनाथ और अप्पयदीक्षित :

अलंकार मणि मंजरी पर अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द का ही प्रभाव सर्वाधिक है। अलंकारों के नाम, वर्णन, क्रम और भेद सभी उसी के अनुसरण पर हैं। लक्षणों पर भी कुवलयानन्द की ही छाया है। कहीं तो लक्षण अनुवाद मात्र से जान पड़ते हैं। दो एक उदाहरण देखिए :

चपलातिशयोक्ति :

कारन नाम प्रसंग ते जहं कारज की सिद्धि।
तहं चपलातिसयोक्ति कहि, बरनत हैं गुन निद्धि ।१२०। अ०म०मं०
चपलातिशयोक्तिस्तु कार्य हेतुप्रसिक्तजे ॥ ४२ ॥ कुवल०

इसका एक उदाहरण कुवलयानन्द से संस्कृत में ही यहाँ उद्धृत कर दिया गया है :

यामि न यामीति धवे वदति पुरस्तात् क्षणेन तन्वंग्याः
गलितानि पुरोवलयान्यपराणि तथैव दलितानि।

प्रतिवस्तूपमा : जहं द्वै वाक्य समानता, बरनत हैं कवि पर्म ।१४५। अ० म० मं०
वाक्ययोरेकसामान्ये, प्रतिवस्तूपमा मता ।५१। कुवल०

परिकर :

अभिप्राय जुत बरनिए, जहां विशेषन रूप ।१७५। अ० म० मं०
अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे। ६२। कु०

ऐसे ही और अन्य उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो या तो अनुवाद हैं अथवा छायानुवाद हैं। अतः यह कहने में संकोच नहीं कि अलंकार मणि मंजरी, अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द से प्रभावित है। पर शब्दालंकारों के वर्णन में भाषा भूषण और साहित्य दर्पण से ही सहायता ली गई है। 'रसनोपमा' और 'मालोपमा' नामक अलंकार भी साहित्य दर्पण की सहायता से लिये गये हैं। स्तबकोपमा चन्द्रालोक की देन है।

*कविता रस विनोद : जनराज

(वि० सं० १८८३)

अग्रवाल वैश्य, सिंहल गोत्रीय दयाराम के पुत्र[1] डेडराज उर्फ जनराज ने वि० सं० १८३३ में[2] जयपुर नरेश पृथ्वीसिंह के आश्रय में जयपुर नगर में[3] ही 'कविता रस विनोद' की रचना की थी। जनराज का वास्तविक नाम डेडराज था, पर अजमेर में आचार्य श्री ने उनका नाम जनराज रक्खा[4] और तभी से जनराज नाम से ही वे कविता करने लगे।

जनराज स्वयं अपने शब्दों में ग्रंथ का परिचय इस प्रकार देते हैं।

---

*नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के पुस्तकालय में प्राप्त हस्त लिखित प्रति सं० ६७/२५ के आधार पर

१ अग्रवाले वैश्य हैं सिंघल गोत बखानि। २४–२५
दयाराम तिनके सुवन आए जयपुर ग्राम।
तिनके हों मतिमंद भो डेडराज मो नाम। २४-२७

२ अठारहि से तीतस भये संवत् जेष्ठसुमां वैम बखानौ,
सेत सुपच्छि तिथ दशमी अरु बार महावर भौम सुजानौ।
हस्त निषत्र जु सिद्धि सुजोग विसै जनराज कहै उर आनौ,
ये कविता रस ग्रन्थ विनोद सपूरन भेद कियो सुखदानौ॥ २४-८४

३ ऐसे जयपुर नगर में, पृथ्वीसिंह भूपाल।
ताके नीके राज में, कीनो ग्रन्थ रसाल॥ २४–१५॥ क० र० वि०

४ श्री आचारज देखि के रीझि रहे मन लाय॥ २४-३६॥ वही
तब उन मो सों यों कही, भोग कवित्त में देह।
नाम धरयो जनराज तब, श्रीमुख तें करि नेह॥ २४-४०॥ वही
तब मैं कीन्हो ग्रन्थ यह, कविता रसहि विनोद॥ २४ ४१॥ वही

चौबिस कियो विनोद मैं, तामें रचे सुछन्द ।
दोय हजार पचीस पुनि, भए सकल रसकंद ।। ४५ ।।
तिनके अक्षर गिनत करि, संख्या श्लोक बखानि ।
सतपैंतालिस जानिए, पूरन लख्यो प्रमान ।। ४६ ।।
कविता रसहि विनोद यहि, पढ़ै सुनै कवि लोग ।
सभा मध्य सोभा लहै, चहै सुवांछित भोग ।। ४७ ।।

इन पंक्तियों से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ में २४ विनोद (अध्याय) हैं, जिनमें ४५०० शब्दों सहित २०२५ छन्द हैं । इस ग्रन्थ को पढ़ने सुनने वाला सभा में शोभित होकर वांछित भोग प्राप्त करेगा ।

इस ग्रन्थ के प्रथम चार विनोदों में पिंगल (वार्णिक और मात्रिक छन्द) पांचवें में व्यंग्य भेद का, छठवें, सातवें और आठवें में क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम काव्य का, नवें में गुण दोष का, वर्णन है । दसवें से लेकर इक्कीसवें विनोद तक में विभाव, नायक-नायिका-भेद, सखी, हाव, षट्ऋतु, नायक नायिका शृंगार, विप्रलंभ शृंगार और नवरस की चर्चा की गई है । बाईसवें और तेईसवें विनोद में चित्रालंकार का, तथा चौबीसवें विनोद में राजवंश, कविवंश आदि का निरूपण हुआ है ।

अलंकारों का वर्णन 'अधम काव्य' के अन्तर्गत किया गया है । कवि ने अलंकार को अधम काव्य कहा है :

अथ अधम काव्य वर्नन । तासों अर्थालंकार कहत है ।
अर्थ शब्द की चित्रता, व्यंग्य अधिक नहिं पाय ।
तहाँ सु अद्धिम काव्य है, अलंकार अर्थाय ।। ८-१ ।। क०र०वि०

यहाँ शब्द और अर्थ की चित्रता को अलंकार बताया गया है । उसमें अधिक व्यंग्य नहीं होता है, इस कारण कवि चित्रकाव्य—अलंकार—को अधम काव्य कहता है । इससे हम कवि की अलंकार विषयक धारणा का अनुमान कर सकते हैं । कवि व्यंग्य को काव्य का प्रधान अंग मानता है । व्यंग्य-प्रधान काव्य ही उसकी दृष्टि में उत्तम काव्य है । इस प्रकार कवि के मतानुसार अलंकार काव्य के लिए गौण हैं ।

कवि के अलंकार-वर्णन का आधार है कुवलयानन्द । इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है :

अर्थ शब्द की चित्रता, बर्नत हों अंगार ।
कुवलयानन्द सुग्रंथ मत, कवि जन लेहु विचार ।। ८-२ ।। क०र०वि०

यहाँ अर्थ शब्द का प्रयोग पहले होने के कारण उससे सम्बद्ध अर्थालंकारों

का वर्णन भी पहले हुआ है, शब्दालंकारों का उनके उपरान्त। अर्थालंकारों में कुल ६९ मूल अलंकारों का वर्णन है। 'निरुक्ति' अलंकार को छोड़ दिया गया है। 'उत्तरालंकार' को 'गूढ़ोत्तर' नाम से, तथा उस के एक भेद 'चित्र' को स्वतंत्र रूप से वर्णन करने में कवि ने अन्य कवियों का ही अनुसरण किया है। श्लेष और वक्रोक्ति को यहाँ शब्दालंकारों और अर्थालंकारों—दोनों में स्थान दिया गया है। वर्णन के अन्त में 'इति अर्थालिंकार' लिखकर यह प्रकरण समाप्त किया गया और वहीं उसके बाद 'अथ शब्दालंकार' लिखने के पश्चात् ही कवि शब्दालंकारों का निरूपण प्रारम्भ कर देता है।

शब्दालंकारों में जनराज ने अनुप्रास, छेक, वृत्ति, लाट और यमक को उनके भेदों सहित लिया है। यमक के कुल चार भेद किए गए हैं। अन्त में 'इति शब्दालंकार' के साथ यह वर्णन समाप्त हो जाता है।

तदनन्तर संसृष्टि और संकर के लक्षण उदाहरण हैं। इन दोनों के लक्षण यहाँ इस प्रकार निर्धारित किए गए हैं :

अर्थ सब्द के भूषन जे हैं, मिलत सु आपुस में पुनिते हैं।
ते संसृष्टि अरु संकर जानो, तिल तंदुल पय पानि समानो।८–१८६।

अर्थात् तिल तंदुलन्याय से जहाँ अलंकार मिलते हैं, वहाँ संसृष्टि, तथा जहाँ दूध पानी के समान मिलते हैं वहाँ संकर होता है।

यहाँ संसृष्टि के अर्थालंकार संसृष्टि, शब्दालंकार संसृष्टि और शब्दार्थालंकार संसृष्टि—तीन, तथा संकर के अंगांगिभाव, समप्रधान, सन्देह संकर, और एकवाचानुप्रवेशक—ये चार भेद किए गए हैं। प्रत्येक को उदाहरण देकर समझाया गया है।

इसके पश्चात् 'वक्रोक्ति' और 'श्लेष' का वर्णन फिर हुआ है। यहाँ उनका वर्णन शब्दालंकार मानकर किया गया है। 'वक्रोक्ति' के 'काकु' और 'श्लेष' ये दो तथा श्लेष के वर्न्य, अवर्ण्य और वर्ण्यावर्ण्य तीन भेद बताए गए हैं; भेदों के लक्षण नही है। पर उदाहरण हैं। साथ ही वर्ण्य और अवर्ण्य शब्दों को समझाया गया है :

अवर्न नाम तो उपमा को है, वर्न नाम उपमेय को जानिए।

प्रकरण के अन्त में "इति श्री विविधविधकवितारसविनोद जनराज वंसे विरचितायां अधिम काव्य वर्नन नाम अष्टमो विनोद" लिखकर यह अध्याय समाप्त कर दिया गया है।

फिर बाईसवें विनोद में चित्रालंकार के अन्तर्गत प्रहेलिका, यमक आदि का, और तेईसवें विनोद में वहिर्लापिका, अन्तर्लापिका, उनके भेद, प्रभेद, तथा अनेक

प्रकार के बंध आदि का निरूपण बड़ी सजावट के साथ हुआ है। चित्रालंकार का यह वर्णन बड़े विस्तार के साथ दो सम्पूर्ण विनोदों के २७३ से ३०१ तक के २८ पृष्ठों के भीतर ८५ पदों में किया गया है।

अलंकारों के नाम, भेद और क्रम : ये सभी यहाँ कुवलयानन्द के अनुकरण पर हैं। कुवलयानन्द की भाँति यहाँ भी लगभग १०० अर्थालंकारों का वर्णन है, 'निरुक्ति' अलंकार केवल संभवतः भूल से रह गया जान पड़ता है।

अलंकारों के नामों में कोई अन्तर नहीं, नामों की कुवलयानन्द के आधार पर हिन्दी ग्रन्थों में जो परम्परा बन गई थी, उसी का यहाँ पूर्णतया पालन किया गया है। जिस प्रकार कुवलयानन्द के आवृत्ति दीपक का दीपकावृत्ति, पर्यायोक्त का पर्यायोक्ति, अर्थापत्ति का काव्यार्थापत्ति, विषादन का विषाद, विशेष का विशेषक, उत्तर का गूढ़ोत्तर नाम हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में पड़ गया था, उन्हीं नामों को अक्षरशः यहाँ दिया गया है, जिससे परम्परा का अन्धानुसरण करने की कवि-प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

भेदों की दृष्टि से जनराज ने कुवलयानन्द का अन्धानुसरण किया है। पर वृत्ति भाग पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। इसी कारण 'अप्रस्तुत प्रशंसा' या 'व्यतिरेक' के भेद यहाँ नहीं दिखाई पड़ते। कुवलयानन्द की भाँति यहाँ भी 'लुप्तोपमा' के आठ, 'प्रतीप' के पाँच, 'रूपक' के छह, 'अपन्हुति' के छह, 'अतिशयोक्ति' के आठ भेद बताए गए हैं। 'अपन्हुति' और 'अतिशयोक्ति' के भेदों के नामों में भी कोई अन्तर नहीं है। 'सम्बन्धातिशयक्ति' के जो 'योग में अयोग' तथा 'अयोग में योग' दो भेद कुवलयानन्द में हैं, ठीक वही भेद यहाँ भी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अलंकारों के भेद भी कुवलयानन्द की भाँति हैं। केवल 'उत्प्रेक्षा' के यहाँ वस्तु, फल और हेतु तीन भेद ही बताए गए हैं। उक्त विषया, अनुक्त विषया तथा सिद्धास्पद और असिद्धास्पद नामक भेद यहाँ नहीं हैं।

क्रम की दृष्टि से यहाँ कुवलयानन्द का पूर्ण अनुकरण है। कहीं भी व्यतिक्रम नहीं है। अपन्हुति, अतिशयोक्ति आदि के भेदों का क्रम भी ठीक कुवलयानन्द की ही भांति है।

अलंकारों के लक्षण : दोहा छन्द में दिए गए हैं। भाषा भूषण की भांति यहां भी दोहे के आधे भाग में लक्षण और दूसरे आधे भाग में उसका उदाहरण दिया गया है। इस संक्षिप्तता के कारण कहीं कहीं लक्षण अस्पष्ट और अपूर्ण रह गए हैं यथा :

दृष्टांत : ताहि कहत दृष्टांत कवि ई विधि लक्षिन आन।८-४६। क० र० वि०

यहाँ बिम्वप्रतिबिम्व भाव के न होने से लक्षण उचित नहीं कहा जा सकता।

निदर्शना : वाक्य अर्थ सम होत सो प्रथम भेद ई चाल ॥८-५०॥ क० र० वि०

वाक्य और अर्थ की समानता में निदर्शनालंकार नहीं होता, वरन् दो समान वाक्यार्थों में ऐक्यारोप को निदर्शना कहते हैं। यहाँ उपर्युक्त लक्षण में न तो दो समान वाक्यार्थों का बोध होता है और न ऐक्यारोप का ही कथन है। अतः यह लक्षण सदोष हैं।

विकल्प : दोइ बात यह कै वहै तेइ विकलप होहि ॥८-१०६॥ क० र० वि०

यहाँ यह लक्षण हिन्दी लक्षणों की परम्परानुसार ही है। जो भूलें लक्षणों में चली आ रही थीं, उनकी ओर हमारे कवियों का ध्यान नहीं गया। 'यह कै वहै' के कथन मात्र में तुल्यबल विरोध वाली बात नहीं आ पाती जो 'विकल्प' अलंकार में चमत्कार लाती है, इसी कारण उसके बिना यह लक्षण अपूर्ण ही है।

इसी प्रकार 'आक्षेप' और 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। परन्तु सभी लक्षण ऐसे नहीं हैं। अपूर्ण या अशुद्ध और अस्पष्ट लक्षणों की संख्या थोड़ी ही है। अधिकतर लक्षण स्पष्ट और सरल हैं। कहीं कहीं तो उनमें आधार-ग्रन्थ से भी अधिक सरलता और स्पष्टता दिखाई पड़ती है। यथा :

कारक दीपक : क्रिया गुम्फ क्रम तें लगे कारक दीपक होत ॥ ८-११२ ॥
क० र० वि०

तुलना कीजिए : क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारक दीपकम् ॥ ११७ ॥ कुवल०

संस्कृत के लक्षण में क्रिया शब्द के न होने से जो अस्पष्टता आ गई थी, वह हिन्दी लक्षण में दूर हो गई है। इस कारण पहला लक्षण दूसरे से अधिक स्पष्ट और सरल हो गया।

सापन्हवातिशयोक्ति : रूपकातिसयोक्ति जब पुन्हति गरभित होय ॥ ८-३५ ॥
क० र० वि०

यद्यपन्हुति गर्भत्वं सैव सापन्हवा मता ॥ ३७ ॥ कुवल०

संस्कृत में 'यद्यपन्हुति गर्भत्वं' मात्र के कथन से लक्षण का बोध स्पष्ट नहीं हो पाता, जब तक कि उससे पहले वर्णित 'रूपकातिशयोक्ति' को न समझ लें। पर हिन्दी के लक्षण में यह बात नहीं है। वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' का कथन हो जाने से किसी प्रकार की शंका के लिए वहाँ स्थान नहीं रह जाता।

इसी प्रकार के और भी अन्य अनेक लक्षण उद्धृत किए जा सकते हैं।

उदाहरण कवि के अपने ही हैं। कुछ उदाहरणों में अवश्य कुवलयानन्द के उदाहरणों की छाया है। पर ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत ही नगण्य है। तुल्ययोगिता, प्रस्तुतांकुर और परिसंख्या के उदाहरण कुवलयानन्द के उदाहरणों से कोई साम्य नहीं रखते पर उनकी रचना उसकी छाया में या उसके आधार पर अवश्य हुई है। अधिकांश उदाहरण स्वतन्त्र हैं। लक्षणों और उदाहरणों में पूर्ण अन्विति है। उनमें कहीं पर भी किसी प्रकार की असंगति नहीं है। प्रायः सभी उदाहरण उपयुक्त और मनोहर हैं। उदाहरण अधिकांशतः शृंगार रस से सम्बन्ध रखते हैं। कहीं कहीं तो उनमें रीति कालीन अशिष्टता भी आ गई है। पर ऐसे स्थल दो चार ही हैं।

छेकापन्हुति : पी कर फटी न कंचुकी, दरकी जोवन भाय ॥ ८-२६ ॥

क० र० वि०

जनराज और अप्पयदीक्षित :

जनराज के 'कवितारस विनोद' का आधार निश्चय ही कुवलयानन्द है और कवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा हो है कि उसने कुवलयानन्द के मत का अनुसरण करके ही अलंकारों का वर्णन किया है। (देखिए आठवें विलास का दूसरा दोहा)। अलंकारों की संख्या, नाम, भेद और क्रम के विषय में कुवलयानन्द से साम्य हम दिखा ही चुके हैं। उदाहरणों में भी कुछ स्थलों पर कुवलयानन्द की छाया की चर्चा पीछे की जा चुकी है। लक्षण भी उसी से प्रभावित हैं। ये लक्षण कहीं तो कायानुवाद हैं, कहीं छायानुवाद हैं। कहीं कहीं तो कुवलयानन्द की शब्दावली तक प्रयुक्त हुई है। इस प्रकार के कुछ लक्षण उदाहरण के लिए यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :

परिणाम : उपमा उपमे की क्रिया, करै होत परिनाम ।८-१६। क० र० वि०
परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ।२१। कुवल०

यहाँ क्रिया शब्द दोनो में ध्यान देने योग्य है।

अक्रमातिशयोक्ति : अक्रमातिसयोक्ति जब कारन कारिज संग ।।८-३६।।क०र०वि०
अक्रमातिशयोक्तिः स्यात्सहत्वे हेतुकार्ययोः ।४१। कुवल०

व्यतिरेक : उपमा ते उपमेय जब अधिक वर्ण वितरेक ।।८-५३।। क० र० वि०
व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययो. ।।५७।। कुवल०

समासोक्ति : समासोक्ति प्रस्तुति विषै, अप्रस्तुति फुरिजाय ।।८-५७।। क०र०वि०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत् ।६१। कुवल०

यहाँ 'फुरि' तथा 'परिस्फूर्ति' शब्द विचारणीय हैं।

एकावली : ग्रहे सु पद छोड़त जहां एकावलि तिहि ग्रंग ।८-१०२। क० र० वि०
गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता ।।१०५।। कुवल०

काव्यलिंग : ग्रर्थ समर्थनी समर्थ ही काव्यलिंग सुनाम ।८-११६। क० र० वि०
समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिगं समर्थनम् ।१२१। कुवल०

यहाँ समर्थनीय, ग्रर्थ ग्रौर समर्थन शब्द देखने योग्य हैं ।

इसी प्रकार व्याजनिन्दा, सहोक्ति, विभावना, परिकर, परिकरांकुर, प्रस्तुतांकुर, विषम, सम, ग्रधिक, ग्रल्प, प्रत्यनीक, विकस्वर, ग्रादि के लक्षण भी दृष्टव्य हैं ।

इसके ग्रतिरिक्त कुवलयानन्द के समान ही जनराज ने 'कविता रस विनोद' में भी 'ग्रपन्हुति' ग्रौर 'ग्रतिशयोक्ति' ग्रलंकारों के लक्षण नहीं दिए तथा उनका प्रारम्भ 'शुद्धापन्हुति' ग्रौर 'रूपकातिशयोक्ति' के लक्षण देकर कर दिया है । इतना ही नहीं, 'संसृष्टि' ग्रौर संकर का वर्णन भी कुवलयानन्द की भांति यहाँ किया गया है । हाँ, रसवदादि ग्रौर प्रत्यक्षादि पंच दश ग्रलंकारों का वर्णन नहीं प्रस्तुत किया गया । पर इनके पूर्ववर्ती कवियों ने भी इन ग्रलंकारों को छोड़ दिया था । ग्रतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि यहाँ ग्रलंकार-वर्णन कुवलयानन्द से पूर्णतया प्रभावित है ।

शब्दालंकारों तथा चित्रालंकार के वर्णन में जनराज ने दास के 'काव्यनिर्णय' ग्रौर 'भाषा भूषण' से, तथा रसादिक के वर्णन में मम्मट ग्रौर विश्वनाथ से सहायता ली है ।

मूल्यांकन :

संस्कृत-ग्रन्थों से प्रभावित होने पर भी हिन्दी-साहित्य में इस विशाल ग्रन्थ का ग्रपना विशेष महत्वपूर्ण स्थान है । इसमें काव्य-लक्षण, ध्वनि, गुण, दोष, रस, हाव, भाव, विभाव, नायक-नायिका-भेद, ग्रलंकार, गुणीभूत व्यंग्य, छन्द ग्रादि सभी काव्यांगों का विशद एवं विस्तृत विवेचन होने से यह काव्यशास्त्र का ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की निधि बन गया । हाँ, यदि इसमें दृश्य काव्य के सिद्धान्तों का विवेचन भी हो गया होता, तो निश्चय ही इसकी पूर्णता में कोई कमी न रह जाती ग्रौर साथ ही यह एक ग्रनुपम ग्रन्थ भी बन जाता । इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराकर हिन्दी-जगत के समक्ष उपस्थित किया जाना चाहिए, जिससे काव्य-शास्त्र-प्रेमी उससे लाभान्वित हो सकें । इस विशाल ग्रन्थ की गणना दास के 'काव्य निर्णय', कुलपति मिश्र के 'रस रहस्य' ग्रौर सोमनाथ के 'रसपीयूषनिधि' जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थों के साथ की जा सकती है ।

अलंकार दर्पण : महाराज रामसिंह

(वि० सं० १८३५)

नरवलगढ़ के राजा वीरवर छत्रसिंह के सुपुत्र महाराज रामसिंह ने वि० सं० १८३५ की माघशुक्ला पंचमी के दिन 'अलंकार दर्पण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना की थी[१]। इस ग्रन्थ में १०१ अलंकारों का वर्णन ३९१ छन्दों में किया गया है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में राधा नन्दकिशोर की वन्दना के पश्चात् अलंकार का महत्व दिखाया गया है। इसके अनुसार अलंकार कविता और वनिता को उसी प्रकार सुशोभित करते हैं जिस प्रकार चन्द्रमा रात्रि और कुमोदिनी को शोभा प्रदान करता है[२]। इस कथन से सिद्ध होता है कि रामसिंह के मत में अलंकार काव्य के शोभा विधायक धर्म हैं। काव्य की शोभावृद्धि के सहायक साधन हैं, अनिवार्य अंग नहीं।

अलंकार वर्णन

तीसरे दोहे से अलंकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। सर्व प्रथम उपमा के चारों अवयवों (उपमेय, उपमान, वाचक शब्द और धर्म) के लक्षण दिए हैं, फिर पूर्णोपमा का। उपमा के भेदों का वर्णन नहीं है। हां, ११ प्रकार की 'लुप्तोपमाओं' के लक्षण और उदाहरण अवश्य दिए गए हैं। इसके पश्चात् 'अनन्वयादि' १०० अर्थालंकारों का निरूपण किया गया है।

अलंकारों के नाम, भेद और वर्णन क्रम कुवलयानन्द के अनुकरण पर ही हैं। कुवलयानन्द की ही भांति अलंकार दर्पण में भी 'अपन्हुति' और 'अतिशयोक्ति' अलंकारों के लक्षण नहीं दिए गए। उनका वर्णन 'शुद्धापन्हुति' और 'रूपकातिशयोक्ति' के लक्षणों से ही प्रारम्भ होता है। इतना ही नहीं, कुवलयानन्द की वृत्ति को भी उन्होंने पूर्णतया ध्यान में रक्खा है। कुवलयानन्द की वृत्ति में दिए गए

---

१ नरवलगढ़ नृप वीरवर छत्रसिंह मतिधाम।
रामसिंह तिहिं सुत कियो नयो ग्रन्थ अभिराम ॥३८६॥ अ० द०
अलंकार दर्पण रच्यो ग्रन्थ बड़ो विस्तार। ३८७ ॥ अ० द०
बरस अठारह सौ गनौं पुनि पैंतीस बखान।
माघ मास सुदि पंचमी कवि सम्बत पहिचान ॥३९१। अलंकार दर्पण

२ कविता अरु बनितान कौं अलंकार छबि देत।
जैसे रैनि कुमोदनी ससि सोभा कौ हेत ॥२॥ अ० द०

'अप्रस्तुतप्रशंसा' अलंकार के सारूप्य निबन्धना' आदि जिन भेदों के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें भी अलंकार-दर्पणकार अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सका। सारूप्य निबन्धना, सामान्य निबन्धना, विशेष निबन्धना, कारण निबन्धना और कार्य निबन्धना–इन पांचों भेदों के लक्षण और उदाहरण यहां प्रस्तुत किए गए हैं। अन्य हिन्दी अलंकार ग्रन्थकारों ने इनकी उपेक्षा कर दी है, पर रामसिंह ने ऐसा नहीं किया।

अलंकारों के लक्षण सोरठा, दोहा, चौपई, चौपाई और गाथा छन्दों में दिए गए हैं, पर उदाहरण केवल दोहों में ही दिए गए हैं। लक्षणों के लिए प्रयुक्त विभिन्न छोटे छोटे छन्दों की अनेकरूपता का कोई कारण स्पष्ट नहीं है, पर छोटे छन्दों के प्रयोग से शैली बड़ी सरल और उपयोगी बन गई है। यही संक्षिप्त शैली इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है।

अलंकारों के लक्षण कुवलयानन्द से ही अधिक प्रभावित हैं। जसवन्त सिंह के 'भाषा भूषण' का प्रभाव भी उस पर परिलक्षित होता है। दो एक उदाहरण देखिए :

छेकापन्हुति :

(गाथा) जहाँ और की शंका कहि कै सांची बात छिपावे।
छेकापन्हुति अलंकार सो, ऐसी भाँति कहावे ॥७८॥ अ० द०
छेकापन्हुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिन्ह्वे ।३०। कुवलयानन्द।

अक्रमातिशयोक्ति :

हेतु कारज संग आनौ, अक्रमातिशयोक्ति जानौ ।१०८। अ० द०
अक्रमातिशयोक्तिः स्यात्सहत्वे हेतुकार्ययोः ।४१। कुवल०

सहोक्ति :

(सोरठा) मनरञ्जन सहभाव, वर्णन में प्रगटे जहाँ।
जं प्रवीन कविराव, भाषत तहाँ सहोक्ति हैं ।१४३। अ० द०
सहोक्तिः सह भावश्चेद् भासते मनरञ्जनः ।५८। कुवल०

उत्प्रेक्षा :

(दोहा) मुख्य वस्तु पै आन की संभावना विचारि।
उत्प्रेक्षा ताकौं कहत, कविजन सब निर्धारि ॥ ८२ । अ० द०
संभावना स्यादुत्प्रेक्षा······················ ॥ ३२ ॥ कुवल०

उपर्युक्त लक्षणों के उदाहरणों में छन्दों की विविधता दर्शनीय है।

कुवलयानन्द का अनुकरण करते हुए भी अलंकार दर्पण के लेखक ने स्मृति, भ्रान्ति और सन्देह अलंकारों के लक्षण उनके नामों में न बताकर विस्तार से बताए हैं। परन्तु इनके अलंकारत्व पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उनके सादृश्य-चमत्कार को वे लक्षणों में प्रकट नहीं कर सके।

अलंकारों के उदाहरण कवि के प्रायः अपने हैं, पर उनमें कोई विशेषता नहीं है।

उपमेयोपमा : तू रम्भा सी रूप में, तो सी रम्भा नारि। ३३। अ० द०

सन्देह : है यह मार कुमार कै, सुन्दर नन्दकुमार। १६६। अ० द०

उत्प्रेक्षा : सोहत सुन्दर स्याम सिर, मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सैल पै, नाचत राजत मोर॥ ८७॥ अ० द०

ग्रन्थ के अन्त में एक बार पुनः राधा नन्दकिशोर का स्मरण करते हुए कवि ने भगवद्गुणगान करने एवं विषयों से दूर रहने के लिए याचना की है। फिर अपना तथा ग्रन्थ का परिचय देकर उसके महत्व को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है

मन लगाइ या ग्रन्थ को, समझि पढ़ै जो कोइ।
सोभा लहै सभानि में, जग जाहिर कवि होइ। ३६०। अ० द०

तदनन्तर ग्रन्थ का रचना काल देकर उसे समाप्त कर दिया गया है।

मूल्यांकन : आचार्यत्व की दृष्टि से अलंकार दर्पण का कोई महत्व नहीं है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस समय की परम्परा का पालन करने के हेतु ही इस ग्रन्थ की रचना करके अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन भर किया गया है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से भी उसमें कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि यह ग्रन्थ अपनी संक्षिप्त और सरल शैली के कारण अलंकार के साधारण छात्रों के लिए उपयोगी कहा जा सकता है।

शृंगार चरित्र : देवकीनन्दन

(वि० सं० १८४०)

श्री देवकीनन्दन ने शृंगार चरित्र की रचना वि० सं० १८४० के माघ मास की पंचमी तिथि के दिन की थी[1]। इस ग्रंथ के शीर्षक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि

१ संवत युग निधि सैकरा वेद सून्य सुभ जानि।
माघ मास तिथि पंचमी रच्यौ ग्रन्थ रसखानि॥ २-३३७॥ शृं० च०

इसमें शृंगार का वर्णन किया गया होगा, पर साथ ही इसमें अर्थालंकारों का विवेचन भी पाया जाता है। इसका कोई कारण कवि ने अपने ग्रन्थ में नहीं दिया। नवों रसों में शृंगार का ही वर्णन करने का हेतु बताया है :—

नवरस में रस कौन को करिये बरनन आनि।
तब मन मानि रच्यौ यही रस सिंगार सुखदानि ॥ १-२ ॥ शृ०च०
मधुर लगत रसिकन हिए रस सिंगार सुखरूप।
रस सिंगार बिनु जो रचौ सो बिनु जल को कूप ॥ १—३ ।शृं०च०

इस ग्रन्थ में दो काव्यांगों का वर्णन होने से इसको दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। एक तो शृंगार निरूपण और दूसरा अलंकार निरूपण से सम्बन्ध रखता है। प्रथम भाग में बारह प्रभाव हैं और द्वितीय में दो परिच्छेद हैं। प्रथम भाग में नायक, नायिका, सखी, दूती, वियोग-दशा, भाव, हाव, संचारी भावों और गुणों का विस्तृत वर्णन है। दूसरे भाग के प्रथम परिच्छेद में शब्दालंकारों का और दूसरे परिच्छेद में अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है।

अलंकार वर्णन

सर्वप्रथम कवि ने अलंकार का महत्व इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

अलंकार ज्यों नरन के अलंकार पहिचानु।
उप्रादिक सौ कवित के गजरा उर मन मानु ॥ शृं० च०

इसके अनन्तर शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। यह विवेचन 'वक्रोक्ति' से प्रारम्भ होता है। इसके अतिरिक्त यहाँ अनुप्रास (वृत्ति, छेक) लाट, जमक, श्लेष, पुनरुक्ति और चित्रालंकार का भी वर्णन हुआ है।

यह शब्दालंकार-वर्णन काव्यप्रकाश पर आधारित है। देखिए :—

वक्रोक्ति : श्लेषौ औ काक सों वक्र उक्ति पहिचानु।
और भांति की बात जो और लगावैं जानु। १-८। शृं० च०
यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ६-७८। का०प्र०

लाट :— तात्पर्य ही अर्थ जहं होत पदन में आइ।
सो लाटानुप्रास है...................... । १-२४।
शब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ६-८१। का० प्र०

'चित्रालंकार' का यहाँ न तो लक्षण ही दिया गया और न उदाहरण ही केवल—अथ चित्रालंकार सोरठा—लिखकर

दुर्गादेवी गाय ध्याय यहि ये भुवनेश्वरी ।
कवि नंदन सुख पाइ प्रथम कह्यो उल्लास यहु ॥ १-३४ । शृं० च०

यह उक्त स्तुति करके प्रथम उल्लास कहने का कथन कर दिया गया है। सम्भव है लिपिकार ने भूल से लक्षण और उदाहरण को छोड़ दिया हो।

अर्थालंकार वर्णन

यह वर्णन 'उपमालंकार' से प्रारम्भ होता है। और 'हेतु' तक लगभग १०१ अलंकारों का विवेचन हुआ है। 'परिकर' अलंकार यहाँ नहीं है। इनके अतिरिक्त यहाँ रसनोपमा, दूषनोपमा, निर्णयोपमा, का भी विशेष वर्णन पाया जाता है। अन्य सभी अलंकार कुवलयानन्द की भांति हैं। यहाँ रसवदादि तथा प्रमाणादि संसृष्टि और शंकर अलंकारों का निरूपण नहीं है।

अलंकारों के नाम, क्रम और भेद सभी कुवलयानन्द के आधार पर हैं। वर्णन शैली प्रायः भाषाभूषण के समान है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने के लिए भाषा भूषण का अनुकरण किया गया है।

अलंकारों के लक्षण सर्वत्र स्पष्ट और निर्दोष नहीं हैं। स्मरण, भ्रम और सन्देह के लक्षणों में सादृश्य के चमत्कार को बिल्कुल ही भुला दिया गया है। सादृश्य के अभाव में इन लक्षणों में अलंकार का चमत्कार नहीं आ पाया। यथा :-

भ्रमालंकार :—अलंकार भ्रम निरखि जिय भ्रम अधिकाई होय ।२-४२। शृं० च०

स्मरण :— सुमिरन जाको निरषि कै सुमिरन मन में होय ।।२-४१। वही

सन्देह :— जहाँ एक को निरखि दृग करैं बहुत सन्देह ।।२-४३। वही

इसी प्रकार तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, तथा निदर्शना अलंकारों में भी औपम्य की बात को विस्मरण कर दिया गया है।

तुल्ययोगिता :—तुल्ययोगिता हित अहित हेतु शब्द में होइ ।
बहु मैं एकै वानि जो बहु समता गुन सोइ ॥ २-७६। शृं० च०

प्रतिवस्तूपमा:—जहं द्वै वाक्य बराबरी कविता करत बखान ।
प्रतिवस्तू उपमा तहाँ जानि लेहु बुधिमान ।।२-९३। शृं० च०

परिकरांकुर :—जहाँ विसेसन को वरन अभिप्राय सों लाय ।
परिकर अंकुर होत तंह ……………… ।२-११४। शृं० च०

परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं है। कहीं कहीं तो ये लक्षण अति सरल और स्पष्ट हैं। यथा :—

विभावना :—बिन कारन कारज जहाँ होत कहत कविराइ ।१२-१४६। वही
विशेषोक्ति :—कारन है अति ही बड़ो कारज पै नहिं होइ ।२-१५८। वही
इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं ।

श्रृंगार चरित्र के ये सभी लक्षण कुवलयानन्द की छाया में ही लिखे गए हैं । दो एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं :—

अल्प :— अति सूक्ष्म आधेय सों है अधार अति छीन ।२-१८८। श्रृं० च०
अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ।।६७।। कुवलयानन्द

विचित्र :— इच्छाफल विपरीत जहं कही जतन की सिद्धि ।।२-१८२। श्रृं० च०
विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया ।।६४। कुवलयानन्द

विषम :— अनमिलते को संग जहं बरनत है कवि कोय ।
तहाँ होत पहलो विषम ………………… ।२-१६८। श्रृं० च०
विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाऽननुरूपयोः ।८८।। कुवलयानन्द
विषम अलंकृत तीनि विधि अनमिलते को संग ।।११०। भा० भू०

परन्तु इन लक्षणों पर कुबलयानन्द की यह छाया भी भाषा भूषण के माध्यम से पड़ी है ।

मूल्यांकन :-- 'श्रृंगार चरित्र' वस्तुतः परम्परापालन करने के हेतु ही लिखा गया जान पड़ता है, क्योंकि उसमें न तो कोई मौलिकता है और न कवि की किसी स्वतंत्र वृत्ति के दर्शन होते हैं । उदाहरणों में भी कोई विशेषता नहीं है, और न उनमें काव्यत्व ही है । लक्षण अधिकांशतः अस्पष्ट और अपूर्ण हैं । अतः काव्यशास्त्र की दृष्टि से इसे साधारण कोटि का ग्रन्थ ही कहा जा सकता हैं ।

रघुनाथ अलंकार : सेवादास

(वि० सं० १८४०)

सेवादास अलबेले लाल के शिष्य थे। उन्होंने गीता महात्म्य, रघुनाथ अलंकार, अलबेले लाल जू को नखशिख, रसदर्पण आदि कई ग्रन्थ लिखे थे जिनकी हस्तलिखित प्रतियां एक ही जिल्द में संख्या ९१/५५ में संगृहीत हैं और जो काशी ना० प्र० स० के पुस्तकालय में विद्यमान हैं। इनमें 'रघुनाथ-अलंकार' अलंकार विषयक ग्रन्थ हैं जिसकी रचना वि० सं० १८४० में की गई थी[1]। इसके लिपिकार हैं रामदास,[2] पर पुस्तक बहुत ही अशुद्ध लिखी हुई है। यह ग्रन्थ वस्तुतः भक्तिपरक है, पर इसमें अलंकारों का भी वर्णन हुआ है[3]।

यह पुस्तक ५३ पृष्ठों में समाप्त हुई है। प्रारम्भ में राम और सीता जी की स्तुति, रचनाकाल तथा ग्रन्थ रचना आदि का कथन है, फिर पूर्णोपमालंकार से विषय का प्रारम्भ होता है। इसमें २०१ पदों में कुल ७१ अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए हुए हैं। आवृत्ति दीपक, दृष्टांत, परिकरांकुर, विनोक्ति, समासोक्ति, प्रस्तुतांकुर, व्याजनिन्दा, विरोधाभास, मालादीपक, विकस्वर, अनुज्ञा, मुद्रा, रत्नावली, पूर्वरूप, अनुगुण, उन्मीलित, विशेष, उत्तर, व्याजोक्ति, विवृतोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदास, अत्युक्ति, विधि, हेतु इन उनतीस अलंकारों को स्थान नहीं मिला। 'कारणमाला' अलंकार दो स्थलों पर है और उनके लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं :

(i) कारन काहु के करै काहू को सिधि होइ।
कारनमाला जानिए, ताकौ वरननु होइ ॥ १२१ ॥ र० अ०

(ii) एकहि से अनुप्रास जो खरे कवित्त में आइ।
कारनमाला कहत है, ताकी सरस सुभाइ ।१४०॥ र० अ०

वास्तव में दूसरा लक्षण कवि 'कारक दीपक' का लिखना चाहते थे, (यद्यपि उसका भी यह लक्षण नहीं बनता है), पर कवि की भूल से या लिपिकार

---

१ अठारह सै चालिस सो सम्वत् सरस बखान।
पौस मास व दिन पूमि वार भौम सुभ जान ॥ ४ ॥

२ राम दास पोथी लिखी मन में अति सुख पाय।

३ श्री अलबेले लाल को जुगल चरन करि प्रीत।
सेवदास बरननुकरौ अलंकार की रीति ॥ २ ॥

की भूल से यह गलती हो गई है। इसी प्रकार 'परिवृत्ति' अलंकार के स्थान पर 'परकर' लिखा गया है। यथा :

तनिक प्रेम बतराइ कै लेइ वपुष अपन्याइ।
परकर ताहि बखान ही, जाकौ सरस सुभाइ ।।१३१।। र० ग्र०

यहाँ 'वपुष' शब्द के स्थान पर 'विपुल' शब्द होना चाहिए था। संभवतः यह भी लिपिकार की भूल का परिणाम हो। यह लक्षण वस्तुतः 'परिवृत्यलंकार' का ही है।

भेदों का जहाँ तक सम्बन्ध है, कुछ अलंकारों के भेदों का तो विवेचन हुआ है (देखो अपन्हुति, अतिशयोक्ति, विशेष, व्याघात, समुच्चय, अर्थान्तरन्यास, प्रौढ़ौक्ति, प्रहर्षण) परन्तु कतिपय अलंकारों के भेदों की चर्चा नहीं की गई (देखो प्रतीप, विभावना, विशेषोक्ति आदि)

अलंकारों के लक्षण दोहा छन्द में और उदाहरण कवित्त छन्द में लिखे गए हैं। लक्षण और उदाहरण के बीच में अलंकार का शीर्षक लाल स्याही से दिया गया है। अर्थात् पहले लक्षण लिखकर शीर्षक दिया गया, तत्पश्चात् उसका उदाहरण।

लक्षण प्रायः अशुद्ध हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कवि को अलंकार विषयक ज्ञान नहीं है। यदि चन्द्रालोक अथवा कुवलयानन्द का, जिनका कवि ने ग्रन्थ में नामोल्लेख किया है, अनुवाद भी किया होता तो लक्षण की यह अशुद्धियाँ नहीं रह पाती। मेरा तो ख्याल होता है कि कवि ने उन ग्रन्थों का अध्ययन ही नहीं किया है। कुछ लक्षण यहाँ उद्धृत किए जाते हैं :

परिकर : करुनासागर राम सो, तिनको करै बखान।
सो परकर अलंकार, समुझौ चतुर सुजान ।।

विभावना : बहु बंधन करि काज को, काज सिद्ध होइ जाइ।
ताको कहत विभावना, बरनत सुबुधि सुभाइ ।।९७।। र० ग्र०

अधिक : अधिक अधिक बरनतु करै, ततै अति जो होइ।
सो अधिकालंकार कहि, ताकौ बरनत सोइ।१०८। र० ग्र०

अलप प्रथम ही इ बरनतु करै, थोरो थोरो होइ।
अलप नाम तस कहै, यह जानै सब कोइ।११०। र० ग्र०

परिसंख्या : उपमा ते उपमेय में, झलकै अधिक प्रकास।
परसंख्या सो जानिये, ताको कहत उजास।१३३। र० ग्र०

इसी प्रकार कारणमाला (१२१), प्रत्यनीक (१४४), अर्थान्तरन्यास (१५०), लेश (१७०), सामान्य (१७८), चित्र (१८०), सूक्ष्म (१८२), पिहित (१८४), छेकोक्ति (१८८), निरुक्ति (१९०) और प्रतिषेध (१९२ दोहा) अलंकारों के लक्षण भी सदोष हैं।

इन लक्षणों को देखकर ऐसी धारणा बनती है कि सेवादास जी केवलराम का गुणगान करना चाहते थे, अलंकार-ग्रन्थ लिखना नहीं। पर उस समय की परिपाटी का पालन किए बिना ख्याति मिलना कठिन था, इसी कारण यहाँ अलंकार-विवेचन कर दिया गया है, जो अधिकांशतः अशुद्ध और सदोष है। इससे कवि के अलंकार विषयक अपूर्ण ज्ञान का ही परिचय मिलता है।

सर्वत्र उदाहरणों में राम-भक्ति के दर्शन होते हैं, कहीं कहीं राम-भक्त हनुमान की भी स्तुति है। अनेक स्थलों पर लक्षण घटित नहीं होते।

कवि ने ग्रन्थ में अपने आधार ग्रन्थों की चर्चा इस प्रकार की है :

कुवलयानन्द चन्द्रालोक में अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोकि कै, अलंकार कहि राम।१८४। र० अ०

अर्थात् कुवलयानन्द और चन्द्रालोक में अलंकारों के नाम और उनकी गति देख कर राम अलंकार (रघुनाथ अलंकार) नाम से कवि ने उनका वर्णन किया है।

और भी :

कवित्त दोहा रचे हैं परम रूप,
जाही को विचारु कीए पाउत हरस है।
मंगल मनोहर है सीय को रुचिर गाथ,
श्रवन सुनत मनो अमृत बरस है।
सेवदास रसिकन को प्यारो लगत सोइ,
मूठ हीन पावत नै खानि कै तरस है।
कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते सों कह्यो,
अलंकार राम रघुवीर को सरस है।१८५। र० अ०

इस प्रकार अपनी पुस्तक का परिचय देते हुए कवि ने स्पष्ट घोषणा की है कि कुवलयानन्द और चन्द्रालोक के 'मते' से ही उसने 'रघुनाथ-अलंकार' की रचना की है परन्तु लक्षणों और उदाहरणों को देखकर यह सन्देह होने लगता है कि कवि ने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया भी था या नहीं।

वास्तव में इस ग्रन्थ में तो भक्ति को ही अधिक महत्व दिया गया है। उदाहरणों में तो भक्ति है ही, कहीं कहीं लक्षणों में भी उसका प्रभाव है (देखिए परिकरालंकार का लक्षण) कवित्व की दृष्टि से भी उनका कोई विशेष महत्व नहीं जान पड़ता। अतः यह कहा जा सकता है कि सेवादास भक्त ही थे, आचार्य नहीं।

काव्याभरण : चन्दन

(वि० सं० १८४५)

'काव्याभरण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना चन्दन कवि ने वि० सं० १८४५ के मार्गशीर्ष (अगहन) मास के शुक्ल पक्ष की तिथि द्वितीया चन्द्रवार के दिन की थी[1]।

ग्रन्थ परिचयः—इस ग्रन्थ में कुल १९८ दोहे हैं जिनमें प्रथम तीन दोहों में गणेश जी, गौरी तथा सरस्वती की बन्दना है, चौथे और पांचवें दोहे में गुरु-बन्दना के पश्चात् ग्रन्थ रचना का कथन है। छठवें दोहे में ग्रन्थ का निर्माणकाल दिया गया है। १९५वें दोहे तक अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। अन्त के तीन दोहों में ग्रन्थ का आधार, कविता की महत्ता और लिपिकाल दिया गया हैः—

ग्रंथ संस्कृत देखि मैं, समुझि अलंकृत अर्थ।
जथातथा ही मैं कह्यौ, जनिहै बुद्धि समर्थ ॥ १९६। काव्याभरण
अधर मधुरता कुच कठिन, दृग तीक्षनता यौग।
कविता के परपाक को जानत बिरले लोग ॥ १९७ ॥ काव्याभरण
संवत शशिनिधि वेदश्रुति, माधव बदि गृह मंद ॥
निजकर युगल किशोर लिखि यश श्रीहरि सुखकंद ॥१९८॥का०भ०

यहाँ १९६वें दोहे में कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि उसने संस्कृत ग्रन्थों को देखकर अर्थालंकारों को समझकर उनका वर्णन ज्यों का त्यों कर दिया है। इससे सिद्ध है कि कवि ने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, जैसा उसने संस्कृत-ग्रन्थों में देखा, और जैसा समझा, उसी के अनुसार उन अलंकारों का निरूपण उसने यहाँ कर दिया है।

'काव्याभरण' में उपमा से लेकर हेतु तक उनके भेद सहित लगभग १०० अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं केवल, 'उपमेयोपमा' अलंकार को यहाँ छोड़ दिया गया है। अलंकार के विषय में कवि ने अपनी धारणा इस प्रकार प्रकट की है :—

कवित शक्ति श्री राधिका, कवित कृष्ण यक संग।
सुवरन मय चन्दन करी अलंकार त्यहि अंग ॥

---

१ (क) नमस्कार गुरु देव को करि चन्दन बहु बार।
काव्याभरण कियो प्रगट, भाषा कवि आधार ॥ ४
(ख) संवत ठारह सौ जहाँ पैंतालीस विचार।
चंदबार तिथि द्वैज शुदि मार्ग ग्रंथ विस्तार ॥ ६ ॥

कवित्वशक्ति राधिका जी हैं और कवित्व श्रीकृष्ण। उन्हीं के अंगों की शोभा बढ़ाने के लिए चन्दन ने सुबरन (स्वर्ण ∴ सुन्दर वर्ण) मय अलंकार बनाए हैं। जिस प्रकार राधा और कृष्ण के अंगों की सुन्दरता के उत्कर्ष के लिए सुवर्णाभूषणों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कवित्व शक्ति और कवित्व की शोभा के लिए अलंकार भी आवश्यक हैं। आभूषण जिस प्रकार बाह्य वस्तु होकर केवल सुन्दरता बढ़ाने के साधन हैं, उसी प्रकार ये अलंकार भी साधन ही हैं। यहाँ अंग शब्द ध्यान देने योग्य है। अतः चन्दन कवि की दृष्टि में अलंकार कविता के अंग हैं।

अलंकार वर्णन :—काव्याभरण में केवल अर्थालंकारों की ही चर्चा है, शब्दालंकारों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। इनका प्रारम्भ 'उपमालंकार' से होता है। इनके पूर्ववर्ती अन्य अनेक कवियों ने भी सर्वप्रथम 'उपमालंकार' का ही वर्णन किया है, इससे ज्ञात होता है कि हिन्दी आचार्यों ने भी संस्कृत के आचार्यों की भांति उपमा को सभी अलंकारों का मूल मानकर उसे सर्वप्रथम स्थान दिया। चन्दन ने भी उसी महत्व को स्वीकार करके परम्परा का पालन किया है। उपमा का लक्षण इस प्रकार है :—

दोय पदार्थन की जहां, शोभा लसत समान।
उपमा तासौं कहत हैं, पंडित परम सुजान ।। ७ ।। का०

यह लक्षण वास्तव में कुवलयानन्द के "उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः का शब्दशः अनुवाद है। अन्य अलंकारों के नाम, क्रम और भेद काव्याभरण में वैसे ही हैं, जैसे कि कुवलयानन्द में। कहीं कहीं थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य पाया जाता है। जैसे यहाँ आवृत्तिदीपक को दीपकावृत्ति, परिवृत्ति को परिवृत, अर्थापत्ति को काव्यार्थापत्ति और विशेष को वैशेषक कहा गया है। इसी प्रकार उत्तरालंकार के स्थान पर चित्र और गूढ़ोत्तर अलंकारों का विवेचन किया गया है, जो वास्तव में कुवलयानन्द के उत्तरालंकार के भेद ही हैं। पर अलंकारों के ये नाम और उत्तरालंकार की यह व्यवस्था चन्दन के पूर्ववर्ती हिन्दी कवि बहुत पहले कर चुके थे। चन्दन का उसमें अपना कोई योगदान नहीं है, उन्होंने तो अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण भर किया है।

क्रम में थोड़ा सा व्यतिक्रम पाया जाता है। चन्दन ने 'प्रस्तुतांकुर' को 'अप्रस्तुतप्रशंसा' से पहले स्थान दे दिया है जबकि कुवलयानन्द में वह उसके बाद में आता है। इसी प्रकार 'मुद्रा' और 'रत्नावली' अलंकार कुवलयानन्द की भांति 'लेश' अलंकार के बाद आने चाहिए थे, पर चन्दन ने उन्हें 'स्वभावोक्ति' के पश्चात् कई अलंकारों का अन्तर देकर वर्णित किया है। परन्तु ऐसा करने में कोई विशेष कारण नहीं जान पड़ता।

जहाँ तक अलंकारों के भेदोपभेदों का सम्बन्ध है, चन्दन ने कुवलयानन्द के मार्ग को ही अपनाया है। प्रतीप, रूपक, अपन्हुति, उल्लेख, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता आदि के भेद सभी कुवलयानन्द के ही अनुसार हैं। केवल 'लुप्तोपमा' के वाचक लुप्ता, वाचक धर्म लुप्ता और वाचक उपमान लुप्ता को छोड़ कर अन्य पाँच भेदों की तथा 'उत्प्रेक्षा' के उक्त, अनुक्त विषया तथा सिद्धास्पद और असिद्धास्पद भेदों की चर्चा नहीं की गई है।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण :—

काव्याभरण में लक्षण और उदाहरण लिखते समय चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की शैली अपनाई गई है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दे दिए गए हैं। दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण रक्खा गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों प्रायः कुवलयानन्द के कायानुवाद या छायानुवाद हैं, इन लक्षणों और उदाहरणों को देखकर मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्दन कवि ने काव्याभरण के रूप में कुवलयानन्द का भाषानुवाद सा किया हो। कतिपय उदाहरणों द्वारा हम उक्त कथन की पुष्टि करेंगे।

प्रतीप :— जहं आगे उपमेय के किंचित है उपमान।
देखत ही तुब बदन को, कमल कहा शशि आन ॥ २० ॥
काव्याभरण

प्रतीपमुपमानस्थ कैमर्थ्यमपि मन्वते।
दृष्टे चँद्वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना ॥ १६ ॥ कुवलयानन्द

हैत्वपन्हुति :— हेतु अपन्हुति जुक्त सौं, जहाँ निषेध न होय।
इंदु न तीव्र न सूर निसि, और्वक सिद्धम सोय ॥ ३७ ॥
काव्याभरण

स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपन्हुतिः।
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः सिन्धोरोर्वोऽयमुत्थितः ॥ २७ । कुवल०

द्वितीय व्याघात :—

सुखहि जुक्त जो क्रिया है, काज विरोधिनि होइ।
बाल जानि मो पै दया, तदपि त्यागिवे तोइ। १२० ॥
काव्याभरण

सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी।
दया चेद्बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते ॥ १०३ । कु०

विधि :— सिद्धि पदार्थहिं को जहाँ है विधान विधि सोइ।
पंचमुदंचन समय को, कोकिल कोकिल होइ ॥ १९३ । काव्या०

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् ।
पंचमोदंचने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत् ।। १६६ ।। कुवल०

इस प्रकार 'काव्याभरण' पर कुवलयानन्द के प्रभाव की बात तो क्या कहें, यदि सच पूछिये तो वह कुवलयानन्द का एक प्रकार से भाषानुवाद ही है। ग्रन्थ के अन्त में जो "ग्रन्थ संस्कृत देखि मैं" वाली बात कही गई है उसका सम्भवतः यही तात्पर्य है। अतः क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या आचार्यत्व की दृष्टि से 'काव्याभरण' का कोई विशेष महत्व नहीं है, अनुवाद की दृष्टि से भले ही उसका कोई मूल्य हो। अलंकारों के नामकरण में भी कवि की अपनी कोई देन नहीं है। उसमें भी चन्दन ने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों का ही अनुसरण किया है। अतः हम चन्दन के काव्याभरण को एक साधारण कोटि का ही ग्रन्थ कहेंगे। हाँ, विद्यार्थी के दृष्टिकोण से अवश्य उसकी थोड़ी उपयोगिता है, क्योंकि इस पुस्तक की सरल और संक्षिप्त शैली अलंकारों को कण्ठस्थ कर लेने के लिए बड़ी उपयोगी है।

साहित्य सुधानिधि : जगतसिंह

(वि० सं० १८५८)

गौंडा निवासी श्रीमन्महाराजराजकुमार बिसेनवंशावतंश, दिग्विजयसिंह के आत्मज जगतसिंह ने 'साहित्य-सुधा-निधि' नामक काव्यशास्त्र की रचना वि० सं० १८५८ के भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि गुरुवार को की थी[१]। इस ग्रन्थ में कुल दस तरंगें (अध्याय) हैं जिनमें काव्य स्वरूप, शब्द-निरूपण, वृत्ति, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार, गुण और दोष आदि विविध काव्यांगों का वर्णन बरवै छन्द में किया गया है। प्रथम तरंग में काव्य-स्वरूप का, द्वितीय में शब्द-निरूपण, तृतीय में उत्तम और मध्यम काव्य (गुणीभूत व्यंग्य) का, चतुर्थ में कुटिला वृत्ति, पंचम तरंग में सरला या अभिधा वृत्ति का, षष्ठम तरंग में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का, सप्तम तरंग में त्रिविध गुणों का, अष्टम तरंग में भाव रस का, नवम तरंग में चतुर्विध रीतियों का और दशम तरंग में दोषों का विवेचन किया

---

१. श्री सरजू के उत्तर गोंडा ग्राम, तेहि पुर बसत कवि गनन आठौं याम।१-७।
तिनमें एक अल्प कवि अति मतिमंद, जगतसिंह सो बरनत बरवै छन्द।१-८।
संवत वसु शर वसु शशि अरु गुरुवार, शुक्ल पंचमी भादौ रच्यौ उदार।
।। १-११ ।। सा० सु० नि०
साहित्य सुधानिधि काव्य ललाम, अमर होत जे चाख़त कवि मतिधाम।
। १-१२ ।

गया है। यह सम्पूर्ण विवेचन कुल ६३६ छन्दों में समाप्त हुग्रा है[1]। प्रत्येक तरंग के ग्रन्त में 'इति श्रीमन्महाराजराजकुमार विसेनवंसावतंस दिग्विजैसिहात्मज जगतसिंह कृतौ साहित्य सुधानिधौ—निरूपनो नाम "....तरंग:" लिखा गया है।

प्रथम तरंग में १३ छन्दों में मंगलाचरण, गुरुचरणवन्दना, स्वपरिचय, ग्रंथ-रचनाकाल तथा ग्रन्थाधार का वर्णन करने के पश्चात् काव्य प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्य स्वरूप तथा काव्यभेद ग्रादि की चर्चा की गई है। काव्य प्रयोजन की चर्चा करते हुए कवि कहता है :—

जस धारक धन कर कसि सुनि सुखदानि दुखधायक दायक सिख
तिय समानि। १-१३॥

कालिदास जस पायो घाउक ग्रर्थ, सुनि सुख होय मयूरक
कटो ग्रनर्थ। १-१४॥

जग को व्यौहारों सब जाते जानि, मधुरवाक्य तिय लोकहि
मदमुद ग्रानि। १-१५। सा० सु० नि०

यह काव्य-प्रयोजन काव्यप्रकाश के ग्राधार पर लिखा गया है। देखिये:—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥१—२॥ का० प्र०

कालिदासादीनामिव यशः। श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्। राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्। ग्रादित्यादेर्मयूरादीनामिवा-नर्थनिवारणम् इत्यादि।

इसी प्रकार 'काव्य-हेतु' भी काव्य प्रकाश से ही रूपान्तरित करके लिखे गये हैं। मिलाइये :—

सक्ति निपुणता जानो ग्ररु मत लोक, वितपति कहि ग्रभ्यासोपति-
भावोक॥ १-१६॥ सा० सु० नि०

शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ १-३॥ का० प्र०

इसके पश्चात् इसी की वृत्ति को ग्राधार बनाकर शक्ति निपुणता ग्रादि की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

पूरब पुन्य शक्ति है जानौ सोइ ता बिनु कवित करैं हठि निंदित
होइ। १-१७।

पद पदार्थ पावै जहं ग्रतिसै हाल, ताहि निपुनता जानौ बुद्धि
बिसाल। १-१८।

---

१. कहूँ छहसै छतिस मधुनि बरवै वीनि, दस तरंग करि जानो ग्रन्थ नवीन।
वही-अन्तिम छन्द।

जो जग को ब्यौहारो जानैं ताहि, वहै लोकमत जानौ कबिन सराहि । १-१९ ।
सकल सास्त्र को जानब वितपति जानु, कहि अभ्यास कविन ढिग रचैं विधान ॥ १-२० ॥ सां० सू० नि०

आगे काव्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है :—

वृत्ति अलंकृत गुन रस रीति समेत, दूषन रहित करो सो काव्य समेत । १-२२ ।

काव्य का यह स्वरूप 'सरस्वती कण्ठाभरण' के लक्षण से प्रभावित जान पड़ता है । यथाहि :—

अदोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति । १-२ ॥ स० कं०

परन्तु यह काव्य-लक्षण चन्द्रालोक के अधिक अनुरूप है[1] । जगत सिंह काव्य में अलंकारों का होना अनिवार्य मानते हैं । उनके मत में काव्य - परिभाषा के अनुसार गुण, वृत्ति, रस और दोषाभाव होने पर भी काव्य में अलंकार अपेक्षित हैं । अलंकार के बिना कविता वैसी ही है जैसे उष्णता के बिना अग्नि :—

विजन अलंकार बिनु कहै कवित, ते न अनल सीतल कस माने मित्त ॥ १-२४ ॥ सा० सु० नि०

यही बात चन्द्रालोक कार जयदेव ने भी कही थी :—

अंगी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती ॥ १-८ ॥ चन्द्रालोक

इससे हम जगतसिंह की अलंकार विषयक धारणा का अनुमान कर सकते हैं । इसी प्रकार उत्तम और मध्यम काव्यों के लक्षण काव्य प्रकाश के लक्षणों के अनुवाद से जान पड़ते हैं, यद्यपि ये अनुवाद पूर्ण नहीं कहे जा सकते ।

इस प्रकार यह प्रथम तरंग काव्य-प्रकाश के अनुकरण पर लिखी गई जान पड़ती है । काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में जिस विषय का वर्णन जिस क्रम से है, उसी विषय का उसी क्रम से यहाँ भी वर्णन किया गया है । केवल काव्यस्वरूप और अलंकार विषयक कवि की धारणा में यहाँ थोड़ा सा अन्तर पाया जाता है । मम्मट अलं-

---

१. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा ।
सालंकार रसानेक वृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक् ॥ १-७ ॥ चं०

कारों को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं मानते, पर जगतसिंह चन्द्रालोक के अनुकरण पर उन्हें अनिवार्य मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रालोक का प्रभाव उन पर है। कवि ने एक स्थल पर इस तथ्य को अपने शब्दों में स्वीकार भी किया है:-

चन्द्रालोक आदि दै भाषा कीन ।
कहि साहित्य सुधानिधि बरवै वीनि ।। १-१० । सा० सु० नि०

द्वितीय तरंग में शब्द-निरूपण हुआ है। जिससे ग्रन्थों में विभक्ति होती है, उसे शब्द कहते हैं। यह शब्द तीन प्रकार का होता है—अरूढ़, यौगिक और यौगिक रूढ़।[1]

यह शब्द-निरूपण चन्द्रालोक का शब्दशः अनुवाद है। अन्त में कवि ने स्वयं लिखा है :—

क्षीर जलधि नव पंकज यो कहि भेव ।
चन्द्रालोक लिखौ कवि श्री जयदेव ।। ४६ । सा० सु० नि०

तीसरी चौथी और पांचवीं तरंग में उत्तम, मध्यम काव्य, कुटिलावृत्ति (लक्षणा) और सरला वृत्ति (अभिधा) का वर्णन करने के पश्चात् छठवीं तरंग में अलंकारों का निरूपण किया गया है।

सर्वप्रथम शब्दालंकारों का विवेचन है। अलंकारों की परिभाषा देते हुए कवि लिखता है :—

अलंकार तेहि जानौ कवि समुदाइ ।
सब्द अर्थ को रचना जहँ ठहराइ ।। १३० ।।
यथा हार पहिरति तिय छवि सरसाइ ।
त्यौ मन हरत अलंकृत पद कविराइ ।। १३१ । सा० सु० नि०

आगे शब्दालंकारों के भेद, लक्षण आदि दिए गए हैं।

स्वर व्यंजन समुदायक आवृत्ति होइ ।
अनुप्रास छेका कहि जानौ सोइ ।। १३२ ।।
छेकानु.................................।।

इसके बाद प्रति खंडित है। अतः विशेष कहना संभव नहीं है। परन्तु उक्त अलंकार तथा अनुप्रास की परिभाषाओं को देखकर इतना अनुमान अवश्य किया

---

१ होत विभक्ति जाहि सों ग्रंथिनि माहं ।
शब्द ताहि को जानो पंडितनाह ।। २-३३ । सा० सु० नि०
तामै तीनि भेद कहि सबै अरूढ़ ।
एक जौगिक अरु जौगिक रूढ़ ।। ३४ ।। वही

जा सकता है कि यह शब्दालंकार-निरूपण चन्द्रालोक के आधार पर ही किया गया होगा। चन्द्रालोक में अलंकार की परिभाषा करने के पश्चात् 'छेकानुप्रास' का विवेचन हुआ है। उसी प्रकार यहां भी ये परिभाषायें चन्द्रालोक की छाया में लिखी गई हैं:—

शब्दार्थयोः प्रसिद्ध्या वा कवेः प्रौढ़िवशेन वा।
हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः ।। ५-१ ।। चन्द्रालोक ।।
स्वरव्यंजन सन्दोहव्यूहा मन्दोहदोहदा ।।
गौर्जगज्जाग्रदुत्सेका छेकानुप्रास भासुरा ।। ५-२ ।। चन्द्रालोक ।।

इसके पश्चात् १५२ वें छन्द से अर्थालंकार का वर्णन प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम 'उपमा' का लक्षण दिया गया है। फिर अन्य अलंकारों का वर्णन किया गया है। यहां लगभग १०० से अधिक अलंकारों का विवेचन है। ये सभी अलंकार कुवलयानन्द के अनुकरण पर हैं, पर 'मालोपमा', 'ललितोपमा' का वर्णन विशेष हैं। साथ ही एक 'असूचक' नया सा अलंकार और है। इसका लक्षण और उदाहरण इस प्रकार दिया हुआ है :—

लक्षण :— अंत अर्थ जुग जोरै सम करि गान।
सो असूव बखानत सुकवि सुजान ।। १६४ असूचक-सा०सु०नि०

उदाहरण :— हरि विवि चरन बढौ मम निसिदिन नेह।
जुगल कंज पै जैसे भृंग सनेह ।। १६५ ।। सा० सु० नि०

इनके अतिरिक्त 'गूढ़ोत्प्रेक्षा' का कथन भी यहां है। ये 'गूढ़ोत्प्रेक्षा' और 'ललितोपमा' अलंकार चन्द्रालोक से लिये गए हैं। उनके लक्षण और उदाहरण चन्द्रालोक के अनुवाद ही हैं :—

ललितोपमा :— उपमा में लीलादिक पद जंह होइ।
ताहि ललित उपमा कहि पंडित लोइ ।। १६० ।।
नील कमल लीला तब वरने नैन।
चन्द्रालोक देखे इमि कहि मति अैन ।। १६१ ।। सा० सु० नि०
उपमाने तु लीलादि पदाढ्ये ललितोपमा ।।
त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः ।। ५-१५ ।। चन्द्रालोक

गूढ़ोत्प्रक्षा :— करवादिक (इव आदिक) पद बिनु जानो सोइ।
गूढ़ोत्प्रेक्षा ते कहि पंडित लोइ ।। १९९ ।।

यथा:— तव कीरति महि सब भ्रमे थकी बनाय।
गई स्वर्ग गंगा धुव न्हानो पाइ ।। २०० ।। सा० सु० नि०

इवादिक पदाभावे गूढ़ोत्प्रेक्षां प्रचक्षते ।
यत्कीर्तिविभ्रमश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम् ॥ ५-३० । चन्द्रालोक

इसी प्रकार 'मालोपमा' अलंकार सम्भवतः साहित्यदर्पण से लिया गया है । इसके अतिरिक्त एक अन्योन्यमाला नामक अलंकार और है जिसका लक्षण है:—

करि उपकार परसपर पुनि मिसि दोय ।
करै प्रकास और को कहि कवि लोय ॥ २८८ ॥ सा० सु० नि०

यथा:— पैं करि कमल कमल करि पैं छवि सोय ।
पैं अरु कमल मिले अति सर दुति होय ॥ २८९ ॥ सा० सु० नि०

शेष सभी अलंकार कुवलयानन्द के समान हैं पर 'पूर्व रूप' अलंकार यहाँ नहीं है । उनके नाम, क्रम और भेद सभी उसी के अनुकरण पर हैं । अलंकारों के नाम प्रायः वही हैं जो जगतसिंह से पूर्व हिन्दी अलंकारग्रन्थों में प्रचलित हो चुके थे— जैसे आवृत्ति-दीपक का दीपकावृत्ति अथवा अर्थापत्ति का काव्यार्थापत्ति आदि । क्रम में दो स्थलों पर कुवलयानन्द का अतिक्रमण हुआ है । 'समुच्चयालंकार' कुवलयानन्द में 'कारक-दीपक' से पूर्व आता है, पर यहाँ वह 'कारक दीपक' के बाद में रक्खा गया है । इसी प्रकार कुवलयानन्द की भाँति 'पिहित' के बाद 'ब्याजोक्ति' और तब 'गूढ़ोक्ति' होनी चाहिये थी, पर यहाँ 'पिहित' के पश्चात् 'गूढ़ोक्ति और तब 'ब्याजोक्ति' अलंकार आया है । इसके अतिरिक्त अलंकारों के क्रम में और कोई अन्तर नहीं है । अलंकारों के भेदों की दृष्टि से भी कुवलयानन्द से थोड़ा ही अन्तर है । यहां 'लुप्तोपमा' के केवल तीन ही भेद हैं, उत्प्रेक्षा के उक्त, अनुक्त, सिद्धास्पद और असिद्धास्पद वाले भेदों की चर्चा यहाँ नहीं है । शेष सभी भेद कुवलयानन्द के ही समान हैं ।

अलंकारों के लक्षण और उदाहरण :—

ये प्रायः कुवलयानन्द के अनुवाद मात्र से ही हैं । बरवै छन्द में रचना करने के कारण ये लक्षण और उदाहरण स्पष्ट और सन्तोषजनक नहीं हो सके हैं । उदाहरणों में भी लालित्य नहीं आने पाया ।

ये लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द से किस प्रकार अनूदित किये गए हैं, उसकी थोड़ी सी बानगी देख लीजिये :—

तद्‌गुण :— तद्‌गुन तजि गुन अपनो सदगुन लेइ ।
पद्‌मराग भी मोती अधरन सेइ ॥ ३३३ ॥ सा० सु० नि०
तद्‌गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ।
पद्‌मरागायते नासा मौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥ १४१ ॥ कुवलयानन्द

आक्षेप :— कहि पुनि फेरि प्रथम है कविन-मराहि।
एक निषेधाभासौ जानो ताहि ॥ २५२ ॥
दुरै निषेध वचन विधि तीजो लेखि।
यह कुवलयानन्दमत कहे विसेखि ॥ २५३ ॥ सा० सु० नि०
देहु दरस ससि अथवत तियमुख पेखि।
दूती हौं न तीयतन ताप विशेखि ॥ २५४ ॥ सा० सु० नि०

१. आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र ! सन्दर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम् ॥ ७३ ॥ कुवलयानन्द

२. निषेधाभासमाक्षेपं बुधा केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः ॥ ७४ ॥ कुवलयानन्द

इन लक्षणों की तुलना करने पर भलीभांति विदित हो जाता है कि यह अनुवाद अपूर्ण और शिथिल है। 'तद्गुण' अलंकार में एक वस्तु अपना गुण छोड़कर दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करती है, परन्तु अनुवाद में सद्गुन, ग्रहण का कथन है, दूसरी वस्तु के गुण-ग्रहण का नहीं। इसी प्रकार 'प्रथम आक्षेप' में स्वयं उक्त कथन का प्रतिषेध होता है, पर अनुवाद में स्वयं उक्त कथन का उल्लेख नहीं है। यह सब इसी बात का द्योतक है कि बरवै छोटे छन्द में अनुवाद करने के कारण लक्षण पूर्ण नहीं बन पाये और उनमें कमी रह जाने से शिथिलता एवं सदोषता भी आ गई है। इसी प्रकार के और अन्य लक्षण भी हैं।

इसके बाद गुणों का वर्णन आता है जो भोज के कर्णाभरण के अधार पर है। फिर रस रीति और दोषों का वर्णन होने के बाद ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। रस और दोषों का निरूपण चन्द्रालोक एवं काव्यप्रकाश पर ही आधारित है।

इस प्रकार 'साहित्य-सुधा-निधि' नामक ग्रन्थ का आलोड़न करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि इसमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है। संस्कृत के चन्द्रालोक, कुवलयानन्द और काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों के आधार पर ही उसकी रचना की गई है। कवि ने स्वयं भी इस बात को स्वीकार किया है और स्थल स्थल पर इन संस्कृत आचार्यों के नाम देकर उसने अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की है। पूर्वपृष्ठों पर इस प्रकार का कुछ उल्लेख हम कर चुके हैं कुछ उदाहरण यहां भी दिये जाते हैं, जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो सके।

दृष्टान्त :— विंब प्रतिबिंब त्यं कहि जहां सुजान।
सो दृष्टान्त जानि वीनमा प्रमान ॥ २२० ॥

कांतिमान ससि हो तो कीरतिमान ।
यह कुवलयानन्द मत कहे विधान ।। २२१ ।। सा० सु० नि०

असंगति :— और काज आरम्भ करि औरै दौर ।
चन्द्रालोक लिखै इमि कवि सिरमौर ।। २६८ ।। सा० सु० नि०

विधि : — प्रगट अर्थ फिरि साधै विधि कहि सोइ ।
कहि कुवलयानन्द (काव्य) मत होइ ।। ३७५ ।। सा० सु० नि०

इनके अतिरिक्त कवि ने भरत, भोज, गोविन्द भट्ट और भानुदत्त के ग्रन्थों से भी पर्याप्त सहायता ली है। ग्रन्थ के अन्त में तो जगत सिंह ने कह ही दिया है कि जो प्राचीन काव्य हैं, उन्होंने मन को उदार बना दिया है अथवा चूंकि प्राचीन आचार्यों ने उदार होकर काव्य रचना की है इस कारण मैंने और कुछ विचार नहीं किया। भरत, भोजादि के मत का अनुमान करके उसे भाषा में प्रगट कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने अपनी ओर से कुछ विशेष नहीं कहा, वरन् संस्कृत - ग्रन्थों को ही अनुवाद रूप में उपस्थित कर दिया है[1]। इस दृष्टि से 'साहित्यसुधानिधि' को हिन्दी - रीति - साहित्य में कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता। इतना अवश्य है कि इस ग्रन्थ में रीति का वर्णन विशेष रूप से हुआ है। अन्य हिन्दी रीति-ग्रन्थों में इस वर्णन को इतने विस्तार के साथ नहीं किया गया। इसी कारण भले ही इस ग्रन्थ का मूल्यांकन किया जा सके, पर वस्तुतः इस ग्रन्थ में न तो आचार्यत्व ही की कोई झलक है और न कवित्व की। हां; इसके द्वारा काव्यशास्त्र सम्बन्धी हिन्दी साहित्य की वृद्धि अवश्य हुई है।

---

१. जो प्राचीन काव्य मन किए उदार, तातैं हौं न और कछु कियो विचार।
भरत भोज अरु मम्मट श्री जय देव, विस्वनाथ गोविन्द भट्ट दीछित मेव।
भानुदत्त आदिक मत करि अनुमान, दियो प्रगट करि निषाद (भाषा) कवित-विधान। सा० सु० नि०

चेत चन्द्रिका—गोकुलनाथ कवि

(वि० सं० १८५८ के लगभग)*

'चेत चन्द्रिका'[1] नामक अलंकार विषयक ग्रंथ की रचना 'रसिक मोहन' ग्रंथ के रचयिता रघुनाथ के मध्यम पुत्र गोकुलनाथ कवि ने[2] की थी। यह ग्रंथ डुमराव निवासी नकछेदी तिवारी द्वारा सन् १८९४ ई० में भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित हो चुका है। १४५ पृष्ठों की यह पुस्तक ५६९ पदों में समाप्त हुई है।

इस ग्रंथ में केवल अर्थालंकारों का विवेचन है। ग्रंथ के पहले ४५ पदों में मंगलाचरण, गुरुचरण स्तुति, श्रीकृष्ण ध्यान, कवि प्रशंसा, वंशवर्णन, आश्रय-दाता की प्रशंसा आदि का वर्णन तथा कवि परिचय आदि पाया जाता है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ की रचना काशिराज महाराज वरिवंडसिंह के ज्येष्ठ सुपुत्र महाराज चेतसिंह की आज्ञा से उन्हीं के आश्रय में रहकर की गई थी। महाराज चेतसिंह ने कवि को गांव, घोड़े और हाथी भी दिए थे[3]।

इसके पश्चात् ६९ वें दोहे तक भेदों सहित उन अलंकारों की सूची दी गई है जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है। यहाँ कुल १०० अर्थालंकारों की चर्चा की गई है।

अलंकारों के नाम, भेद और क्रम सब कुवलयानन्द के अनुसार हैं। कुवलया-नन्द का यह प्रभाव इस ग्रन्थ में कवि के पिता रघुनाथ के 'रसिक मोहन' के माध्यम द्वारा आया जान पड़ता है। क्योंकि उन्होंने अपने पिता की वर्णन-शैली को ही इस ग्रंथ में अपनाया है। 'रसिक मोहन' की भांति यहाँ भी अलंकारों की सूची सब से पहले दी गई है। जिस प्रकार वहां 'व्याजोक्ति' अलंकार दो स्थलों पर

---

*हिन्दी साहित्य का इतिहास-शुक्ल-पृष्ठ ३६८

१ ना० प्र० स० काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति।

२ भये सुकवि रघुनाथ के तीन पुत्र अभिराम।
बैजनाथ सबसों बड़े, मध्यम गोकुलनाथ। ४२॥

३ (i) द्वै सुत नृप बरिवंड के भए भरे मति गाथ। ३६
(ii) जेठे नृप अवतंस, चेतसिंह राजा भए। ३७
(iii) गोकुल कवि पर करि कृपा चेतसिंह छितिपाल।
गांव दियो घोरे दिए, दीन्हे दुरद विसाल। ४३
(iv) फेरि सुकवि सों यो कह्यो, करिकै अमित सनेहु।
अलंकार मत में हमें, ग्रन्थ एक करि देहु॥ ४४॥
(v) सुने नृपति के बैन, गोकुलनाथ कृपा भरे।
पाइ हिए में चैन, ग्रन्थ करन लागे तुरत॥ ४५॥

आया है, उसी प्रकार यहाँ भी। उनमें एक 'व्याजोक्ति' का सम्बन्ध वस्तुतः 'व्याज स्तुति' और 'व्याज निन्दा' से है। 'रसिक मोहन' की भांति यहां भी एक अपन्हव नामक अलंकार का वर्णन है। दोनों ग्रन्थों में इसके लक्षण एक समान हैं:-

मिलित अपन्हुति सौं जहां उत्प्रेक्षा है सुधाम।
ताहि अपन्हव कहत हैं, अलंकार अभिराम ॥ १८३ ॥ चे० चं०
जहं उत्प्रेक्षा सों मिली आपु अपन्हुति होत।
ताहि अपन्हव कहत हैं, अलंकार कवि गोत ॥ ७१ ॥ र० मो०

जिस प्रकार 'रसिक मोहन' में अलंकार सूची के अन्तर्गत दो स्थलों पर विशेषोक्ति का नाम आया, उसी प्रकार चेत चन्द्रिका में भी। पर दूसरी विशेषोक्ति वाला अलंकार वास्तव में विशेष अलंकार है। वर्णन करते समय दोनों ग्रन्थों में उसे 'विशेष' अलंकार ही बताया गया है—(जहां आधार के बिना आधेय का वर्णन किया जाता है)। दूसरे 'विशेष' अलंकार को जिसे हिन्दी वालों ने विशेषक नाम से अभिहित किया है, वहां दोनों ग्रन्थों में 'वैशेष' या 'वैशेख्य' अलंकार कहा गया है। इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि चेत चन्द्रिका नामक ग्रन्थ 'रसिक मोहन' से प्रभावित है, और उस पर जो कुवलयानन्द का प्रभाव दिखाई पड़ता है, वह मेरी दृष्टि से 'रसिक मोहन' के द्वारा ही पड़ा है।

अलंकारों का वर्णन 'उपमा' से प्रारम्भ होता है। लक्षण दोहा छन्द में दिए गए हैं और उदाहरण सोरठा, कवित्त अथवा सवैया छन्द में। अधिकतर अलंकारों के दो दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। यदि एक उदाहरण कवित्त या सवैया छन्द में है तो दूसरा सोरठा छन्द में है। लक्षण और उदाहरण में सामंजस्य है। लक्षण के बाद ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जहां भेद निरूपण है, वहां भी पहले एक भेद का लक्षण और उदाहरण एक साथ पृथक पृथक् पदों में दिए गए हैं फिर दूसरे और तीसरे भेदों का निरूपण इसी प्रकार किया गया है। उदाहरणों का सम्बन्ध केवल शृंगार रस से ही नहीं है वरन् वीर आदि अन्य रसों से भी वे सम्बन्धित हैं। बीच बीच में आश्रय दाता का भी गुणगान है। इस प्रकार उदाहरणों में विविधता है। कवित्व की दृष्टि से उनमें बड़ी सरसता और रमणीयता है।

इस प्रकार 'चेत चन्द्रिका' में अलंकारों का विवेचन बड़े सरल ढंग से किया गया है। परन्तु उसमें कोई नवीनता या मौलिकता नहीं। उसमें भी प्रचलित परिपाटी का ही पालन मात्र किया गया है। इसी कारण आचार्यत्व की दृष्टि से उसका कोई विशेष मूल्य नहीं है। पर हां; काव्य शास्त्र के भंडार को अक्षुण्ण बनाने में उसका भी बड़ा योगदान है। इसी दृष्टि से उसका मूल्यांकन संभव है।

दीपप्रकाश—ब्रह्मदत्त

(वि० सं० १८६७)

दीप प्रकाश[1] की रचना ब्रह्मदत्त ने काशी नरेश उदित नारायण सिंह के अनुज दीप नारायणसिंह की आज्ञा से[2] वि० सं० १८६७ में की थी[3]। परन्तु इस पुस्तक के सम्पादक रत्नाकर जी भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित इस ग्रंथ में इस तिथि को प्रतिलिपि काल बताते हैं, रचना काल नहीं[4]। इस पुस्तक में कुल ४६ पृष्ठ हैं और सम्पूर्ण पुस्तक पाँच प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में १५ पदों में मंगलाचरण तथा आश्रयदाता का परिचय दिया गया है। द्वितीय में ४७ पदों में नायक-नायिका-भेद तथा भेद सहित मान का, तृतीय प्रकाश में सात्विक भाव, अनुभाव, संचारी भाव, तथा शब्दालंकारों का, चतुर्थ प्रकाश में अर्थालंकारों का और पाँचवें प्रकाश में दोष गुण का विवेचन हुआ है। इस प्रकार इस पुस्तक में काव्य के अनेक अंगों का निरूपण है, इसी कारण रत्नाकर जी ने अपनी भूमिका में इसके विषय में लिखा है "भाषा भूषण की न्यूनता को यह ग्रंथ पूरा करेगा" क्योंकि इस पुस्तक में दोष गुण का वर्णन अधिक हुआ है, और अन्य सभी विषयों का वर्णन "भाषा भूषण" में हुआ है। इसी कारण रत्नाकर जी ने उपर्युक्त बात कही है।

पुस्तक के प्रथम प्रकाश में तो अवश्य ७ पद कवित्त सवैया में हैं, अन्यथा सम्पूर्ण पुस्तक में दोहा छन्द का ही प्रयोग किया गया है। भाषा भूषण की भाँति यहाँ भी एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं। विषय का विवेचन सामान्य ही है, उसमें कुछ असाधारणता या विशेषता नहीं है।

शब्दालंकार वर्णन

भाषा भूषण के समान यहाँ भी शब्दालंकारों का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है। केवल छेक, वृत्ति, लाट और यमक की ही चर्चा की गई है। सब के लक्षण और उदाहरण मात्र ही एक दोहे में लिखे गए हैं। अन्तर इतना है कि भाषा भूषण

---

१ ना० प्र० स० काशी के पुस्तकालय से प्राप्त मुद्रित प्रति के आधार पर

२ दीप नारायण सिंह की लहि आयसु कवि ब्रम्भ
कविकुलकंठाभरण लगि कीनों ग्रन्थ आरम्भ ॥ १-१२ ॥ दी० प्र०

३ मुनि रस वसु शशि बरस नभ मास चतुर्थी स्वेत।
जखिनी में निजकर लिख्यो ब्रह्मदत्त निज हेत ॥ ५-२४ ॥ दी० प्र०

४ दीप प्रकाश भारत जीवन प्रेस काशी से मुद्रित सं० १६४६ पृष्ठ ४६ टिप्पणी

में इन अलंकारों का वर्णन अर्थालंकारों के वर्णन के बाद हुआ है, पर यहां पहले हुआ है।

अर्थालंकार वर्णन

यहां कुल ९८ अलंकारों का विवेचन किया गया है। अर्थान्तिरन्यास, छेकोक्ति और विकस्वर अलंकार नहीं हैं। गुणवत एक नया अलंकार है जो देव कवि की देन है। वहीं से शायद ब्रह्मदत्त ने इसे लिया है।

अलंकारों के नाम और भेद तो सभी प्रायः वैसे ही हैं जैसे कि कुवलयानन्द में, पर उनके वर्णन क्रम में अवश्य यहां कुछ अन्तर है। 'परिणाम' अलंकार के बाद इस पुस्तक में आक्षेप, विरोधाभास और विभावना अलंकारों का क्रम रक्खा गया है और तब उल्लेखादि अलंकार आते हैं, पर कुवलयानन्द में परिणाम के बाद ही उल्लेखादि अलंकारों का क्रम है। वहां 'आक्षेपादि' तीनों उक्त अलंकार 'ब्याजनिन्दा' के अनन्तर वर्णित हैं। थोड़ा सा व्यतिक्रम 'प्रत्यनीक' और 'समाधि' अलंकारों के क्रम में भी पाया जाता है। दीप प्रकाश में 'प्रत्यनीक' के बाद 'समाधि' आया है, जबकि कुवलयानन्द में 'समाधि' के बाद 'प्रत्यनीक' आता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण क्रम कुवलयानन्द जैसा ही है। वर्णन का प्रारम्भ उपमा से होता है। पहले उसके चारों अवयवों की व्याख्या की गई है, और फिर उसका लक्षण दिया गया है।

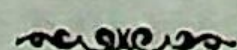
अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रायः सरल और स्पष्ट हैं। उदाहरणों का सम्बन्ध अधिकतर शृंगार रस से ही है। पर उनमें किसी प्रकार की अशिष्टता नहीं है। अलंकारों के लक्षण सर्वत्र कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। उदाहरणों में पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। देखिए :—

द्वितीय सम्बन्धातिशयोक्ति :

योगहु विषै अयोग जहं दूजो भेद गनाइ।
तू मोहन के उर बसी, नहिं उरबसी सुहाइ ॥ ४-५६ ॥ दी० प्र०

अल्प : अल्प अल्प आधेय तें, जहां अल्प आधार।
छला छिगुनिया को लला, अबकर करत विहार ॥४-१०६॥ दी०प्र०

परिणाम : विषई अन्तर विषय के, करत काम परिणाम।
कर कंजनि तोरति सुमन, चितचोरति वह बाम॥ ४-२८॥ दी० प्र०



पद्माभरण : पद्माकर

(वि० सं० १८६७ के लगभग)

पद्माकर ने 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' नामक दो लक्षण ग्रंथ लिखे हैं। 'जगद्विनोद' रस, भाव, और नायिका-भेद पर लिखा हुआ ग्रंथ है। यह ग्रंथ मतिराम के 'रसराज' के समान ही लोक प्रिय रहा। परन्तु इसकी लोक प्रियता का कारण उसका कविता पक्ष ही है, रसादि का विवेचन नहीं। शुक्ल जी ने स्वयं अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है[1] :

"मतिराम के रसराज के समान पद्माकर का जगद्विनोद भी काव्यरसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह श्रृंगार रस का सार ग्रंथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसा स्वाभाविक और हाव भाव पूर्ण मूर्तिविधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है।"

किन्तु यह यह उपर्युक्त कथन पद्माकर की कवित्व शक्ति पर ही प्रकाश डालता है, आचार्यत्व पर नहीं।

यह ग्रन्थ जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के पुत्र जगतसिंह की आज्ञा से लिखा गया था। मतिराम की भांति पद्माकर ने भी श्रृंगार को रसराज माना है और उनके आलम्बन नायक नायिका को मानकर सबसे पहले इस ग्रन्थ में नायिका-नायक-भेद का ही वर्णन किया है, फिर हाव, सात्विक भाव, संचारी भाव, वियोग, श्रृंगार और उसके पश्चात् संक्षेप में अन्य रसों का वर्णन किया है। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सखासखी, दूती, उपवन षड्ऋतु आदि का निरूपण है जिसमें लक्षण संकेत मात्र ही हैं। आगे संचारी भावों, वियोग श्रृंगार तथा अन्य रसों के वर्णन में भी यही बात पाई जाती है। अतः काव्यशास्त्र की दृष्टि से जगद्विनोद का विशेष महत्व नहीं है।

पद्माभरण :—

यह पद्माकर का अलंकारों पर लिखा हुआ ग्रन्थ है। शुक्ल जी के अनुमानानुसार इस ग्रन्थ की रचना जयपुर में ही की गई थी। इसका रचना काल वि० सं० १८६७ के आसपास माना जाता है[2]। यह कुल ३४४ छन्दों का एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें दोहा छन्द का प्रयोग किया गया है, पर कहीं कहीं चौपाइयां भी पाई जाती हैं। यह ग्रन्थ दो प्रकरणों में विभाजित है। प्रथम प्रकरण

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३०६, रामचन्द्र शुक्ल।
२. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास पृष्ठ ४२, डा० भगीरथ मिश्र।

में स्वीकृत अलंकारों के लक्षण और उदाहरण हैं, द्वितीय प्रकरण में उन पन्द्रह अलंकारों का विवेचन है जिनके विषय में विद्वानों में मतभेद रहा है। ऐसा कदाचित् दूलह कवि के 'कविकुल कण्ठाभरण' के आधार पर किया गया है। पन्द्रह अलंकारों के विवेचन के पश्चात् संसृष्टि और संकर के लक्षण उदाहरण बारह छन्दों में दिये गए हैं।

रचना उद्देश्य :—

सर्वप्रथम इस ग्रन्थ में मंगलाचरण किया गया है। इसी स्थल पर यह प्रकट कर दिया गया है कि कवियों का अनुसरण करके ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है[1]। ग्रन्थ की रचना करने में कवि का कोई विशेष उद्देश्य नहीं है। न तो पद्माकर किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन करना चाहते हैं और न अपना आचार्यत्व ही दिखलाना चाहते हैं। उस युग की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल ही इस ग्रन्थ की रचना करना ही उनका उद्देश्य है।

मंगलाचरण के पश्चात् तीन दोहों में उन्होंने अलंकार-रीति के विषय में लिखा है। अलंकार का लक्षण, या अलंकारों का काव्य में क्या स्थान है आदि विषय पर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला। अलंकारों के तीन भेद करके ही वे ग्रन्थ का प्रारम्भ कर देते हैं। तीन भेद हैं[2] : १. शब्दालंकार २. अर्थालंकार ३. उभयालंकार। पद्माकर के अनुसार जहां जिस प्रकार का अभिप्राय हो, वहां वैसा ही अलंकार मानना चाहिये। यदि शब्दों के चमत्कार से अभिप्राय हो तो शब्दालंकार, यदि अर्थ के चमत्कार से तात्पर्य है तो अर्थालंकार और जहां शब्द एवं अर्थ दोनों से प्रयोजन है तो वहां उभयालंकार समझना चाहिए।

यदि किसी स्थल पर अनेक अलंकार दिखाई पड़ें तो वहाँ कवि के अभिप्राय को मुख्य मान कर ही अलंकार समझना चाहिए[3]। अर्थात् कवि जिस अलंकार को प्रमुखता देना चाहता है, उसी अलंकार को वहाँ मुख्य जानना चाहिए। इसी बात को पद्माकर उदाहरण देकर स्पष्ट भी कर देते हैं :

जा विधि एकै महल में, बहु मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, गनियतु वहै प्रधान। ४। पद्माभरण।

---

१. ....देखि कविन को पन्थ।
कवि पद्माकर करत है, पद्माभरण सुग्रन्थ। १। पद्माभरण।

२. शब्दहुँ तें कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहुँ तें उर आनि।
अभिप्राय जिहि भांति जहं, अलंकार सो मानि। २। पद्माभरण।

३. अलंकार इक थलहिं में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहां, वहै मुख्य गन एक। ३। पद्माभरण।

राजमहल में अनेक भवन होते हैं, पर राजा को जो भवन अच्छा लगता है वही प्रधान महल समझा जाता है। यही बात अलंकारों के विषय में भी समझना चाहिए।

यहाँ कवि का अभिप्राय चमत्कार विशेष से है, अलंकार विशेष से नहीं। क्योंकि अलंकार की प्रधानता चमत्कार के अतिशय पर निर्भर होती है, न कि कवि के व्यक्तित्व पर।

अलंकार के तीन भेद करने के पश्चात् कवि को शब्दालंकारों का वर्णन करना चाहिए था, पर ऐसा नहीं किया गया। कवि अर्थालंकारों का वर्णन प्रारम्भ कर देता है और फिर इसके पश्चात् भी वह शब्दालंकारों का वर्णन या तो भूल जाता है, या वह वर्णन कवि को अभीष्ट नहीं है। केवल अलंकारों के भेदों में शब्दालंकार की गणना मात्र करके ही कवि अपना कर्तव्य पूर्ण समझ लेता है। कवि-कुल-कंठाभरण' में शब्दालंकारों का विषय नहीं है। संभवतः उसी के अनुकरण पर कवि ने ऐसा किया हो। पर वहाँ भी अलंकारों के तीन भेद नहीं किए गए हैं।

अलंकारों का क्रम :

पद्माकर ने अपने इस ग्रंथ में अलंकारों का वही क्रम रक्खा है जो 'कुवलयानन्द' में पाया जाता है। दूलह के 'कविकुल कंठाभरण' एवं बैरीसाल के 'भाषाभरण' में भी अलंकारों का यही क्रम पाया जाता है। संभव है कि पद्माकर ने यह क्रम इन्हीं दोनों ग्रंथों को देखकर ग्रहण किया हो। इन दोनों ग्रन्थकारों ने कुवलयानन्द को अपना आधार बनाया है जैसा कि वे स्वयं अपने ग्रंथों में स्वीकार करते हैं[1] अतः पद्माकर के इस क्रम पर कुवलयानन्द की छाप अवश्य पड़ी है।

अर्थालंकार :

'पद्माभरण' के पहले प्रकरण में अर्थालंकारों का वर्णन हुआ है। इनके वर्णन में कवि ने परम्परा का ही अनुसरण किया है। इनमें प्रायः १०० अलंकारों का वर्णन किया गया है। स्मृति, भ्रांति और सन्देह इन तीन अलंकारों का वर्णन एक पंक्ति में ही "तिहुँ लच्छन इनके नाम" कहकर किया गया है। दूलह कवि के

---

१ कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते ते कहीं, लुप्ता ये आठों, आठों प्रहर मानिए। कविकुल कंठाभरण।

रीति कुवलयानन्द की, कीन्हीं भाषाभर्ण। भाषाभरण। बैरीसालकृत।

"नाम ही तैं जानि लीजो लच्छन के तौर हैं"। कविकुलकंठाभरण १५) इस वाक्य को ध्यान में रखकर (कि इन अलंकारों के लक्षण उनके नाम से ही जाने जा सकते हैं) पद्माकरण ने इनका वर्णन उपर्युक्त ढंग से ही किया है। यह प्रवृत्ति चन्द्रालोक और कुवलयानन्द से ही ग्रहण की गई है। वहाँ भी सम्मिलित रूप में ही इनका वर्णन पाया जाता है[1]।

कुवलयानन्द में उत्तरालंकार का एक भेद 'चित्रोत्तर' बताया गया है, पर हिन्दी कवियों ने उसे 'चित्र' नाम से एक स्वतंत्र अलंकार मान लिया है। पद्माभरण में भी इसी परम्परा का पालन करते हुए 'चित्र' को पृथक् रूप में वर्णित किया गया है। हिन्दी अलंकृतियों के अनुसरण पर कुछ अलंकारों के नाम भी परिवर्तित किए गए हैं। जैसे उत्तर अलंकार को 'गूढ़ोत्तर' एवं 'विशेष' को 'विशेषक' नाम से कहा गया है।

लक्षण एवं उदाहरण :—

पद्माभरण में प्रायः चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की शैली अपनाई गई है। एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण लिखना इन ग्रंथों की शैली की विशेषता है। परन्तु पद्माकर ने कहीं कहीं इसका उल्लंघन भी किया है। ऐसे स्थलों पर एक दोहे में लक्षण और दूसरे दोहे में उसका उदाहरण प्रस्तुत किया है। कहीं कहीं तो 'पुनर्यथा' कहकर पृथक् पृथक् दोहों में दो दो और तीन तीन तक उदाहरण दे दिये हैं। मालोपमा, शुद्धापन्हुति, दृष्टान्त, असदर्थ निदर्सना, अनेक वर्ण्यावर्ण्य श्लेष, विरोधाभास, व्याघात, कारनमाला, एकावली, परिसंख्या, विकल्प, अर्थान्तर-न्यास, सम्भावना, विवृतोक्ति अलंकारों के दो दो उदाहरण दिए हैं। प्रतिषेध अलंकार में तीन उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इन अनेक उदाहरणों के देने का तात्पर्य उदाहरण की उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता नहीं, वरन् अपने कवित्व प्रदर्शन की लालसा ही जान पड़ती है।

उदाहरणों के अतिरिक्त कहीं कहीं एक ही अलंकार के दो दो लक्षण भी दिए गए हैं। इसका कारण लक्षण में स्पष्टता लाना ही हो सकता है। अथवा अपने आधार ग्रन्थ का अनुवाद करने पर भी आवश्यकतानुसार कवि अन्य संस्कृत ग्रन्थों से सहायता लेने में संकोच नहीं करता है।

---

१ स्यात्स्मृतिभ्रान्ति सन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम्। चन्द्रालोक। ५-३१
स्यात्स्मृतिभ्रान्ति सन्देहैस्तदङ्कालंकृतित्रयम्। कुवलयानन्द श्लोक २४।

शुद्धापन्हुति :

सुद्धापन्हुति जहं थपै, सुद्ध वस्तु छपि जात । ४५ ।

पुनर्यथा

सुद्ध अपन्हुति लै धरम, इक को अनत अरोप । ४६ ।

यहां प्रथम लक्षण में चन्द्रालोक और कुवलयानन्द[1] की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

एकावली :

द्वितीय लक्षण में 'साहित्य दर्पण'[2] का प्रभाव जान पड़ता है ।

गहब तजब अर्थालि को, जहं एकावलि सोइ । ७६ ।

पुनर्यथा लक्षण

पूरब गहहि जु उत्तरहि, उत्तर तजि पूरव्व ।
गहै पदारथ और यों, एकावलि कह सव्व ।

प्रथम लक्षण चन्द्रालोक[3] का अनुवाद ही है । इस पर भाषाभूषण की भी छाया दिखाई पड़ती है । द्वितीय लक्षण काव्य प्रकाश या साहित्यदर्पण[4] से लिया गया जान पड़ता है । काव्य प्रकाश या साहित्यदर्पण में विशेषणतया या विशेषणत्वेन पद विशेष रूप से दिया गया है । पर पद्माकर ने इस पद को अपने लक्षण में स्थान नहीं दिया ।

काव्यलिंग :

अर्थ समर्थहि जोग जो करै समर्थन तास ।
काव्यलिंग तासों कहत, जिनकै सुमति प्रकाश ।। २०१ ।।

दूजो लच्छन

---

१. (i) अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपन्हुतिः । ५-२४ । चन्द्रालोक ।
(ii) शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः । २६ । कुवलयानन्द ।

२. प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपन्हुतिः । १०-३८ । साहित्यदर्पण ।

३. गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता । ५-८८ । चन्द्रालोक ।

४. स्थाप्यते पोह्यतेवापि यथापूर्वं परं परम् । १०-१३१ । काव्यप्रकाश ।
पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् । १०-७८ । साहित्यदर्पण ।

हेतु पदारथ लहि कहूँ, कहूँ वाक्यारथ पाइ ।
करे समर्थन अर्थ को, काव्यलिंग सो आइ ॥ २०२ ॥

इनमें प्रथम लक्षण कुवलयानन्द[1] का अनुवाद है। दूसरे लक्षण में काव्य-प्रकाश[2] और साहित्यदर्पण[3] का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

उदाहरण :—

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पद्माकर ने अनेक स्थलों पर एक ही अलंकार के दो दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसके अतिरिक्त और कोई अन्य विशेषता उनके उदाहरणों में नहीं दिखाई पड़ती। उनमें भी परम्परा का अनुसरण किया गया है। परन्तु कतिपय उदाहरण अवश्य दोषपूर्ण हो गये हैं। यथा :

१. दृष्टांत :

जहां दोनों वाक्यों में उपमेय, धर्म आदि का विम्ब प्रतिविम्बभाव झलकता है वहां 'दृष्टांत' अलंकार होता है। इसका जो दूसरा उदाहरण पद्माकर ने प्रस्तुत किया है वह दृष्टांत की अपेक्षा 'परिसंख्यालंकार' का सा उदाहरण बन गया है। यथाहि :—

रति इक रस की खानि है, तूही कलानिधान। ८४।

कलानिधानता केवल तुझमें ही है, रति में नहीं। यहां कलानिधान होने का वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि वह अन्य वस्तु (रति) के निषेध में परिणत हो गया है। अतः 'परिसंख्या' अलंकार हो गया। दृष्टांत का विम्ब प्रतिविम्ब भाव यहां दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यह उदाहरण सदोष है।

२. अनेक अवर्ण्य श्लेष :

वहां होता है जहां श्लिष्ट पदों के द्वारा अनेक अवर्ण्यों (अप्रस्तुतों) का वर्णन किया जाता है। यथा :—

सगुन सभूषन सुभ सरस, सुवरन सुपद सराग।
इमि कविता अरु कामिनी, लहै जु सो बड़ भाग॥

---

१. समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगम् समर्थनम्। १२१।
२. काव्यलिंगं हेतोर्वाक्यपदार्थता। १०-११४। काव्यप्रकाश
३. हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगम् निगद्यते। १०-६२। साहित्यदर्पण।

यहां प्रथम पंक्ति में श्लिष्ट पदों का प्रयोग अवश्य हुआ है। इनका अर्थ कविता और कामिनी दोनों पर घटित होता है। परन्तु ये कविता और कामिनी दोनों यहां अवर्ण्य (अप्रस्तुत) न होकर वर्ण्य (प्रस्तुत) ही हैं। अतः यह उदाहरण निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

३. तृतीय असंगति :

जहां कार्य कुछ और ही आरम्भ किया जाय, पर हो जाय उसके विरुद्ध कुछ और ही कार्य वहां 'तृतीय असंगति' होती है। इसके लिये पद्‌माकर ने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है :

आये जीवन दैन घन, लगे सु जीवन लैन। १४८।

यहां दैन और लैन शब्दों में विरोध होने से चमत्कार अवश्य है, पर अनेक बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने से 'जीवन शब्द' में यमक का चमत्कार मुख्य हो जाता है। अतः चमत्कार की मुख्यता के कारण यहां 'यमकालंकार' ही माना जाना चाहिये, असंगति नहीं।

४. सम्भावना :

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने 'सम्भावना' की पृथक् गणना अलंकारों में नहीं की है। पर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में इसका वर्णन स्वतंत्र रूप से किया गया है। पद्‌माकर ने इन्हीं ग्रन्थों के अनुसरण पर 'संभावना' का स्वतंत्र वर्णन किया है। परन्तु उन्होंने इसका जो उदाहरण दिया है वह साहित्य-दर्पणकार की अतिशयोक्ति (असम्बन्ध सम्बन्ध) के उदाहरण का अनुवाद मात्र है[1]। देखिए :

जु कहुँ पावतो आप मैं, द्वै अरविन्द अमन्द।
तौ तेरे मुखचन्द की, उपमा लहतौ चन्द। २१५।

५. ललित :

जहां प्रस्तुत में वर्ण्य वाक्य के अर्थ का प्रतिबिम्बमात्र कथन होता है, वहां 'ललितालंकार' होता है। यथा :—

तब न सीख मानी भटू, कियो विचार न कोइ।
भख्यो चहत फल अमृत को, विष बीजन को बोइ।

---

१. यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्। साहित्यदर्पण शालिग्राम शास्त्री कृत विमलाख्या व्याख्या सहित १०वां परिच्छेद पृष्ठ १६२।

यहां विष के बीज बोकर अमृत के फल खाने की इच्छा करना जैसी लोकोक्ति का प्रयोग होने से यह लोकोक्ति अलंकार का उदाहरण बन गया है।

६. अत्युक्ति :

जहां उदारता सूरत आदि का वर्णन करने में अद्भुत झूठ का मिश्रण होता है, वहां 'अत्युक्त्यलंकार' होता है। यथा :

इते उच्च सैलन चढ़े, तुव डर अरि सकलत्र।
तोरत कम्पित करन सों, मुक्ता समुझि नछत्र ।। २७२ ।।

यहां नक्षत्रों में मोतियों का भ्रम होने से इस उदाहरण को निर्दोष नहीं कहा जा सकता।

अलंकारों के भेद :

पद्माकर ने सर्वप्रथम 'उपमालंकार' का वर्णन किया है, जैसा कि कुवलयानन्दकार ने किया है और उसी के आधार पर अन्य हिन्दी कवियों ने। अतः पद्माकर ने भी उन्हीं का अनुसरण करते हुए परम्परा का पालन मात्र किया है। पहले उन्होंने उपमा के चार अंगों (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) की परिभाषा दी है, और फिर उपमालंकार का लक्षण पृथक् दोहे में दिया। उपमालंकार के अनेक भेद करने में परम्परा का ही अनुसरण किया गया है। उनमें कोई नवीनता नहीं है। पूर्णोपमा और लुप्तोपमा तो उपमा के भेदों के रूप में पहले से ही चले आ रहे हैं, पर लुप्तोपमा के पन्द्रह भेदों में पूरनलुप्तोपमा तो बड़ा ही विचित्र मालूम होता है। चारों अंगों का लोप हो जाने पर वाक्य में शेष रह ही क्या जायगा। पूर्णलुप्ता का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है।

जाहि निरखि सुक मन्द हुव, ताहि लखहु करि चोप। १६।

यहां उपमा के अंगों का अभाव होने से समानता का कोई पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में यहां उपमालंकार कैसे माना जा सकता है? मालोपमा और रसनोपमा साहित्यदर्पण में हैं। उपमा के दो भेद श्रौती और आर्थी काव्यप्रकाशकार ने भी माने हैं। इस प्रकार पद्माभरण में उपमा के भेदों में कोई नवीनता या मौलिकता नहीं है।

रूपक के अभेद और तद्रूप के रूप में पहले दो भेद किये गए हैं और फिर इन दोनों रूपकों के छह भेद बताए गए हैं। कुवलयानन्द में भी यही भेद माने गये हैं। जिनको आधार बनाकर परम्परा से ही हिन्दी में इन्हीं भेदों को स्वीकार किया

गया है। इनके अतिरिक्त पद्माकर ने एक 'सावयव रूपक' भी माना है, परन्तु यह भी कोई नवीन कल्पना नहीं है। क्योंकि काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में इसकी विवेचना की गई है। वहां तो सावयव या सांग के अतिरिक्त निरंग रूपक का भी वर्णन पाया जाता है। परन्तु पद्माकर ने निरंग (निरवयव) रूपक का कोई विवेचन नहीं किया।

'उत्प्रेक्षा' अलंकार में कवि ने पहले वस्तु के उक्त विषया और अनुक्त विषया ये दो भेद किये, और फिर हेतु तथा फल के भी सिद्ध विषया और असिद्ध विषया की दृष्टि से दो दो उपभेद किये हैं। इस प्रकार उत्प्रेक्षा के कुल छह भेद बताये हैं। वे हैं: उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा, अनुक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा, सिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा, असिद्धविषया फलोत्प्रेक्षा, सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा, और असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा। इन भेदों के अतिरिक्त पद्माभरण में गम्योत्प्रेक्षा का वर्णन भी पाया जाता है। इसी को चन्द्रालोक में गूढ़ोत्प्रेक्षा और कुवलयानन्द में गम्योत्प्रेक्षा कहा गया है। वस्तुत: यह उत्प्रेक्षा का भेद नहीं है।

अन्य अलंकार के भेद प्राय: वही हैं जैसे 'कुवलयानन्द' तथा हिन्दी में वैरीसाल के 'भाषाभरण' में पाये जाते हैं।

पद्माकर ने इन भेदों का वर्णन अलंकारों के लक्षण के साथ ही कर दिया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने इन भेदों के लक्षण भी पृथक् दोहों में दे दिए हैं। अपन्हुति, प्रतीप और अतिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों के भेदों के लक्षण पृथक् पृथक् रूप में वर्णित हैं। परन्तु कहीं कहीं अलंकार के भेद गिनाकर उनके उदाहरण मात्र दिए गए हैं, लक्षण नहीं लिखे गये। 'व्यतिरेक' और 'श्लेष' ऐसे ही अलंकार हैं। परन्तु ऐसे अलंकारों की संख्या नगण्य ही है।

पञ्चदश अलंकार प्रकरण :

इस प्रकरण में कुल ५१ पद हैं। इन पदों को दोहा और चौपाई इन दो प्रकार के छन्दों में लिखा गया है। सबसे पहले उन पन्द्रह अलंकारों की गणना कराई गई है जिनका वर्णन करना इस प्रकरण में अभीष्ट है। वे हैं: १-रसवत्, २-प्रेय, ३-ऊर्जस्वित्, ४-समाहित, ५-भावोदय, ६-भावसन्धि, ७-भाव शबलता, ८-प्रमाण-प्रत्यक्ष, ९-अनुमान, १०-उपमान, ११-शब्द, १२-अर्थापत्ति १३-अनुपलब्धि, १४-ऐतिह्य, १५-संभव। अन्य कवियों ने इन पन्द्रह अधिक अलंकारों का वर्णन अपनी अपनी मति के अनुसार किया है। अत: पद्माकर भी उनके लक्षण और लक्ष्य (इनके लच्छन लच्छ।) पृथक् पृथक् समझा कर कहना चाहते हैं। इनका वर्णन करने से पूर्व वे 'गुरु गनेस' का ध्यान करते हैं।

यहाँ अलंकार का लक्षण लिखने के बाद कवि ने गद्य में उसे समझाने का प्रयत्न भी किया है। यह इस प्रकरण की विशेषता है। गद्य की शैली बहुत पुरानी है। इसकी भाषा भी ब्रज भाषा है।

अलंकारों के लक्षण बड़े स्पष्ट और सुबोध हैं। इसी प्रकार लक्षणों के उदाहरण भी बड़े सुगम हैं। गद्यमयवार्तिकों ने तो उन्हें और भी सुगम बना दिया है।

ये सभी पन्द्रह अलंकार चन्द्रालोक में नहीं हैं; पर कुवलयानन्द में पाये जाते हैं। इनका क्रम भी वही है जैसा कुवलयानन्द में है। एक स्थल पर अवश्य यह क्रम-साम्य नहीं है। कुवलयानन्द में 'संभवालंकार' के बाद 'ऐतिह्य' अलंकार का वर्णन है, पर पद्माभरण में पहले 'ऐतिह्य' और तब बाद में 'संभवालंकार' का विवेचन है। कुवलयानन्दकार ने इन अलंकारों के लक्षण पृथक् रूप से नहीं दिए हैं, जैसा कि उसने अन्य अलंकारों के विषय में किया है। केवल एक स्थल पर वृत्ति में उनका विश्लेषण कर दिया है। फिर उदाहरण मात्र उनके दे दिये हैं। पर पद्माकर ने पृथक् दोहों में लक्षण भी दिए हैं, इस प्रकार उन्होंने अपनी शैली की एक रूपता को बनाए रक्खा। उसमें कुवलयानन्द का अनुकरण करके कोई भिन्नता नहीं आने दी।

'प्रत्यक्ष प्रमाण' में पद्माकर ने पांचों इन्द्रियों के अलग अलग उदाहरण दिए हैं। 'शब्द प्रमाण' में भी श्रुतिवाक्य, स्मृतिवाक्य, आगम, आचार और आत्मतुष्टि के भी अलग अलग उदाहरण हैं। इस प्रकार से पद्माकर ने प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के भी उपभेद किए हैं। कुवलयानन्द में इस प्रकार पृथक् पृथक् उदाहरण नहीं दिये गये हैं। हां, स्मृति और श्रुति के उदाहरण अवश्य हैं।

संसृष्टि शंकर :

इन उपर्युक्त अलंकारों के वर्णन में कवि ने बारह दोहे लिखे हैं। पहले उन दोनों के लक्षण एक ही दोहे में लिखे गए हैं। लक्षण बहुत ही स्पष्ट और सुबोध हैं। यथा :

तिल तन्दुल के न्याय सों है संसृष्ट बखान।
नीर छीर के न्याय सौं संकर कहत सुजान। ३३४।

इन लक्षणों के पश्चात् एक दोहे में कवि 'तिल तन्दुल न्याय' और 'नीर छीर न्याय' को भी स्पष्ट कर देता है जिससे लक्षणों में बड़ी सुबोधता आ जाती है। यथा :

जुदे जुदे जाने परैं, सौ तिल तन्दुल न्याय।
जहाँ जुदे न लखे परैं, नीर छीर सो आय। ३३४।

इसके उपरान्त पद्माकर प्रत्येक के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पर ये उदाहरण उनके अपने न होकर या तो बिहारी के हैं अथवा भाषाभरण के। उदाहरणों के साथ कवि दोहों के रचयिताओं के या ग्रंथ के नाम देकर उनका स्मरण भी करता चलता है। पञ्चदशालंकार प्रकरण की भांति यहाँ भी कवि गद्यमयी भाषा में उन उदाहरणों का विश्लेषण कर देता है। संसृष्टि अलंकारों में शब्दालंकारों और अर्थालंकारों तथा उभयालंकारों सभी की संसृष्टि के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। शंकर के तीन भेद किए गए हैं। १-अंगांगिभाव, २-सन्देह, ३-समप्राधान्य। कुवलयानन्द में पांच भेद हैं, १-अंगांगिभाव, २-समप्राधान्य, ३-सन्देहसंकर, ४-एकवचनानुप्रवेश, और ५-संकरसंकर। संभव है संकरालंकार के भेदों का वर्णन करते समय साहित्यदर्पण या काव्यप्रकाश कवि के ध्यान में रहे हों। पर भेदों के नाम वही हैं जो कुवलयानन्द या भाषाभरण में है।

पद्माकर पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव :

पद्माकर ने भी अन्य कवियों की भाँति किसी न किसी ग्रन्थ को अपनी प्रस्तुत पुस्तक 'पद्माभरण' का आधार बनाया है। परन्तु उन्होंने किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं किया जिससे उन्हें उक्त पुस्तक की रचना करने में सहायता मिली है, जैसा कि दूलह कवि या बैरीसाल ने किया है। उन्होंने यह अवश्य स्वीकार किया है कि कवियों का पंथ देखकर ही पद्माभरण की रचना की गई है[1]।

यह बिल्कुल स्पष्ट है कि पद्माकर ने संस्कृत ग्रन्थों को अवश्य देखा था। काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण और कुवलयानन्द की छाया उनपर अवश्य पड़ी थी। जहाँ तक शैली, क्रम और अलंकार भेद का सम्बन्ध है, वहाँ कुवलयानन्द का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं कहीं अलंकारों के लक्षण भी या तो उनके अनुवाद हैं या छायानुवाद हैं। कतिपय उदाहरण भी चन्द्रालोक या कुवलयानन्द से अनूदित जान पड़ते हैं। भले ही कुवलयानन्द का प्रभाव परोक्ष रूप से उनपर पड़ा हो। कुछ उदाहरण देखिए :

भ्रान्त्यपन्हुति :

बच सों भ्रम पर को नसै, भ्रान्ति अपन्हुति जान। ५०।

पद्माभरण

भ्रान्तापन्हुतिरन्यस्य शंकायां भ्रान्तिवारणे। २८। कुवलयानन्द

---

१. ....देख कविन को पन्थ।
कवि पद्माकर करत हैं, पद्माभरण सु ग्रन्थ॥ १॥

सम्बन्धातिशयोक्ति :

सम्बन्धातिसयोक्ति सु जानौ ।
जहं अजोग में जोग बखानौ ।। ६६ ।। पद्माभरण
सम्बन्धातिशयोक्ति स्यादयोगे योगकल्पनम् । ३९ । कुवलयानन्द

आवृत्ति दीपक :

दीपक की आवृत्ति में आवृत्त दीपक होत ।
सो वह तीन प्रकार को………………।। ७७ ।। पद्माभरण
त्रिविधं दीपकावृत्तौ भवेदावृत्तिदीपकम् । ४९ । कुवलयानन्द

समासोक्ति :

समासोक्ति प्रस्तुति विषै अप्रस्तुत को ज्ञान । ६६ । पद्माभरण
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत् । ६१ । कुवल०

इसी प्रकार निदर्सना, व्यतिरेक, सहोक्ति, परिकराङ्कुर, अप्रस्तुतप्रशंसा, प्रस्तुतांकुर, विशेषोक्ति, विचित्र, अधिक, अल्प, विशेष, मालादीपक, यथासंख्य, परिसंख्या, विकल्प, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, प्रहर्षण आदि अलंकारों के लक्षण भी अनूदित ही समझना चाहिए। कुछ उदाहरणों के भी उदाहरण देखिए :

शुद्धापन्हुति :

यह न ससी तो है कहा नभगंगा जलजात । ४५ । पद्माभरण
नायं सुधांशुः, किं तर्हि व्योमगंगासरोरुहम् । २६ । कुवल०

सामान्यनिबंधना :

बड़े प्रबल सौं वैर करि, करत न सोच विचार ।
ते सोवत बारूद पर, पट में बांधि अंगार ।। ११५ ।। पद्माभरण
विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते ।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् । माघ २ ४२ ।

कुवलयानन्दकार ने माघ के इस श्लोक को सामान्यनिबन्धना के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। पद्माकर ने प्रथम पंक्ति का तो ज्यों का त्यों अनुवाद कर दिया है, पर द्वितीय पंक्ति में केवल भावानुवाद रख कर इस उदाहरण को कुछ भिन्न रूप दे दिया है।

काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण का प्रभाव यत्र तत्र पिछले पृष्ठों पर यथास्थान दिखाया जा चुका है, परन्तु पद्माकर पर इन ग्रंथों का प्रभाव तो नगण्य सा ही है। हाँ, कुवलयानन्द से वे पूर्णतया प्रभावित हैं। यह तो एक प्रकार से उनका आधार ग्रंथ ही है।

अन्य कवियों का प्रभाव :

संस्कृत आचार्यों के अतिरिक्त हिन्दी आचार्यों और कवियों का प्रभाव भी पद्माकर पर दिखाई पड़ता है। पद्माकर को प्रभावित करने वाले हिन्दी कवि हैं : जसवन्तसिंह, दूलह कवि, बैरीसाल, बिहारी तथा मतिराम।

१. पद्माकर और जसवन्तसिंह :

घर बाहिर अध ऊरध हु, वहै तिया दरसाति।१६४। पद्माभरण
अन्तर बाहिर दिसि बिदिस, वहै तीय सुखदैन। १३३। भाषा भू०
कैद होत सुक सारिका, मधुरी बानि उचारि। २३३। पद्माभरण
सुक ! यहि मधुरी बानि तें, बंधन लह्यों विसेखि। १६६।
भाषा भू०

२. पद्माकर और दूलह कवि :

सो विभावना जान, कारन बिन कारज जहाँ।
बिन हु सु अंजनदान, कजरारे दृग देखियतु ।। १३८। पद्माभरण
हेतु बिन कारज की उपज विभावना हैं,
अंजन बिना ही नैन ऐन कजरारे हैं। । कवि कुल कंठा-
भरण दूलह।
छला छिगुनिया छोर को, भो भुज भूषन जाइ। १५८। पद्माभरण
राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर, ता
छला में मापि लीजै भई छाम कटि बाम की। । क० कु० कं०
दूलह

३. पद्माकर और बैरीसाल :

सब्दहुँ ते कहुँ अर्थ ते, कहुँ दुहुँ तें उर आनि।
अभिप्राय जिहि भांति जहं, अलंकार सो मानि ।। २
अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक।
अभिप्राय कवि को जहां, वहै मुख्य गन एक ।। ३
जा विधि एकै महल में बहु मन्दिर इक मान।
जो नृप के मन में रुचै, गनियतु वहै प्रधान ।। ४ ।। पद्माभरण
कहुँ पद तें कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुँन ते जोइ।
अभिप्राय जैसो जहां अलंकार त्यों होइ ।।
अलंकार यक ठौर में जो अनेक दरसाहिं।
अभिप्राय कवि को जहां, सो प्रधान तिन माहिं ।।
ज्यों ब्रज में ब्रजवधुन की, निकसति सजी समाज ।।
मन की रुचि जा पर भई, ताहि लखत ब्रजराज ।। भाषाभरण
बैरीसाल।

यद्यपि दोनों कवियों के अन्तिम दोहों की शब्दावली या अर्थ में तनिक भी साम्य नहीं है, तथापि भाव साम्य अवश्य है। इन उपर्युक्त दोहों के अतिरिक्त पद्माकर ने संसृष्टि और शंकर अलंकारों के कतिपय उदाहरण तो भाषाभरण से ही उद्धृत किए हैं।

४. पद्माभरण और बिहारी :

संसृष्टि और शंकर अलंकारों के उदाहरणों में बिहारी के कुछ दोहे पद्माभरण में उद्धृत किए गए हैं, इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरणों पर भी बिहारी की छाप दिखाई पड़ती है। यथा :

अरुन अधर में पीक की लीक न परति लखाइ। २४३। पद्माकर
पान पीक अधरान तें, सखी लखी नहिं जाइ। । बिहारी
समुझो परत सुगन्ध ते, तन केसर को लेप। २४५। पद्माकर
जानी जात सुबास ही, केसर लाई अंग। । बिहारी

५. पद्माकर और मतिराम :

सौहैं सौहै खात कस, तुम न कियो अपराध। २६२। पद्माकर
काहे को सौंहैं हजार करौ तुम, तो कबहूँ अपराध न ठायौ। ४१।
रसराज-मतिराम।
जु सम वाक्य जुग अरथ को, करब एकता रोप।
जो सो पदनि निदर्सना ताहि कहत करि चोप। ८५। पद्माकर
सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहाँ एक आरोप।
वरनत तहां निदर्सना, कविजन मति अति ओप। १४८। ललित
ललाम-मतिराम।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद्माकर के ऊपर जहाँ एक ओर साहित्य-दर्पण, काव्य प्रकाश और कुवलयानन्द जैसे संस्कृत ग्रंथों का प्रभाव है, वहाँ दूसरी ओर वे भाषाभूषण, कवि कुल कंठाभरण, भाषाभरण, बिहारीं सतसई आदि हिन्दी ग्रंथों से भी प्रभावित हैं। परन्तु यह स्पष्ट और निश्चित है कि संस्कृत में कुवलयानन्द और हिन्दी में भाषाभूषण तथा भाषाभरण उनके आधार ग्रन्थ हैं। इन्हीं को आधार बनाकर उन्होंने अपने ग्रन्थ पद्माभरण की रचना की है।

मूल्यांकन :

परम्परा पालन की प्रेरणा से लिखे जाने के कारण पद्माभरण का काव्य शास्त्र की दृष्टि से कोई भी महत्व नहीं है, कवित्व की दृष्टि से भले ही वह विशेषता रखता हो। बात यह है कि रीतिकाल में रीति ग्रन्थ लिखे बिना कोई कवि नहीं

बन पाता था और न उसको राज्याश्रय ही मिल पाता था। इसी कारण पद्माकर को भी यह प्रयास करना पड़ा और इस प्रयास में वे सफल भी हुए, परन्तु उसमें न तो कवि ने कोई मौलिक विवेचन ही किया है और न किसी सिद्धांत का समर्थन या प्रतिपादन ही। परम्परा का अनुसरण मात्र हीं उस ग्रन्थ से प्रगट होता है। पर इस ग्रंथ में एक विशेषता अवश्य है। लक्षण और उदाहरणों का जैसा सुन्दर समन्वय इस ग्रन्थ में देखने को मिलता है वैसा इसके पूर्ववर्ती लक्षण ग्रन्थों में बहुत ही कम पाया जाता है। कवि एक अलंकार का लक्षण और उसके भेद एक ही दोहे में दे देता है, फिर उसके बाद एक एक दोहे में प्रत्येक भेद का उदाहरण प्रस्तुत कर देता है। ऐसा करने से कहीं कोई शिथिलता नहीं आने पाई। भेदों के उदाहरणों में परस्पर कोई गड़बड़ी नहीं होने पाई। अतः इस समन्वय के फलस्वरूप यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी बन गया।

काव्योदय—लीलाधर कवि

(वि० सं० १८७४)

नरवरनृप गजसिंह की आज्ञा से[1] लीलाधर कवि ने 'काव्योदय'[2] नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना वि० सं० १८७४ में की थी। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति सं० २११८।१३४६ साहित्य सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय में प्राप्त है। ग्रन्थ में कवि ने अपने शब्दों में तो रचना काल नहीं दिया है, पर ग्रन्थ के अन्त में लिखा है "चैत्र शुदी ६ संवत् १८७४"। मुकाम बलवंतनगर। पर यह कहना सम्भव नहीं है कि यह ग्रन्थ का रचनाकाल है अथवा लिपिकाल। परन्तु लिपिकार का नाम नहीं है। अतः सम्भव है कवि ने स्वंय बलवंतनगर में इसी समय इस ग्रन्थ की समाप्ति की हो।

ग्रन्थ के विषय में कवि लिखता है कि यदि कोई मूढ़ इस ग्रन्थ को न समझे तो यह ग्रन्थ का दोष नहीं है :

मूढ़ न समुझै ग्रन्थ तो, ग्रन्थ न दोष समात।
स्योरा हरि पूजै न तो, तौ हर महत न जात॥ ४६५॥

इस हस्तलिखित ग्रन्थ में कुल ५०×२+१ अर्थात् १०१ पृष्ठ हैं और ४६५ कुल छन्द हैं। इसमें उपमा से लेकर हेतु तक १०० अर्थालंकार तथा रसवत् प्रेय,

१. नरवर नृप गजसिंह को, श्रीमुख किए निदेस।
काव्योदय हाजिर भयो, भूप ग्रन्थ शुभ देस॥ ४६३॥ काव्योदय
२. काव्योदय जाहिर कियो, कवि लीलाधर ग्रन्थ।
कूरमसीं गजसिंह नृप, जस विचार को पंथ॥ ४६४॥

ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबल-इन सात को मिलाकर कुल १०७ अलंकारों का विवेचन हुआ है। प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, संसृष्टि और संकर तथा शब्दालंकारों की कोई चर्चा नहीं की गई है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गजानन की स्तुति के रूप में मंगलाचरण है। इसके पश्चात् कवि ने ग्रन्थ रचना का उल्लेख इन शब्दों में किया है :

परवीनन के बोध कौ, लख प्राचीन विचार।
कहौ लक्ष लक्षन सहित सब अर्थालंकार ॥ २ ॥ का०

इन उपर्युक्त पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कवि ने प्रवीण कवियों के और प्राचीनों के विचार को देखकर ही इस ग्रन्थ की रचना की है।

यहां कवि केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन करना चाहता है इस कारण इस ग्रन्थ में शब्दालंकारों को छोड़ दिया गया है।

अलंकारों का वर्णन उपमालंकार से ही प्रारम्भ होता है। पूर्णोपमा का लक्षण और उदाहरण देने के पश्चात् कवि ने उपमा के चारों अंगों का विवेचन किया है और वाचक शब्दों की गणना भी कराई है। यथा :

सी से सौ लौ बराबर समसर जिम तिम काम।
तुल्य अर्थ सूचक सबै, कहिए वाचक नाम ॥ ११ ॥

यहां लुप्तोपमा के ग्यारह भेद बताये गये हैं, और प्रत्येक के उदाहरण भी दिए गए हैं।

इन अलंकारों की संख्या, नाम, भेद और क्रम सभी कुवलयानन्द के ही समान हैं। कुवलयानन्द में 'लुप्तोपमा' के आठ भेद हैं, जबकि यहां ग्यारह। साथ ही 'मालोमालंकार' का यहाँ विशेष वर्णन है। अन्य सभी अलंकारों के भेद कुवलयानन्द की ही भांति हैं। 'अप्रस्तुत प्रशंसा' के भी पांच भेद यहाँ बताए गए हैं। 'अपन्हुति' और 'अतिशयोक्ति' के भेदों का क्रम भी आधार ग्रन्थ के ही समान है। क्रम में एक स्थल पर थोड़ा व्यतिक्रम अवश्य है। यहाँ 'परिणाम' अलंकार 'उल्लेख' के बाद आया है जबकि कुवलयानन्द में 'उल्लेख' के पहले आता है। इसके अतिरिक्त क्रम में और कहीं भी कोई व्यतिक्रम नहीं पाया जाता।

अलंकारों के लक्षण प्रायः दोहों में ही दिए गए हैं, पर उदाहरण दंडक घनाक्षरी तथा पादाकुलक छन्दों में। एक लक्षण के बाद उसका उदाहरण है, कहीं कहीं दो उदाहरण भी पाये जाते हैं। जहां अलंकारों के कई भेद हैं वहां एक भेद के लक्षण और उदाहरण पृथक् छन्दों में एक साथ दिए गये हैं। फिर तब दूसरे भेद का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतया

स्पष्ट और सरल हैं। उदाहरणों में प्राय: सर्वत्र अपने आश्रयदाता का गुणगान है। पर उनमें शृंगारिक अश्लीलता नहीं है।

लक्षण सभी कुवलयानन्द के आधार पर हैं। उन्हीं की छाया में रचे गये हैं। यहाँ दो एक उदाहरण दिये जाते हैं:

छेकापन्हुति : संका कीजै आन की, सांच वस्तु छपि जाइ।
छेकापन्हुति कहत हैं, ताही को कविराइ ॥ ६१ ॥ काव्योदय
छेकापन्हुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिन्हवे ॥ ३० ॥ कुवल०

पर्याय : बारीसिर एक वस्तु के, आश्रय जहां अनेक। २६८। का०
पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेक संश्रय:। ११०। कुवल०

परन्तु उदाहरण सभी कविके अपने हैं जिनमें कवि की कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। उदाहरणों में अलंकारों का चमत्कार विशेषरूप से दर्शनीय है:

अजर के अमर के भूनर के किन्नर के,
दुन्नर के करके चलन में दिवैंया हैं।
पाप के सराप के सताप के विलाप के,
कलाप के हरैया पूजा जाप के जनैया हैं।
चक्री चतुरानन चंडीस चंडि का चकोर,
चाहै लीलाधर भालचन्द की जुन्हैया हैं।
ठांनन को मंगल गजानन को मानन को,
भानन को विश्वन षडानन के भैया हैं॥

उदाहरणों में प्राय: सर्वत्र कवि ने अपना नाम दिया है।

अन्त में, यह ग्रन्थ तत्कालीन परम्परा का पालन करने तथा अपने आश्रयदाता की प्रशंसा के हेतु ही लिखा जान पड़ता है। अतः अलंकार चमत्कार प्रेमी साहित्यकों के लिये यह ग्रन्थ कवित्व की दृष्टि से भले ही महत्व का जान पड़े, परन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि से वह एक साधारण कोटि का ही ग्रन्थ माना जायगा।



भारती भूषण : गिरिधर दास

(वि० स० १८९०)

'भारती भूषण[1]' की रचना श्री गिरिधरदास ने वि० सं० १८९० में की थी। यह दोहा छन्द में लिखा हुआ अलंकार विषयक ग्रन्थ है। नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में प्राप्त इस मुद्रित ग्रन्थ में कुल ३६ पृष्ठ और ३७८ छन्द हैं। अन्त में "इति श्री नन्दनन्दनपदारविन्द मिलिंद धनाधीश श्री बाबू गिरिधर दास कवीश्वर विरचितं भारतिभूषणमलंकारं समाप्तम्" लिखकर यह विषय समाप्त कर दिया गया है, परन्तु उसी के बाद एक दोहा, जो नायिका भेद से सम्बन्ध रखता है, और मिलता है जो निम्नलिखित है :

क्रियाविदग्धा अथवा खंडिता :

वैंगन कर लै कामिनी, कहति चितै घनश्याम।
भर्ता करिहों तुमहिं हौं, जो चलिहौ मम धाम॥

प्रारम्भ के दो दोहों में मंगलाचरण करने के पश्चात् कवि अलंकार वर्णन की प्रतिज्ञा करता है[2], और कहता है कि यह 'भारती भूषण' सुन्दर वर्ण (अक्षर) रूपी नगों से जटित है, सतकवि लोग इसे स्नेहपूर्वक पढ़ें गुनें, सीखें और सुनें। इसके पश्चात् पांचवें दोहे से विषय का प्रतिपादन प्रारम्भ हो जाता है। सर्वप्रथम 'उपमालंकार' का वर्णन है, फिर उपमान आदि के भी लक्षण दिए गए हैं। इसके बाद कुवलयानन्द के क्रमानुसार ही अन्य अलंकारों का वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में १०० अर्थालंकारों तथा 'अनुप्रास' और 'यमक' दो शब्दालंकारों का उनके भेदों सहित निरूपण हुआ है। गिरिधरदास ने इस रचना में जहाँ कुवलयानन्द का अनुसरण किया है, वहां अपनी स्वतंत्र बुद्धि से भी काम लिया है। अनुप्रास वर्णन में उन्होंने 'श्रुति' और 'अन्त्य' इन दो भेदों को भी गिनाया है, जिनका वर्णन अन्य हिन्दी कवियों ने नहीं किया है। इसी प्रकार उन्होंने उपमावाचक शब्दों के भी दो वर्ग किए हैं मूल और मूलेतर। मूल में लों, सो, से, सी, सीं, सरिस, सम, समान, इव, तूल, ऐसो, ऐसे, शब्द रक्खे गये हैं[3], और मूलेतर के अन्तर्गत जिमि,

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा काशी के पुस्तकालय से प्राप्त लीथो टाइप में मुद्रित प्रति के आधार पर।

२. सुन्दर वरन नगन रचित, भारति भूषण एहु।
पढ़हु गुनहु सीखहु सुनहु, सत कवि सहित सनेहु॥ ४॥ भा० भू०

३. लौं सों से सी सीं सरिस, सम समान इव तूल।
ऐसो एसे ए सकल, उपमावाचक मूल॥ १३॥

तिमि, जैसौई, तैसौई, जथा, तथा, ज्यों और त्यों बताए गए हैं[1]। संस्कृत ग्रन्थों (काव्यादर्श) में भी इन शब्दों की गणना की गई है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी श्रौती और आर्थी उपमाओं का भेद करने के लिए इन वाचक शब्दों का कथन किया है पर गिरिधरदास के इन दो प्रकार के मूल एवं अन्य वाचक शब्दों का अभिप्राय श्रौती या आर्थी वाचक मात्र से नहीं है। जो मूलवाचक हैं वे सादृश्य का स्वाभाविक संकेत करते हैं; दूसरे वाचक शब्दों में वैसा नहीं है, क्योंकि उनका प्रयोग उपमा से भिन्न दूसरे सादृश्य मूलक अलंकारों में भी होता है।

अलंकारों के नाम, भेद और क्रम कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर हैं। पर "भारती-भूषण" में 'मालोपमा' और 'रसनोपमा' इन दो और अलंकारों का भी वर्णन हुआ है। कुवलयानन्द में ये दोनों अलंकार नहीं हैं। भेदों में वैसे तो कुवलयानन्द का पूरा अनुकरण है ही, यहाँ तक कि वृत्ति तक को उन्होंने नहीं छोड़ा है, पर एक स्थल पर इस विषय में भी उन्होंने अपनी सूझ का परिचय दिया है। अपन्हुति के ६ भेद कुवलयानन्द में हैं, पर यहां 'हेतुपर्यस्तापन्हुति' एक भेद और दिखाया गया है जो हेतु और पर्यस्त नामक अपन्हुतियों के योग से बना लिया गया है। उसका लक्षण इस प्रकार है :

पर्यस्तापन्हुति विसें, हेतु सहित जो कोई।
धर्म छपावैं हेतु जुत, वही नाम तब होई ॥ ७० ॥ भार० भू०

कुवलयान्नद की वृत्ति के अनुसार यहां भी 'व्यतिरेक' के न्यून, अधिक और सम तीन भेद हैं, पर 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के भेद क्यों छोड़ दिये गए ? यह समझ में नहीं आया। हो सकता है 'व्यतिरेक' के यह भेद उन्होंने किसी ऐसे पूर्ववर्ती हिन्दी कवि के ग्रहण किए हों जिसने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' के भेद तो नहीं दिए हैं, पर 'व्यतिरेक' के भेदों पर प्रकाश डाला है।

अर्थालंकारों के लक्षण कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं। यद्यपि इन लक्षणों में कसावट नहीं है, परन्तु हैं बड़े स्पष्ट और सुगम। उदाहरण सुन्दर और सरस हैं। लक्षणों और उदाहरणों में पूर्ण संगति है। एक लक्षण के बाद ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। जहां किसी अलंकार के कई भेद हैं, वहां भी एक भेद का लक्षण और उदाहरण पृथक् दोहों में दिए गिए हैं, फिर दूसरे भेद का लक्षण और उदाहरण रक्खा गया है। इस प्रकार इसी क्रम से लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। सभी लक्षण और उदाहरण दोहा छन्द में ही हैं, दोहा के अतिरिक्त यहां अन्य किसी

---

१. जिमि तिमि जै सोई तै सोई, जथा तथा ज्यों त्योंहि।
एह उपमावाचकहि दोय मिले ते होंहि ॥

छन्द का प्रयोग नहीं हुआ है। भाषा भूषण की भांति यहाँ एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण नहीं हैं, वरन् पृथक् पृथक् दोहों में उनका वर्णन है। इन उदाहरणों में जसवन्त सिंह, बिहारी आदि कवियों का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है :

कहा करति निज रूप को, गरब गहे अविवेक।
रमा उमा सचि सारदा, तो सी तीय अनेक ॥ ४१ भार० भू०

मिलाइए: १ गर्व करति मुख को कहा, नीके चन्दहिं जोय। २५। चम० चन्द्रिका

२ नाहक तू निज रूप को, क्यों तिय करति दिमाग।
देख सु द्युतिकर उर्वशी, तोसी हे बड़ भाग ॥ २६। चम० चन्द्रिका

अर्थालंकार प्रकरण के अन्त में 'इत्यर्थालंकार समाप्त:' लिखकर इसे समाप्त कर दिया गया है। इसके पश्चात् 'अथ शब्दालंकार' लिखकर शब्दालंकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है।

शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास और यमक का ही वर्णन किया गया है। अनुप्रास का पहले लक्षण और उदाहरण है, फिर उसके भेदों के लक्षण और उदाहरण आते हैं। अनुप्रास के छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य और लाट ये भेद बताए गए हैं। फिर जमक (यमक) और उसके अखंड तथा खंड दो भेदों का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार शब्दालंकारों का वर्णन संक्षेप में समाप्त कर दिया गया है।

गिरिधरदास का 'भारता भूषण' निश्चय ही कुवलयानन्द के ही अनुसरण पर हैं। इसके अतिरिक्त लुप्तोपमा के आठ भेद, तथा उत्तरालंकार का वर्णन आदि बातें हमारी उपर्युक्त बात की पुष्टि करती हैं। अन्य कवियों ने तो उत्तरालंकार का गूढ़ोत्तर नाम से ही लक्षण दिया है। पर भारती भूषण में कुवलयानन्द की ही भांति 'उत्तरालंकार' शीर्षक रखकर उसका लक्षण दिया गया है। पर चित्रालंकार का वर्णन स्वतंत्र अलंकार मानकर ही किया गया है।

लक्षण भी प्राय: चन्द्रालोक और कुवलयानन्द से प्रभावित हैं। कहीं कहीं पर तो वे अनुवादमात्र ही हैं। कतिपय उदाहरण देखिये :

उपमा :—

सो उपमा जंह वरनिए, उपमेय रु उपमान।
समताई सोभित सदा, इमि कवि कहहिं सुजान ॥ ५। भार० भू०
उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मी रुल्लसति द्वयो:। ५। ११ चन्द्रा०

उल्लेख :—

एकहि बहु बहुविधि लखें, इकहि बरनि बहु रीति ।
उल्लेखालंकृति उभय कवि बरनहिं करि प्रीति ।। ५७ ।। भार०भू०
बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते । २२ ।। कुवल०

शुद्धापन्हुति :—

धर्म दुरावे और ही करि आरोप सुजान ।
शुद्धापन्हुति कहहिं तेहिं ……………।। ६४ ।। भार०भू०
शुद्धापन्हुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिन्हवः ।। २६ । कुवल०

ऐसे ही और भी अनेक लक्षण उद्धृत किए जा सकते हैं ।

मूल्यांकन:—गिरिधरदास जी ने यद्यपि भारती भूषण की रचना में केवल परम्परा का पालन ही किया है, तथापि कवि ने कुछ अपनी स्वतंत्रता से भी काम लिया है । 'हेतु पर्यस्तापन्हुति' नामक अपन्हुति के नए भेद की कल्पना, उपमा के दो प्रकार के वाचक शब्दों को गिनाना, तथा अनुप्रास में 'श्रुति' और 'अन्त्य' नामक भेदों का वर्णन करना आदि बातें इस ग्रन्थ की नवीनता, कवि के विस्तृत अध्ययन एवं स्वतंत्र सूझ की परिचायक हैं ।

साहित्य सुधानिधि : सरदार कवि

(वि० सं० १६०२ के लगभग)

साहित्य सुधानिधि की रचना सरदार कवि ने की थी[1] । इसकी एक खंडित प्रति सा० स० प्रयाग के पुस्तकालय में प्राप्त है जिसकी संख्या है १६१७।३१३१ । इस प्रति में कुल १३६ पृष्ठ हैं । इस ग्रन्थ में काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डाला गया है । प्राप्त पुस्तक के पृष्ठों में पाँच वृतान्त हैं । प्रथम वृतान्त में १४ पदों में काव्यलक्षण, प्रयोजन, कारण तथा काव्य के भेदों की चर्चा की गई है । दूसरे वृतान्त में ४५ पदों में शब्द अर्थ निर्णय किया गया है । तीसरे और चौथे वृतान्तों में ध्वनि, रस, भाव, भावोदय, भावशांति, रसाभास, भावाभास आदि का, तथा पांचवें वृतान्त में अलंकार गुण दोष और चित्रालंकार का विवेचन हुआ है । अलंकारों के पश्चात् दोष गुण आदि का विवेचन आ जाता है, पर वृतान्तों का यहाँ विभाजन

१. (i) हनुमत सिय सिय पिय चरित, सिय पिय कर कपि साथ ।
बसहु सदा सरदार उर, ललित लखन के साथ ।। ३ ।।
(ii) सुमरि अंजनी नंदन, पद सुखरूप ।
किय साहित सुधानिधि अमल अनूप ।। ४ ।।

नहीं है। 'इति अलंकार वृतान्त संपूर्न' के पश्चात् वृतान्त समाप्त होना चाहिये था, पर ऐसा न होकर 'अथ दोष निरूपन' कह कर दोषों का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में राम लक्षमण आदि की स्तुति है। इसके पश्चात् प्रश्नोत्तरों द्वारा शृंगार को रस राज सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। फिर यह बताया गया है कि किस रस के साथ कौन सा रस रहता है :

सुर संग तैं सुरराज, औ नर संग तें नरराज।
नागराज तैं नाग के संगै, नाग समाज ॥ २२ ॥
ऐसे रसपति के रहत, सब रस कवि सरदार।
संचारी तैंतीस में कीजत, बुधि विचार ॥ २३ ॥
करुना रस संग तीन ही, तीन हास के संग।
रौद्रौ में पुन तीन कहि, बरनत बुद्धि उतंग ॥ २४ ॥
संचारी तैंतीस ना, काहू रस के होत।
सब मिलि रस सिंगार में, अद्भूत करत उदोत ॥ २५ ॥

तैंतीस संचारी भावों को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इन उदाहरणों में बिहारी, मंडन, मतिराम, कवि प्रिया आदि के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं :—

बिहारी :—वैद वधू हंसि भेद सों, रही नाह मुख चाह।

मंडन :— रति हू तें गई, मति हू तें गई, पत हू तें गई, पति हू तें गई।

मतिराम:—कहाँ रहौ आयो नहीं, पीय पहर जुग मैन।
अध निकरे अखरा कढ़े बाल बदन तैं बैन।

कुलपति :—देह धरी पर कार्जहि कों इत्यादि रस रहस्ये।

काव्य लक्षण :—सरदार कवि ने काव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है:-

सब्द अर्थ अद्भुत अमल, श्रवन सुनत सुख देय॥
सो कवित्त जो मित्र को चित्त वित्त हरि लेय ॥ २-६ ॥ सा०सु०नि०

काव्य के कारण :

कहूं सक्ति वितपत्य कहुँ, कहुँ अभ्यास अनूप।
कारन तीन कवित्त के, कहत सुकवि मत भूप ॥ ८ ॥

ये तीनों कारण काव्य प्रकाश के समान ही हैं। वहाँ भी :—

शक्ति, निपुणता (व्युत्पत्ति) और अभ्यास ही काव्य के हेतु बताए गए

हैं।[1] काव्य के प्रयोजन यहाँ साहित्य दर्पण से ग्रहण किए गए जान पड़ते हैं। यथाहि :—

चार पदारथ हाथ में ताके रहत हमेस।
जो कवित्त के वित्त कों जानत कर चित वेस ॥ ७ ॥ सा० सु०
चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ॥ १-२ ॥ सा द०

पुन: काव्य के-विंग प्रधान (व्यंग्य प्रधान) उत्तम, अरु विंगिवाच्य (व्यंग्य) वाच्य) मध्यम, अरु वाच्यार्थ अधम तीन भेद किए गए। ये भेद भी काव्य प्रकाश के ही आधार पर हैं।

इसके पश्चात् दूसरे, तीसरे और चौथे वृत्तान्तों में शब्द, अर्थ, ध्वनि एवं रस आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है। इस निरूपण का आधार भी काव्य प्रकाश ही है।

पुन: पांचवे वृतान्त में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। इस वृतान्त का प्रारम्भ 'अथ अलंकार वर्नन' के साथ होता है। कवि अलंकार वर्णन की प्रतिज्ञा इन शब्दों में करता है :

सब्द अर्थ बरनन कियो मति अनुहार अनूप।
अब भूषन रचना करत, सुमर कौसला भूप ॥ ५-१ ॥ सा०सु०नि०

शब्दालंकारों में पहले अनुप्रास और उसके दो भेद छेक एवं वृत्ति के लक्षण उदाहरण दिए गए हैं। वृत्यनुप्रासों की तीनों वृत्तियों की भी चर्चा की गई है। इसके बाद यमक का वर्णन करते हुए अन्त में कवि कहता है :

चरन जमक अध चरन पुनि ऊरध अर्ध मकार।
कहत लच्छ लच्छन सबै होत ग्रंथ विस्तार ॥ ५-१२ ॥ सा०सु०नि०

विस्तारभय से यहाँ 'यमक' का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है।

यहाँ शब्दालंकार में सरदार कवि ने 'प्रत्यक्ष' और 'शब्द' प्रमाणों को भी ले लिया है। प्रत्यक्ष और शब्द प्रमाण के तो उदाहरण दे दिए गए हैं, पर 'अर्थप्रमाण' तथा असंभव प्रमाणों को "नाम लक्षण ते जान लीजै" कह दिया गया है। फिर "इति सब्दालंकार प्रमान वरनन" के साथ इस प्रकरण को समाप्त कर दिया गया है। परन्तु प्रमाण अलंकारों को शब्दालंकार के अन्तर्गत नहीं माना गया है, वरन् उनके साथ विवेचन भर किया गया है, यह बात उपर्युक्त पंक्ति से स्पष्ट हो जाती है।

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ १-३ ॥ काव्य प्र०

अर्थालंकार

पहले अर्थालंकार का लक्षण कवि ने इस प्रकार किया है :

जुदा रहे रस विंग तें अर्थ चमत्कृत होइ।
ताहि अलंकृत कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ ।।

इस लक्षण से अलंकार विषयक कवि की धारणा का अनुमान किया जा सकता है कि वह रस और व्यंग्य को अधिक महत्व देता है, अलंकार को नहीं। इसी कारण अलंकार को रस और व्यंग्य से जुदा कहा गया है। वह तो केवल अर्थ चमत्कृत करने वाला है ।

चूंकि उपमान और उपमेय अलंकारों की खान हैं, इस कारण सर्वप्रथम उनका ही वर्णन किया जाता है :

उपमान रूप में है अलंकार की खान।
तातें इनके प्रथम ही बरनत रूप सुजान ।।

इस प्रकार यह वर्णन उपमालंकार से प्रारम्भ होता है जिसका तात्पर्य है कि उपमालंकार कवि की दृष्टि में महत्वपूर्ण है ।

इस वर्णन में १०० अर्थालंकारों की चर्चा है। 'उत्प्रक्षालंकार' का वर्णन यहाँ बड़े विस्तार के साथ हुआ है। इन अलंकारों की संख्या, नाम, भेद और क्रम सभी कुवलयानन्द के अनुकरण पर हैं। इनमें कोई भी व्यतिक्रम नहीं हुआ है। केवल 'अपन्हुति' के भेदों में यहाँ 'हेतुपर्यस्तापन्हुति' एक भेद और गिनाया गया है जिसका लक्षण और उदाहरण है :

जुक्त सहित जहं बरनिए, परजस्तज सुख मान।
है ता पर जस्तन धरो, तहां तास सुख जान ।।
उदाहरण : बान न तीखे जानिए, जान अनोखे नैन ।
बान लगे तें होत दुख, ए दुख दाइक सैन ।।

'अप्रस्तुत प्रशंसा' के उन पांच भेदों की भी चर्चा यहां हुई है जो कुवलयानन्द की वृत्ति में दिए गए हैं। 'लुप्तोपमा' के यहां कुल तीन भेद हैं।

अलंकारों के लक्षण, अधिकतर दोहा छन्द में और कहीं कहीं वरवै छन्द में भी पाए जाते हैं। प्रायः एक दोहे में एक लक्षण दिया गया है, पर कहीं कहीं दो अलंकारों के लक्षण भी एक साथ दे दिए गये हैं। देखो 'सापन्हवातिशयोक्ति' और 'रूपकातिशयोक्ति'। यथा :

जहां अवर्न है वर्नना, रूपकाति तहं होइ।
वही पहुनत सौं मिले, सापह्नुत कवि लोइ॥

पर उनके उदाहरण अलंकारों के शीर्षकों के साथ दिए गए हैं। लक्षण अधिकतर स्पष्ट और सरल हैं, पर कहीं कहीं अस्पष्टता भी आ गई है। स्मरण भ्रम, सन्देह के लक्षण उनके नामों में ही बताए गये हैं। ये सभी लक्षण कुवलयानन्द के अनुवाद से ही लगते हैं। उनके दो चार उदाहरण यहां दिए जाते हैं :

समासोक्ति : अप्रस्तुत जहं फुरत है, प्रस्तुत वरन नमाज।
समसोक्ति तासों कहत........................॥ सा० सु० नि०
समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्यचेत्। ६१। कुवल०

काव्यलिंग : जहां जुगत सो करत है, अर्थ समर्थन हेर।
ताही को कवि कहत हैं, काव्यलिंग मति मेर॥ सा० सु० नि०
समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम्॥ १२१॥ कुवल०

जहां अलंकारों के लक्षणों में कुछ समानता होती है वहां गद्य में उनका स्पष्टीकरण कर दिया गया है। यथा :

"छेकापन्हुत में आकार दुरावत, व्याजोक्ति में आन की उक्ति" इस प्रकार यहां छेकापन्हुति और व्याजोक्ति का अन्तर स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी किया गया है।

उदाहरण दोहा, वरवै, कवित्त और सवैयों में दिए गए हैं। उदाहरणों में अधिकतर राम स्तुति की गई है, पर कुछ उदाहरण शृंगार से भी सम्बन्ध रखते हैं। यथा :—

आक्षेप : हौं न कहत चालो सजन, तुम बिन व्याकुल बाल।
परी सेज तलफत खरी, जरी विरह की ज्वाल॥

उदाहरणों के नीचे अलंकार का स्पष्टीकरण करने के लिए स्थल स्थल पर गद्य में वार्ता दी गई है। उदाहरणों को टीका रूप में समझाने का प्रयास किया गया है। प्रतीप, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के उदाहरणों का स्पष्टीकरण किया गया है।

उदाहरण प्रायः कवि के अपने हैं, पर कहीं कहीं दूसरे कवियों के पद भी उदाहरण के रूप में उद्धृत किए गए हैं, हाँ; उनके साथ कवि का नामोल्लेख अवश्य कर दिया गया है। यथाहि :

सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा :

मानहुं विधि तन अच्छछवि, स्वच्छ राखवे काज ।
दृग पग पौंछन को करे, भूषन पायंदाज ।। विहारी

अन्त में हेतु अलंकार के पश्चात् कवि अन्य अर्थालंकारों की भी विवेचना करता है ।

अलंकार सब अर्थ के, तिनमें हैं द्वै और ।
चार भांति शंकर सु, तौ है संसृष्ट सुठौर ।।
क्षीर नीर से बरनिए, तहं संकर कविराज ।
तिल तंदुल संसृष्ट के, बरनत हैं सुख साज ।।

इन अलंकारों के लक्षण पूर्ववर्ती हिन्दी कवियों के आधार पर ही किए गए जान पड़ते हैं ।

इस प्रकार सरदार कवि ने अपने इस ग्रन्थ में काव्य के विविध अंगों का बहुत ही मनोहर और विस्तृत वर्णन किया है । उसका काव्य लक्षण, ध्वनि आदि का भाग 'काव्य प्रकाश' पर आधारित है और कहीं कहीं 'साहित्यदर्पण' से भी सहायता ली गई है । यह हम प्रारम्भ में दिखा चुके हैं । अलंकार वर्णन में अर्थालंकार निश्चय ही कुवलयानन्द को आधार मानकर वर्णित किए गए हैं ।

साहित्यसुधानिधि वास्तव में काव्यशास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । विषय को हृदयंगम कराने के लिये लेखक ने पूरा प्रयास किया है । आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कम मूल्य नहीं आंका जा सकता । काव्य के दशांगों का विवेचन होने से यह ग्रन्थ हिन्दी काव्य शास्त्र में निश्चय ही अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यद्यपि इसकी हस्तलिखित प्रति अपूर्ण है, तथापि इसकी खोज करके इसे प्रकाश में लाकर इस ग्रन्थ का उद्धार होना चाहिए ।

रघुवीर जसायन—जगन्नाथ

बून्दी नरेश रघुवीरसिंह के आश्रय में सुकवि ग्यारसीराम के सुपुत्र जगन्नाथ ने 'रघुवीरजसायन की रचना बून्दी नरेश को भेंट करने के लिये की थी। ग्रन्थ में रचना काल नहीं दिया गया है, पर लिपिकाल अगहन सुदी १३ सं० १६६२ अवश्य है। बजरंगलाल शर्मा इसके लिपिकार हैं। इतिहासकार इसके रचनाकाल के विषय में मूक हैं।

यह ग्रन्थ ३३८ छन्दों में पूर्ण हुआ है। इसमें अर्थालंकारों और शब्दालंकारों का वर्णन है। शब्दालंकारों का वर्णन अन्त में हुआ है, जिसके अन्तर्गत छेक, लाट, यमक और उपनागरिका आदि वृत्तियों की संक्षेप में चर्चा की गई है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण, नगरवर्णन, आशीर्वाद, पितृस्तुति, गुरुस्तुति सम्बन्धी बारह पद हैं, तदनन्तर उपमा से अर्थालंकारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इसमें लगभग १०० अर्थालंकार हैं जो सभी कुवलयानन्द से मिलते जुलते हैं।

अलंकारों के नाम, भेद, क्रम और संख्या की दृष्टि से यह ग्रंथ कुवलयानन्द के आधार पर निर्मित है। लक्षण भी उसी के अनुवाद से जान पड़ते हैं। उदाहरण कवि के अपने हैं जो आश्रयदाता की प्रशंसा से सम्बन्ध रखते हैं। जिस प्रकार भूषण ने अपने ग्रंथ 'शिवराज भूषण' में शिवाजी का यशोगान किया था, उसी प्रकार यहाँ भी जगन्नाथ ने अपने आश्रयदाता का यशोगान उदाहरणों के रूप में किया है।

लक्षण प्रायः दोहों में हैं और उदाहरण दोहों तथा कवित्त सवैयों में हैं। लक्षण कुवलयानन्द की छाया में ही लिखे गए हैं, अथवा एक प्रकार से वे उसके छायानुवाद ही हैं :

परिवृत्ति :—थौरो दै लै बहुत जहं, पलटो सो परिमान।
जगंनाथ वर्नन करै, परिवृत लक्षण जान।। २१६ ।। रघु० ज०
परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।। ११२ ।। कुवल०

---

१ साहित्य सम्मेलन प्रयाग के संग्रहालय से प्राप्त हस्तलिखित प्रति सं० १५८० । ३०३७

२ बून्दीपति नृप राम को लहि अनुसासन खास।
भाषा कविता करन में सीख्यो इनके पास।। १२।।
संजुत सुवरन गुन सहित, अर्थ रचौं सुभ साज।
श्री रघुवीर भुवाल की, नजर करन के काज।। ७।।

प्रत्यनीक :—जानि सत्रु को सबल अति, दुख दै तिहि के पक्ष ।
प्रत्यनीक ताकौं कहत.............................। २३१ ।। रघु० ज०
प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।। ११६ ।। कुवल०

लक्षणों और उदाहरणों में अन्विति है अवश्य पर कहीं कहीं चार चार अलंकारों के लक्षण एक साथ पृथक् दोहों में कहे गए हैं, तब फिर उनके प्रत्येक के उदाहरण दिये गए हैं। (जैसे निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि और हेतु) पर उदाहरण के साथ उस अलंकार का नाम भी दे दिया गया है। इस कारण समझने में कठिनाई नहीं पड़ पाती।

संक्षेप में यह ग्रंथ काव्य शास्त्र की दृष्टि से बहुत ही साधारण है। उसमें कोई नवीनता नहीं है—न तो वर्णन की दृष्टि से और न शैली की दृष्टि से ही। वहाँ तो केवल परम्परा का पालनमात्र ही दृष्टिगोचर होता है।



४—निष्कर्ष

क्या हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थ केशवदास से प्रभावित हैं

इसमें सन्देह नहीं कि केशवदास जी ही हिन्दी रीति परम्परा के सर्वप्रथम और प्रमुख आचार्य हैं। क्योंकि उनसे पहले के रीति ग्रन्थों में शास्त्रीय पद्धति का ही अभाव नहीं है वरन् उनमें से किसी भी ग्रन्थ के द्वारा संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं मिलता है। यह कार्य आचार्य केशव ने ही किया है। इनके बाद ही हमारी रीति परम्परा का विकास होता है, अतः यह धारणा होने की अधिक संभावना है कि केशव के परवर्ती रीति-ग्रन्थ उनसे प्रभावित होने चाहियें, पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं।

केशवदास के उपरान्त तत्काल ही हिन्दी में रीतिग्रन्थों का सृजन प्रारम्भ नहीं हुआ। रीति-ग्रन्थों की परम्परा का प्रारम्भ तो केशवदास की 'कविप्रिया' के पचास वर्ष पीछे हुआ और यह परम्परा भी केशव के आदर्श को लेकर नहीं चली, प्रत्युत एक भिन्न आदर्श अपना कर चली[१]।

केशवदास के दोनों ग्रंथ 'रसिक प्रिया' और 'कवि प्रिया' हिन्दी कवियों के लिए सम्मान की वस्तु रहे, और परवर्ती कवियों ने इन ग्रन्थों को पढ़कर ही कुछ लिखने का साहस किया। किसी भी आचार्य और कवि की योग्यता तभी प्रमाणित होती थी जब वह यह प्रकट कर देता था कि उसने केशव के इन दोनों ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया है[२]। इतना होने पर भी परवर्ती हिन्दी ग्रंथ केशवदास से प्रभावित नहीं कहे जा सकते, यह एक वास्तविक तथ्य है।

केशवदास एक चमत्कारवादी और अलंकार सिद्धांत पर श्रद्धा रखने वाले कवि हैं। उनके अनुसार अलंकार के बिना कविता सुशोभित हो ही नहीं सकती उनका कथन है :—

जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजही, कविता बनिता मित्त॥

अपनी इस मनोवृत्ति के अनुसार उन्होंने प्राचीन आलंकारिक भामह, उद्भट और दण्डी आदि संस्कृत आचार्यों का अनुसरण किया जो रस, रीति आदि सभी को अलंकार के ही अन्तर्गत मानते थे। इस समय तक अलंकार और अलंकार्य का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया था, जिस कारण इन आचार्यों ने अलंकार का इतना व्यापक क्षेत्र बना दिया था और उसी को काव्य का सर्वस्व मानने लगे थे। पर

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २३२, २३३
२ हिन्दी रीति साहित्य —डा० भगीरथ मिश्र—पृष्ठ ३१

आगे चलकर मम्मट, आनन्दवर्धनाचार्य और विश्वनाथ आदि के सत्प्रयत्नों से यह भेद स्पष्ट हो गया और उन्होंने साहित्य शास्त्र को एक व्यवस्थित और समुन्नत रूप प्रदान किया। यद्यपि यह कार्य केशवदास के समय तक हो चुका था, पर केशवदास अपनी मनोवृत्ति के कारण प्राचीन आचार्यों के मत को ही हृदयंगम कर पाए, नवीन आचार्यों का अनुसरण उन्होंने नहीं किया।

परन्तु केशवदास के उपरान्त चिन्तामणि के साथ-साथ हिन्दी रीति ग्रंथकारों की जो परम्परा चली, उनमें सभी ने नव्य आचार्यों का ही अनुसरण किया। काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में तो इन कवियों ने रस की प्रधानता मानने वाले मम्मट और विश्वनाथ को अपना आधार बनाया और अलंकारों के निरूपण में अधिकतर उन्होंने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का अनुसरण किया। अत: हिन्दी की रीति परम्परा का मूल आधार और आदर्श ही केशवदास के आधार एवं आदर्श से सर्वथा भिन्न है।

ऐसी स्थिति में जबकि केशवदास और उनके परवर्ती लेखकों का मूल आधार और आदर्श ही भिन्न है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि हिन्दी के रीति ग्रन्थ केशवदास से प्रभावित हैं।

केशवदास ने अपनी 'कविप्रिया' में जो कुछ भी निरूपण किया उसकी और विशेषकर अलंकार वर्णन की छाया भी हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में नहीं दिखाई पड़ती। केशव ने 'सामान्य' और 'विशेष' के नाम से अलंकारों के जो दो भेद किए थे, उनका किसी भी परवर्ती लेखक ने कहीं उल्लेख तक नहीं किया है, उनके विवेचन की बात तो दूर रही। अलंकारों का जो क्रम केशव में पाया जाता है, उससे भिन्न क्रम को ही आगे के कवियों ने अपनाया जो प्राय: कुवलयानन्द के अनुकरण पर हैं। इसी प्रकार अर्थालंकारों का जो वर्गीकरण केशव में मिलता है उसकी भी कहीं चर्चा तक नहीं मिलती और न उसके ऊपर किसी भी कवि ने किसी प्रकार की टिप्पणी, सहमति या असहमति ही दिखायी है।

अलंकारों की जो संख्या केशव में मिलती है, वह दण्डी के आदर्श पर है। दण्डी की भांति केशवदास ने ३६ अलंकारों का ही निरूपण किया है जबकि देव को छोड़कर अन्य सभी परवर्ती हिन्दी आचार्यों ने १०० से अधिक अलंकारों की विवेचना की है। देव ने भी 'शब्द रसायन' में सत्तर अलंकारों (४० मुख्य और ३० गौण) का वर्णन किया है।

इन सब बातों के अतिरिक्त किसी भी हिन्दी आचार्य ने अपने ग्रन्थों में कहीं

पर भी केशवदास का नाम स्मरण तक नहीं किया है और न कहीं किसी रूप में उनका कोई उल्लेख ही किया है, प्रत्युत कतिपय लेखकों (श्रीपति आदि) ने उनके शास्त्रीय विवेचन में दोष ही निकाले हैं। डा० रामशंकर शुक्ल के निम्नलिखित शब्द इस दिशा में विचारणीय हैं[1] :—

"It is also a fact that Keshava, a great master or writer of poetics with sufficient originality could not attract people to follow him. There is hardly to be found any poet or Scholar of Hindi who is ready to recognise the authority and accepts his view on poetics, (not to say this, scholars like Shripati have criticised him and have tried to show his work on poetics as faulty)".

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी भी रूप में हिन्दी के अलंकार ग्रन्थों में उनकी कोई छाया तक लक्षित नहीं होती हैं, तब उन पर उनका प्रभाव कैसे कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हिन्दी में काव्य शास्त्र के विषयों पर लक्षण उदाहरणपूर्ण ग्रन्थ लिखने की जो परम्परा चली उसका बहुत कुछ श्रेय केशवदास जी को ही है। परवर्ती लेखकों पर भले हीं उनका प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु उनकी 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' को कवि लोग और बड़े बड़े आचार्य तक पढ़कर ही ग्रन्थ लिखने का साहस करते थे[2]। अतः इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य जगत में केशव का बड़ा महत्व और सम्मान है।



हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थ और उनका आधार

पिछले अध्याय में किए गए हिन्दी अलंकार ग्रन्थों के विश्लेषण से विदित होता है कि उनमें मौलिकता का सर्वथा अभाव है, यदि कहीं कुछ मौलिकता है भी तो नाम मात्र को। पर यह मौलिकता भी न तो किसी नवीन सिद्धांत के आविर्भाव की द्योतक है और न किसी प्राचीन सिद्धान्त के किसी नवीन वैज्ञानिक पद्धति द्वारा समर्थन करने की ही परिचायिका है। अतः इस मौलिकता द्वारा हमें अपने हिन्दी अलंकार ग्रन्थों की किसी विशेष प्रतिभा या आचार्यत्व-शक्ति का परिचय नहीं मिलता है। सत्य तो यह है कि संस्कृत आचार्यों ने इस क्षेत्र में इतना अधिक कार्य कर दिया था, जिससे उसमें नवीनता लाने के लिये कोई अवसर शेष नहीं रह गया था।

---

१. Evolution of Hindi Poetics. डा० रामशंकर शुक्ल।

२. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास—डा० भगीरथ मिश्र पृष्ठ ५४।

फलतः हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में हमें कोई विशेष नवीनता दृष्टिगोचर नहीं होती। आवश्यकता केवल इस बात की थी कि इन संस्कृत-अलंकार-ग्रन्थों का परिचय हम हिन्दी भाषा भाषियों को हो जाय। जान पड़ता है इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हमारे हिन्दी आचार्यों ने प्रयत्न किया और उसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रयत्न में विशेषता इतनी ही पाई जाती है कि हिन्दी के अलंकार-ग्रन्थ संस्कृत ग्रन्थों के पूर्णतया अनुवाद मात्र नहीं हैं। लक्षणों में अवश्य उन ग्रन्थों की छाया विद्यमान है, पर उदाहरण उनके अपने ही हैं जिनमें उनकी कवित्व शक्ति के पूर्ण दर्शन होते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं वे संस्कृत उदाहरणों के अनुवाद रूप अथवा छायानुवाद रूप में भी पाये जाते हैं।

जहाँ तक अलंकारों के नाम भेद, क्रम, और वर्णन शैली का प्रश्न है, वे सब संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर ही स्थित हैं। इस दिशा में हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों में कोई विशेषता या नवीनता नहीं है! यद्यपि कहीं-कहीं कुछ नए आविष्कृत अलंकारों का भ्रम लोगों को होता है, पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उनका यह भ्रम दूर हो जाता है। जैसे भूषन के 'भाविक छवि' को कुछ लोगों ने नवीन अलंकार बताया है, पर वास्तव में वह 'भाविक' का ही एक भेद अथवा उसका परिवर्धित रूप है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'भाविक' का सम्बन्ध कालगत दूरी से होता है और उसका देशगत दूरी से, फिर चन्द्रालोक में भी इस का वर्णन पाया जाता है। दास के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़ने वाले भेदों में से चार तो भेदों के भिन्न भिन्न योग हैं और पाँचवां 'संभावनातिशयोक्ति' 'सम्बंधातिशयोक्ति' ही है। इनका 'सिंहावलोकन' शब्दालंकार भी वास्तव में कोई नवीन अलंकार नहीं है। उसे वस्तुतः 'अनुप्रास' का ही भेद कहा जा सकता है। इसी प्रकार रघुनाथ बन्दीजन के 'सम्बन्धातिशयोक्ति' के जो तीन भेद 'जोग में अजोग', और 'अजोग में जोग' तथा 'जोगाजोग' मिलते हैं, उनमें प्रथम दो तो कुवलयानन्द में हैं ही, तीसरा भेद दोनों का योग करके बना लिया गया है। तात्पर्य यह है कि ये नवीन दिखाई पड़ने वाले अलंकार या भेद वास्तव में मौलिक नहीं हैं। या तो उन्हें एक दूसरे के साथ सम्बन्धित करके नवीन रूप दे दिया गया है अथवा उनका कोई नवीन नामकरण कर दिया गया है। वस्तुतः उनमें नवीनता है ही नहीं। उनका कहीं न कहीं अन्तर्भाव हो जाता है।

अलंकारों की संख्या और भेदों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। कुवलयानन्द के समय तक अलंकारों की संख्या १२४ तक पहुँच ही चुकी थी। हिन्दी आलंकारिकों ने इस संख्या को आगे बढ़ाने में कोई विशेष योगदान नहीं किया। अलंकारों के भेद भी इसी प्रकार संस्कृत - ग्रन्थों के अनुसार ही रहे, उनमें

कोई विशेष वृद्धि हिन्दी-अलंकार-ग्रंथों में नहीं दिखाई पड़ती।

इन सब उपर्युक्त बातों से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-अलंकार-ग्रंथों में कोई अपनी कहलाने वाली वस्तु नहीं है। जो कुछ भी है वह संस्कृत ग्रन्थों से ही उधार ली हुई है। अतः यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं हो सकता कि हिन्दी के अलंकार - ग्रन्थ - संस्कृत - साहित्य के बहुत अधिक ऋणी हैं। पर इस ऋण को स्वीकार करने में हिन्दी साहित्य का मान कम नहीं हो सकता। क्योंकि यह वस्तु हिन्दी को संस्कृत-भाषा की ज्येष्ठ पुत्री होने के कारण दाय रूप में ही प्राप्त हुई है, जो लौकिक दृष्टि से समुचित ही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी के अलंकार-ग्रंथ संस्कृत-साहित्य से पूर्णतया प्रभावित हैं और उन्हीं का आधार लेकर उन ग्रन्थों की रचना हुई है।

शुद्ध अलंकार–ग्रंथों का आधार प्रमुखतया चन्द्रालोक और कुवलयानन्द ही हैं। इन संस्कृत-ग्रंथों की वर्णन शैली इतनी संक्षिप्त, सरल और स्पष्ट है कि उसे बड़ी सरलता के साथ ग्रहण किया जा सकता है। साथ ही इन ग्रंथों में विशेषकर कुवलयानन्द में अलंकारों का (अर्थालंकारों का) विशद और विस्तृत वर्णन भी हुआ है। प्रायः सभी अर्थालंकारों का उनके भेदों सहित विस्तृत विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है। अतः अर्थालंकार सम्बन्धी सभी सामग्री मिल जाने के कारण और विशेषकर उसकी संक्षिप्त एवं स्पष्ट शैली के कारण हिन्दी के सभी आलंकारिकों का ध्यान इसी ग्रन्थ पर केन्द्रित हो गया। कुवलयानन्द की ओर विशेष रूप से हिन्दी वालों का ध्यान आकर्षित होने का एक कारण यह भी है कि उसमें सिद्धान्त सम्बन्धी कोई तर्क-वितर्क अथवा खंडन-मंडन भी नहीं है, जिसके झमेले में पड़ने से लेखकों को किसी असुविधा का सामना करना पड़ता और हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थ-कर्त्ता इस प्रकार के किसी वाद-विवाद में पड़ना भी नहीं चाहते थे यह बात उनके ग्रन्थों से स्पष्ट जानी जा सकती है। यदि ऐसा होता तो इन लोगों ने अवश्य इस प्रकार के अन्य संस्कृत-ग्रन्थों, काव्यादर्श, काव्यप्रकाश आदि को मुख्य रूप से अवश्य ही अपना आधार ग्रन्थ बनाया होता, अपने ग्रन्थों में उसका कुछ न कुछ विवेचन भी किया होता। अतः अपनी सरलता, सुविधा और अपने समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी आचार्यों ने इन ही ग्रन्थों से अपनी सामग्री ग्रहण की है।

हिन्दी अलंकार ग्रन्थों में वर्णित अलंकारों के नाम, भेद, क्रम और वर्णन शैली आदि सभी कुछ उसी रूप में उपलब्ध होता है जिस रूप में वह कुवलयानन्द में प्राप्त है। अधिकांश ग्रंथों में अलंकारों के लक्षण कुवलयानन्द के श्लोक जैसे छोटे छंद के समान दोहा छन्द में ही लिखे गये हैं। अनेक ग्रन्थों में तो कुवलयानंद की

ही भांति छन्द के अर्ध भाग में लक्षण और दूसरे अर्ध भाग में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर दिया गया है। इस दृष्टि से जसवंत सिंह का 'भाषा-भूषण', सूरति मिश्र का 'अलंकारमाला', गोप कवि का 'रामचन्द्र भूषण' रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय' आदि ग्रन्थ दृष्टव्य हैं। इसी प्रकार प्रायः सभी हिन्दी ग्रन्थों में कुवलयानंद की ही भांति अर्थालंकारों को ही विशेष महत्व दिया गया है, उन्हीं का भेदों सहित विवेचन किया गया है। शब्दालंकारों को या तो बिल्कुल छोड़ दिया गया है देखिए (ललित ललाम, अलंकार चन्द्रोदय, रसिकमोहन, अलंकार दर्पण, पद्माभरण आदि) या उनका वर्णन बिल्कुल चलताऊ ढंग से किया गया है (देखिए :— भाषाभूषण, शिवराजभूषण, आदि) इतना ही नहीं, कुवलयानन्द में वर्णित रसवदादि पन्द्रह अलंकारों का विवेचन भी बाद के हिन्दी–अलंकार–ग्रन्थों में हुआ है।

इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दी के शुद्ध कहलाने वाले अलंकार ग्रन्थ विषय, वर्णन शैली आदि सभी दृष्टियों से चन्द्रालोक और कुवलयानंद से प्रभावित हैं। किन्हीं किन्हीं लेखकों ने तो अपने शब्दों में इन ग्रंथों के ऋण को स्वीकार भी किया है। देखिए :—

१—रसिक कुवलयानन्द लखि, असि मन हरष बढ़ाय।
अलंकार चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाय ।। अ० चन्द्रोदय-रसिक सुमति

२—तेहि नारायण ईस को, करि मन मांह समर्ण।
रीति कुवलयानन्द की, कीन्हीं भाषा भर्ण ।। भाषा-भरण-बैरीसाल

३—कुछ लेखकों ने अप्रत्यक्ष रूप में इसका कथन किया है। जैसे :—

(अ) संसकिरित को अर्थ ले, भाषा शुद्ध विचार।
उदाहरण क्रम ए किये, लीजो सुकवि सुधार।। ललित ललाम-मतिराम

(ब) अलंकार सब्दार्थ के, कहै एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा विसें, देखि संस्कृत पाठ ।। भाषाभूषण-जसवंतसिंह

ये 'संसकिरित को अर्थ' और 'संस्कृत पाठ' भी चन्द्रालोक और कुवलयानंद की ओर ही संकेत करते हैं।

कहीं कहीं लेखकों ने बीच बीच में उन ग्रन्थों का सन्दर्भ देते हुए इस तथ्य की ओर संकेत किया है, जैसे :—

(अ) कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते ते कहीं,
लुपता ये आठों, आठों प्रहर मानिए।

(ब) परतच्छ प्रमुख प्रमान आठों अलंकार,
कुवलयानन्द में बखाने जग जाने हैं। क०कु०कं०—दूलहकवि

उपर्युक्त पंक्तियों में दिये गये कुवलयानन्द और चन्द्रालोक के संदर्भ इसी बात की घोषणा कर रहे हैं कि कवि ने इन ग्रंथों का अध्ययन किया था। अतः कवि के ग्रन्थ का उनसे प्रभावित होना स्वभाविक ही है। इस प्रकार यह निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि शुद्ध- अलंकार-ग्रंथ चन्द्रालोक और कुवलयानन्द को आधार मानकर लिखे गये हैं और उन्हीं का सर्वाधिक प्रभाव हिन्दी-ग्रंथों पर पड़ा है।

अधिकांश मिश्रित -अलंकार - ग्रंथ भी, जहां तक उनके अलंकार वर्णन का सम्बन्ध है, चन्द्रालोक और कुवलयानन्द से ही प्रभावित हैं (देखिए-भाषाभूषण, रसिक रसाल आदि) परंतु अलंकार के अतिरिक्त अन्य विषयों की दृष्टि से वे मम्मट के काव्य प्रकाश और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से अधिक प्रभावित हैं। चिन्तामणि का 'कविकुलकल्पतरु', कुलपति मिश्र का 'रस रहस्य', सूरति मिश्र का काव्य सिद्धान्त, श्रीपति का काव्य सरोज, सोमनाथ का रसपीयूषनिध, भिखारीदास का 'काव्य निर्णय' तथा रणधीर सिंह का 'काव्य रत्नाकर' आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। कतिपय आचार्यों ने स्वयं अपने शब्दों में इस बात का उल्लेख किया है :—

१—लषि गति चन्द्रालोक अरु, काव्य प्रकाश सुदीप्त।
औरो भाषा ग्रन्थ बहु, ताको संगत गीत॥
काव्य रीति जितनी प्रकट, आनि करी इक ठौर।
इतनोई पढ़ि बूझि है, सकल काव्य को तौर॥ काव्य रत्नाकर।

२—जिते साज है कवित के, मम्मट कहै बखान।
ते सब भाषा में कहै, रस रहस्य में आन॥ रस रहस्य॥

३—बूझि सु चन्द्रालोक अरु, काव्य प्रकासहुँ ग्रंथ।
समुझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरो कवि पंथ॥ १५॥
का० नि० — भिखारी दास।

चिन्तामणि जैसे कुछ आचार्यो ने प्रारम्भ में तो सामान्य रूप से ही कथन करके और बीच बीच में संस्कृत आचार्यों के भागों को उद्धृत करके उनके ऋण को स्वीकार किया है :—

१—जो सुरबानी ग्रंथ हैं, तिनको समुझ विचार।
चिंतामनि कवि कहत हैं, भाषा कवित विचार॥
सिद्धासिद्धास्पद बहुरि, द्विविध और निरधारि।
सुभग कुवलयानन्द में यह, क्रम कियो विचारि॥
मम्मट अचारज इहां, ऐसो कियो विवेक।
परिसंख्यालंकार को, समझौ पंडित एक॥
यों उत्प्रेक्षा में कियो, विद्यानाथ प्रकार॥ क० कु० क०—चिंतामणि

२—भाषा प्राकृत संस्कृत, देखि महाकवि पंथ ।
देवदत्त कवि रस रच्यो, काव्य रसायन ग्रंथ ।। शब्द रसायन—देव ।

इस उपर्युक्त कथन से स्पष्ट विदित होता है कि मिश्रित-अलंकार-ग्रन्थ कुवलयानन्द, चन्द्रालोक, और काव्यप्रकाश से अधिक प्रभावित हैं। यद्यपि हमारे आचार्यों ने साहित्यदर्पण का नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि काव्य के स्वरूप-निर्धारण और उपमा के श्रौती और आर्थी आदि भेदों के निरूपण में अवश्य ही उसका आधार ग्रहण किया गया है। देव कवि तो निश्चय ही केशवदास के माध्यम से संस्कृत आचार्य दण्डी द्वारा प्रभावित हैं। किन्हीं आचार्यों ने भोज के 'सरस्वती-कंठाभरण' तथा विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र-यशो-भूषण' आदि संस्कृत-ग्रन्थों से भी सहायता ली है।

अत: समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि हिन्दी के अलंकार-ग्रंथ मुख्यतया चन्द्रालोक, कुवलयानन्द, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण से प्रभावित हैं। यही उनके मुख्य आधार ग्रंथ हैं। परन्तु साथ ही काव्यादर्श, सरस्वती कंठाभरण, प्रताप-रुद्र-यशोभूषण आदि अन्य संस्कृत-ग्रन्थों से भी यत्र-तत्र सहायता ली गई है।

हिन्दी आलंकारिक और आचार्यत्व

रीतिकाल के भीतर हिन्दी साहित्य में रस, हाव, भाव, गुण दोष, रीति, अलंकार आदि काव्य के विविध अंगों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लक्षण ग्रन्थों की रचना तो अवश्य हुई परन्तु उनमें से किसी में भी आचार्यत्व गुण का प्रस्फुटन नहीं हुआ। हाँ, काव्य गुण उनमें सर्वत्र विद्यमान है। अत: शुक्ल जी का यह कथन कि "हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे[1]" सर्वथा सत्य और यथार्थ है।

वस्तुत: हिन्दी आलंकारिकों में आचार्यत्व के गुण ही नहीं थे। क्योंकि उन्होंने जो लक्षण प्रस्तुत किये हैं वे इतने अपर्याप्त हैं कि उनसे साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध नहीं हो पाता। अनेक स्थलों पर तो अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। कहीं कहीं उदाहरण भी उपयुक्त नहीं हैं। ऐसे उदाहरणों से अलंकार आदि का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। लक्षण और उदाहरण में कहीं कहीं इस प्रकार का सामञ्जस्य दृष्टिगोचर नहीं होता है। शब्द शक्ति पर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ २३४।

विशेष विवेचना नहीं की गई। दो चार कवियों ने ही इस विषय को लिया है और वह भी नाममात्र के लिए। फलतः तद्विषयक ज्ञान का होना तो दूर रहा, कहीं भ्रान्त धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। दृश्य-काव्य का निरूपण तो बिल्कुल ही छोड़ दिया गया।

संक्षेप में, कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों की विस्तृत विवेचना, तर्क द्वारा खण्डन-मण्डन, नए सिद्धांतों आदि का प्रतिपादन करना आदि वास्तव में उनका ध्येय ही नहीं था। उनका लक्ष्य तो अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिये कविता करना था। साथ ही अपने समय की परम्परा का पालन करना भी। अतः लक्षण-ग्रन्थों के रूप में उन्हें अपनी कवित्व-शक्ति का, (आचार्यत्व का नहीं) परिचय देने के लिए विवश होना पड़ा था।

संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति थे, पर हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया था। वहाँ एक ही व्यक्ति कवि और आचार्य दोनों का गौरव एक साथ प्राप्त करने के प्रयत्न में लग गया। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। आचार्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसका विकास हमारे कवियों में कवित्व और आचार्यत्व के एकीकरण के कारण नहीं हो सका। यही मुख्य कारण है कि रीतिकालीन आलंकारिक आचार्य की कोटि में नहीं आते, हाँ, कवियों की कोटि में उनकी गणना अवश्य होती है।

लक्षण-ग्रंथ लिखने की परम्परा हिन्दी को संस्कृत-साहित्य से ही प्राप्त हुई है। संस्कृत साहित्य के पाँच काव्य-सिद्धांतों, रस-सिद्धांत, अलंकार सिद्धांत, रीति-सिद्धांत, वक्रोक्ति-सिद्धांत और ध्वनि-सिद्धांत में प्रायः सभी का प्रभाव बहुत कुछ हिन्दी काव्यशास्त्र पर पड़ा है। परन्तु उनमें से किसी का भी शास्त्रीय विवेचन हिन्दी में नहीं हुआ है। रीति और वक्रोक्ति सिद्धांतों के विषय में तो कुछ भी नहीं लिखा गया। अलंकार, रस और ध्वनि-सिद्धांतों का विवेचन भी बहुत कम हुआ है। उनके लक्षण और उदाहरण देने का ही प्रयत्न अधिकतर किया गया है। रस के अन्तर्गत शृंगार रस और नायिकाभेद को ही अधिक महत्व दिया गया। समस्त रसों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने वाले हिन्दी-ग्रंथों की संख्या नगण्य ही है। अलंकार-सिद्धांत के अन्तर्गत भी अलंकारों का लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने का ही प्रयत्न सर्वाधिक हुआ है, परन्तु उसमें भी लक्षण वाला भाग तो प्रायः अस्पष्ट, अशुद्ध और अपूर्ण ही है। अलंकार का स्वरूप रूप लक्षण से उतना स्पष्ट नहीं होता है, जितना उदाहरण से। इसी प्रकार ध्वनि - सिद्धांत के विषय

में भी कहा जा सकता है कि इस सिद्धांत की पूर्ण व्याख्या करने वाले ग्रन्थ हिन्दी में नहीं के बराबर हैं। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी लेखकों का प्रमुख ध्येय काव्य-शास्त्र से अपना परिचय प्रकट करते हुए शास्त्रीय प्रणाली पर उदाहरणों के रूप में सुन्दर हिन्दी-काव्य-रचना करना था, काव्य-शास्त्र के विविध अंगों का विद्वत्तापूर्ण शास्त्रीय ढंग से विवेचना करना नहीं। इसके अनेक कारण हो सकते हैं।

रीतिकाल में लक्षण-ग्रंथों का निर्माण अधिकतर राज्याश्रय में ही हुआ। अतः हमारे कवियों को अपनी पद-प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना आवश्यक था। आश्रयदाता भी केवल अपने मनोरंजन के लिये ही हिन्दी काव्य चाहते थे, श्रेष्ठ साहित्य की रचना से उनका कोई विशेष प्रयोजन न था। इसी कारण उनकी भी शास्त्रीय रचना में कोई रुचि न थी। अतः कवि लोग अधूरे लक्षण देकर आश्रयदाताओं की प्रशंसा से युक्त अथवा रसिकता एवं मनोरंजन के भावों से पूर्ण उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत करते थे जिनसे उनकी ख्याति और दरबारों में उनकी आवश्यकता बनी रहे। फलतः उनके उदाहरणों में कवित्व-चमत्कार तो अवश्य देखने को मिलता है, पर लक्षणों में गम्भीरता अथवा शास्त्रीय विवेचन के दर्शन नहीं होते।

इससे पूर्व जो काव्य धाराएँ प्रवाहित हुई थीं, उनके अन्तर्गत कविगण या तो वीरों और राजाओं की वीरता और गुणों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते थे, अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से भक्ति, नीति और उपदेश आदि से सम्बंधित रचनाएँ करते थे। उनमें से किसी को भी शुद्ध काव्य की धारा नहीं कहा जा सकता। इन धाराओं में स्वच्छन्द कवियों को अपनी रुचि का प्रकाशन करना सम्भव नहीं था। अतः रीतिकाल में शुद्ध शास्त्रीय प्रणाली पर काव्य - रचना की पद्धति डाली गई और इस पद्धति ने उस युग में अपनी एक परम्परा बना ली। परिणाम यह हुआ कि इस युग के कवि इसी परम्परा का पालन करने में लगे रहे। क्योंकि इस परम्परा में प्रत्येक प्रकार की रुचि रखने वाले को अपने मनोनुकूल काव्य-रचना का अवसर प्राप्त हो सकता था। परन्तु कवियों ने अपने कवित्व का प्रदर्शन करने के लिए ही इस परम्परा को अपनाया, मौलिक तथा गम्भीर शास्त्रीय विवेचन के हेतु नहीं।

एक बात और है, संस्कृत के विद्वान आचार्यों ने काव्य-शास्त्र के एक या एकाधिक अंगों को लेकर इतनी विस्तृत और विशद व्याख्या कर डाली थी कि हिन्दी कवियों को उन विषयों पर लिखने के लिये कोई नवीन सामग्री शेष नहीं रह गई थी जिससे वे संस्कृत के विद्वानों की विवेचना को आगे बढ़ाते अथवा उसकी कोई मीमांसा करते।

इसी के साथ साथ हिन्दी में लिखने वाले सभी काव्य शास्त्रियों को संस्कृत साहित्य का पूर्ण ज्ञान भी नहीं था। अतः उन्हें जो कुछ भी थोड़ा बहुत पठित या श्रुत ज्ञान प्राप्त था उसी का लेकर अपने लक्षण-ग्रंथों की रचना में वे प्रवृत्त हो जाते थे। फलतः उनके लक्षण अधूरे और अपूर्ण रह गये और उनका शास्त्रीय विवेचन भी वे नहीं कर सके।

साथ ही शास्त्रीय विवेचन में विषय का प्रतिपादन करने के लिए तर्क द्वारा खण्डन - मण्डन की भी आवश्यकता पड़ती है और इसके लिए गद्य ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। पद्य में तक-वितर्क और खण्डन-मण्डन तथा युक्तियों द्वारा विषय का प्रतिपादन करने की क्षमता नहीं होती। गद्य-रचना करने की कोई प्रणाली इस युग में प्रचलित भी न थी। अतः गद्य के अभाव में भी शास्त्रीय ढंग से काव्यांगों की मीमांसा करना सम्भव न था।

इन्हीं सब उपर्युक्त कारणों से हिन्दी–साहित्य–शास्त्र में तर्क-वितर्क अथवा खण्डन-मण्डन से युक्त किसी भी काव्यांग का शास्त्रीय विवेचन नहीं मिलता है और न उसके रचयिता आलंकारिकों में भी उसके अनुकूल कोई पर्यालोचना-शक्ति या शास्त्रीय प्रतिभा के ही दर्शन होते हैं। यही कारण है कि हिन्दी के आलंकारिक आचार्य की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते। हाँ, उनकी गणना अच्छे कवियों में अवश्य की जा सकती है। उनकी कवित्व शक्ति का परिचय अवश्य ही हमें उनके उदाहरणों में मिल जाता है, जिनमें गृहस्थ-जीवन, प्रेम और सौन्दर्य आदि के अनेक कवित्वपूर्ण चित्र विद्यमान हैं।



हिन्दी-अलंकार-ग्रन्थों की विशेषताएं

यह हम दिखा चुके हैं कि हिन्दी के अलंकार-ग्रंथ हमें दो रूपों में मिलते हैं, एक तो शुद्ध-अलंकार-ग्रन्थ, जिनमें केवल अलंकारों का ही विवरण है और दूसरे मिश्रित-अलंकार ग्रंथ, जिनमें अलंकारों के साथ अन्य काव्यांगों का भी विवेचन है।

इन अलंकार - ग्रंथों में लक्षण प्रायः दोहे में हैं और उदाहरण दोहा, कवित्त, सवैया तथा छप्पय आदि छंदों में। कहीं कहीं तो एक ही दोहे के पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्ध में उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। लक्षण अधिकांशतः अस्पष्ट और अपूर्ण हैं। इस अस्पष्टता और अपूर्णता का कारण है संस्कृत का अपूर्ण ज्ञान तथा चन्द्रालोक और कुवलयानन्द की संक्षिप्त शैली का अनुसरण। संक्षिप्त शैली

अपनाने के कारण ही अलंकारों का स्वरूप प्रायः स्पष्ट नहीं हो पाया है। कहीं-कहीं संस्कृत के अपूर्ण ज्ञान के कारण संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद भी अपूर्ण रह गया। फलतः लक्षण भी अपूर्ण रह गए और उनमें एक प्रकार की शिथिलता आगई। अलंकार का स्वरूप, इस प्रकार लक्षणों से उतना स्पष्ट नहीं हो पाता जितना उसके उदाहरण से होता है।

उदाहरण वैसे तो स्पष्ट हैं, पर कहीं कहीं अस्पष्टता भी पाई जाती है। लक्षण और उदाहरण में कहीं कहीं सामंजस्य का भी अभाव पाया जाता है। उदाहरण के लिए कुछ को छोड़कर अधिकांश कवियों ने बड़े छंदों का ही प्रयोग किया है। इस कारण उसके सभी चरण अलंकार के स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाते, अन्तिम चरण में ही प्रायः उसका स्पष्टीकरण निहित रहता है। फलस्वरूप अन्य चरण भरती मात्र जान पड़ते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभी कवियों ने ऐसा किया है। दास, रघुनाथ आदि कवियों के उदाहरण पूर्णतया स्वस्थ एवं शुद्ध हैं और उनके उदाहरणों का प्रत्येक चरण अलंकार के स्वरूप को व्यक्त करने में समर्थ है।

हिन्दी-अलंकार-ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता उनके उदाहरणों में ही निहित है। शास्त्रीय दृष्टि से भले ही उनका विशेष महत्व न हो, पर कवित्व की दृष्टि से अवश्य ही उनका मूल्य है। उनमें ग्रहस्थ जीवन, प्रेम और सौंदर्य के बड़े अच्छे मनमोहक चित्र अंकित हुए हैं। यद्यपि उनमें अलंकारादि का चमत्कार विशेषरूप से पाया जाता है, पर भावुकता एवं सहृदयता की भी उनमें कमी नहीं है। भाषा की दृष्टि से अनुप्रास की छटा, ब्रज भाषा का माधुर्य एवं लालित्य दर्शनीय है।

हिन्दी-अलंकार-ग्रंथों में चमत्कार-प्रियता को अधिक महत्व दिया गया है। उनके उदाहरणों में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं जिसमें शब्द क्रीड़ा का गोरखधंधा दृष्टिगोचर होता है। जगतसिंह की 'चित्र मीमांसा' और काशीराज की 'चित्र चन्द्रिका' में यह गोरख धंधा अपनी पूर्णता को पहुंच गया है। वैसे तो भिखारीदास आदि ने भी चित्र काव्य का विवेचन किया है, परन्तु इस प्रसंग को अपने ग्रंथ में समाविष्ट करने का उद्देश्य था काव्य प्रसंग को सर्वांगपूर्ण बनाना। अन्यथा चित्र काव्य को ये लोग अधम काव्य ही मानते थे।

सभी हिन्दी-अलंकार-ग्रंथ रीति काल की एक ही परिपाटी को लेकर चले हैं। उनमें उस परम्परा का पालन विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। ऐसा जान पड़ता है कि उस युग में शास्त्रीय काव्य-पद्धति पर रचना किए बिना किसी

कवि को गौरव अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हो सकती थी। इसीलिए कविलोग दोहों में लक्षण देने के पश्चात् ही कवि कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। यही कारण है कि इन ग्रंथों में न तो काव्यांगों का ही विस्तृत एवं शास्त्रीय विवेचन किया जा सका और न मुक्तक काव्य के अतिरिक्त प्रबन्ध काव्यों या महाकाव्यों की ही रचना हो सकी और न दृश्य काव्यों का ही निर्माण हुआ। शास्त्रीय विवेचन के लिये जिस तर्क-वितर्क तथा खण्डन-मण्डन की अपेक्षा होती है उनका भी इन ग्रन्थों में सर्वथा अभाव है। ऐसा लगता है कि हमारे कवियों में न तो पर्यालोचन करने की ही शक्ति थी और न उनमें कोई मौलिक प्रतिभा ही थी। यही कारण है कि इन ग्रंथों में हमें किसी नवीनता या मौलिकता के दर्शन नहीं होते। उनमें न तो किसी नवीन वाद या सिद्धांत की ही प्रतिष्ठा है और न संस्कृत साहित्य शास्त्र के पांच सिद्धांतों में से किसी की मीमांसा करके उसे आगे बढ़ाने का प्रयत्न ही।

शुद्ध कहलाने वाले अलंकार ग्रंथों में अलंकारों का ही निरूपण हुआ है और उसमें भी अर्थालंकारों को विशेष महत्व प्रदान किया गया। ऐसे अधिकतर ग्रंथों में शब्दालंकारों को बिलकुल छोड़ दिया गया है और जहां उनका वर्णन हुआ भी है वहाँ वह बहुत ही संक्षिप्त और चलताऊ ढंग से किया गया है। मिश्रित अलंकार ग्रंथों में भी अलंकारों के वर्णन को ही विशेष स्थान दिया गया है। भाषाभूषण तथा काव्यनिर्णय आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं। इनमें भी अर्थालंकारों को प्रधानता दी गई है। काव्यनिर्णय में अवश्य शब्दालंकारों का विवेचन कुछ विशेष रूप से किया गया है। यहाँ चित्रालंकार का वर्णन भी विस्तार के साथ हुआ है। अन्य ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा की गई है।

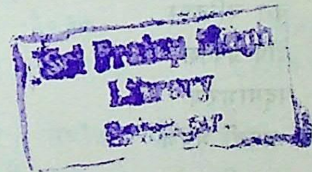
इस प्रकार इन अलंकार-ग्रंथों में शब्दालंकार का महत्व अर्थालंकार की अपेक्षा अनुपात से बहुत कम है। भाषाभूषण, अलंकार दर्पण आदि ग्रंथों में तो अनुप्रास को छोड़कर अन्य शब्दालंकारों का उल्लेख भी नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन कवियों के आधार ग्रन्थों चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में भी शब्दालंकारों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है। कुवलयानन्द में तो शब्दालंकारों को बिल्कुल छोड़ दिया गया है।

मिश्रित ग्रन्थों में अलंकारों के साथ अन्य काव्यांगों का विवेचन हुआ है। उसमें भी शृंगार रस और उसके आलंवन आश्रय नायक नायिका का वर्णन विशेष रूप से विस्तार के साथ हुआ, अन्य रसों की चर्चा संक्षेप में ही कर दी गई। इसके अतिरिक्त अन्य अंगों का वर्णन भी चलताऊ ही है। वहाँ भी विस्तार की कमी है। शब्द शक्ति पर बहुत ही कम ग्रंथों में चर्चा की गई है, और जो कुछ भी की गई है वह विषय की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है और उसमें भी भ्रान्त धारणा होने की अधिक सम्भावना है।

इन सभी ग्रंथों में उपमालंकार को अधिक महत्व दिया गया है और प्रायः अधिकांश ग्रंथों में अलंकार वर्णन उपमालंकार के विवेचन से ही प्रारम्भ होता है। उपमा के कहीं कहीं अनेक भेद बताए गए हैं, पर अधिकतर लेखकों ने मूल अलंकार का ही वर्णन किया है। उसके अनेकानेक भेदों की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई।

प्रायः सभी अलंकार - ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों से प्रभावित हैं। किसी न किसी संस्कृत ग्रन्थ का आधार लेकर उनकी रचना हुई है। अतः उनमें नवीनता ढूंढने का प्रयास व्यर्थ है। कतिपय ग्रंथ तो ऐसे लगते हैं मानो संस्कृत ग्रंथों के भाषान्तर मात्र हों। लक्षण तो संस्कृत ग्रंथों से प्रभावित हैं ही, कहीं कहीं उदाहरण भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रह पाए। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी-अलंकार-ग्रंथों के प्रायः सभी लेखक संस्कृत से भिज्ञ थे। भले ही उनका यह संस्कृत ज्ञान अपूर्ण रहा हो अथवा स्वोपार्जित या श्रुत हो।

इन अलंकार ग्रंथों के द्वारा हिन्दी में मुक्तक काव्य की श्रीवृद्धि तो हुई ही, पर साथ ही हिन्दी के काव्य शास्त्र की समृद्धि भी हुई। अन्यथा बहुत ही सम्भव था कि हमारे साहित्य का यह अंग अधूरा और अपूर्ण रह जाता।



सहायक - ग्रन्थ

(अ) हिन्दी के मुद्रित अलंकार ग्रन्थ

ग्रंथ	लेखक
१. अलंकार दर्पण	महाराज रामसिंह
२. अलंकार मणि मंजरी	ऋषिनाथ
३. कर्णाभरण	गोविन्द कवि
४. कविकुल कण्ठाभरण	दूलह कवि
५. कविकुल कल्पतरु	चिन्तामणि
६. कविप्रिया	केशवदास
७. काव्य निर्णय	भिखारीदास
८. काव्यरसायन	देव कवि
९. चेत चन्द्रिका	गोकुल नाथ
१०. दीप प्रकाश	ब्रह्म दत्त
११. पद्माभरण	पद्माकर
१२. भारती भूषण	गिरिधरदास
१३. भाव विलास	देव कवि
१४. भाषा भूषण (सम्पादित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र सम्वत् १९९०)	जसवन्तसिंह
१५. भूषण ग्रन्थावली	भूषण
१६. मतिराम ग्रन्थावली (सम्पादित कृष्णबिहारी मिश्र, सम्वत् १९८३)	मतिराम
१७. रसिक मोहन	रघुनाथ कवि
१८. रसिक प्रिया	केशवदास
१९. रसिक रसाल	कुमार मणि
२०. रस रहस्य	कुलपति मिश्र
२१. ललित ललाम	मतिराम
२२. शिवराज भूषण	भूषण
२३. हिततरंगिणी	कृपा राम

(आ) हस्तलिखित अलंकार-ग्रन्थ

ग्रंथ	ग्रंथ संख्या	लेखक
(क) नागरी-प्रचारिणी-सभा, वाराणसी के सौजन्य से प्राप्त :--		
१. अलंकार चन्द्रोदय	९६-१६	रसिक सुमति
२. कविता रस विनोद	९७-२५	जनराज
३. तुलसी भूषण	२६२४-१५६७	रसरूप
४. रघुनाथ अलंकार	९१-५५	सेवादास
५. रस रहस्य	: ५३ क-१७ :	कुलपति मिश्र
६. रूपविलास	९०-२५	रूपसाहि
(च) साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के सौजन्य से प्राप्त :--		
१. अलंकार माला	१४५८-२५७३	सूरति कवि
२. काव्योदय	१३४९-२११८	लीलाधर
३. कण्ठाभरण	७५६-८६०	दूलह
४. भूषणदाम	१३४९-२११९	खण्डन कवि
५. रघुवीर जसायन	१५८०-३०३७	जगन्नाथ
६. साहित्य सुधा निधि	१६१७-३१३१	सरदार कवि

(ट) कृष्ण बिहारी मिश्र पुस्तकालय, गंधौली [सिंधौली - सीतापुर उ० प्र०] से श्री विपिन बिहारी मिश्र के सौजन्य से प्राप्त :—

ग्रंथ	लेखक
१. अलंकार रत्नाकर	दलपतिराय वंशीधर
२. काव्याभरण	चन्दन
३. कविकुलकलपतरु (लीथो में मुद्रित)	चिन्तामणि
४. भाषा भरण	वैरीसाल

(त) श्री डा० ब्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ के सौजन्य से प्राप्त :—

ग्रंथ	लेखक
१. काव्य सरोज	श्रीपति
२. रस-पीयूष-निधि	सोमनाथ
३. शृंगार चरित्र	देवकीनन्दन
३. साहित्य-सुधा-निधि	जगतसिंह

(इ) मुद्रित सन्दर्भ - ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक
१. अलंकार पीयूष	डा० रामशंकर शुक्ल रसाल
२. उत्तर मध्यकालीन भारत	डा० अवध बिहारी पाण्डेय, डी० फिल०
३. काव्य कल्प द्रुम	कन्हैया लाल पोद्दार
४. भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विकास	बी० एन० लूनिया
५. भारतीय साहित्य शास्त्र (प्रथम-खण्ड)	डा० बलदेव उपाध्याय
६. मिश्रबन्धु विनोद (भाग १ संस्करण १६८३-१९६४)	मिश्रबन्धु
७. वही (भाग २ संस्करण १६८४)	मिश्रबन्धु
८. रीति काव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र
९. शिवसिंह सरोज (सातवां संस्करण सन् १९२६)	शिवसिंह
१०. हिन्दी काव्यालंकार सूत्रवृत्ति	डा० नगेन्द्र
११. हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्	डा० नगेन्द्र
१२. हिन्दी अलंकार साहित्य	डा० ओम प्रकाश
१३. हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य	डा० सत्यदेव चौधरी
१४. हिन्दी साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
१५. हिन्दी भाषा और साहित्य	डा० श्यामसुन्दर दास
१६. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
१७. हिन्दी रीति साहित्य	डा० भगीरथ मिश्र

(ई) संस्कृत ग्रन्थ

ग्रंथ	लेखक
१. अलंकार शेखर	केशव मिश्र
२. अलंकार सूत्र (मंखक प्रणीत अलंकार सर्वस्वाख्य वृत्ति सहित द्वितीय संस्करण)	रुय्यक
३. एकावली (तरल टीका सहित)	विद्याधर
४. औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
५. काव्य प्रकाश (शशिकला व्याख्या समेत)	मम्मट
६. काव्य मीमांसा	राजशेखर
७. काव्यादर्श	दण्डी
८. काव्यालंकार	भामह
९. काव्यालंकार (नमिसाधुकृत टिप्पणी समेत)	रुद्रट

ग्रन्थ	लेखक
१०. काव्यालंकार संग्रह (प्रतिहारेन्दुराज कृत लघुवृत्ति सहित)	उद्भट
११. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति	वामन
१२. कुवलयानन्द	अप्पय दीक्षित
१३. चन्द्रालोक	जयदेव
१४. ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
१५. नाट्यशास्त्र	भरतमुनि
१६. प्रतापरुद्रयशोभूषण (कुमारस्वामी कृत रत्नापण टीका समेत)	विद्यानाथ
१७. भट्टि काव्य	भट्टि
१८. वक्रोक्ति जीवितम्	कुन्तक
१९. सरस्वती कण्ठाभरण	भोज
२०. साहित्य दर्पण	विश्वनाथ

(उ) अंग्रेजी ग्रन्थ

ग्रन्थ	लेखक
१. आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी भाग ७ :	
२. इवोल्यूशन आफ हिन्दी पोइटिक्स	डा० रामशंकर शुक्ल रसाल
३. इवोल्यूशन आफ इण्डियन कलचर	बी० एन० लूनिया
४. एम्पायर आफ दी ग्रेट मोगल	जे० एस० हालैण्ड
५. न्यू इण्टरनेशनल डिक्शनरी	वैबस्टर
६. मुगल एम्पायर	ए० एल० श्रीवास्तव
७. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स	पी० काणे
८. पोइटिक्स	अरिस्टोटल
९. रिटोरिक्स	अरिस्टोटल
